अरुणरामायण

किरणकुंज प्रकाशन

अरुणरामायण

पोद्दार रामावतार अरुण

●

सहानुभूति :

प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी, श्रीसत्यनारायण सिंह, राज्यपाल, मध्यप्रदेश, स्व० आचार्य रामलोचनशरण, आचार्य पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आ. मेजर आर. पी. पोद्दार एवं श्री बी. एम. सिंह

★

प्रकाशक : किरणकुञ्ज प्रकाशन, समस्तीपुर (बिहार, भारत)

आवरण-शिल्पी नृपेन राय
मुद्रक केदारनाथ, एम. ए., बैद्यनाथ प्रेस, पटना-४
प्रकाशन वर्ष १९७३ ई०

मानस-चतुश्शताब्दिमहोत्सव

बिहार सरकार के सहयोग से प्रकाशित

मूल्य : बीस रुपये
पन्द्रह रुपये

ARUN RAMAYAN
BY : PODDAR RAMAVATAR ARUN

नाट्यकार

निवेदन

यदि क्षुण्ण पूर्वैरिति जहति रामस्य चरित
गुणैरेतावद्भिर्जगति पुनरन्यो जयति क:।

—मुरारि

(अर्थात्, पूर्व के कवियों ने रामचरित को जूठा कर दिया है, यदि इसलिए अर्वाचीन कवि रामचरित को अपनी रचना का आधार बनाना छोड़ दें, तो यह बतलाइए कि इतने गुणों से युक्त विश्व में कौन ऐसा चरित्र है, जिसको अपनी रचना का विषय बनाया जाय।)

भारतवर्ष ही नहीं, संसार के अनेक देश आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की रामायण के ऋणी हैं। अपनी कालजयी कृति के माध्यम से महाकवि ने उदात्त मानव-चरित्र और भारतीय संस्कृति का जो आदर्श उपस्थित किया, वह आज भी जन-जीवन के लिए प्रेरणादायक है। संस्कृत के उस आदि महाकाव्य ने देश और विदेश के काव्यकारों को इतना अधिक प्रभावित किया कि समय-समय पर अनेकानेक भाषाओं में रामकथा की मौलिक रचनाएँ होती रहीं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर अभी भी रामायण का व्यापक प्रभाव है। महाकवि कंबन की रामायण तमिल भाषा की प्रतिनिधि रचना है। गोस्वामी तुलसीदास का विश्व विख्यात 'रामचरितमानस' तो असंख्य जनता का कण्ठहार ही है। पूर्ण विकसित अवधी भाषा में लिखी गई वह रामकथा अपने आप में अद्भुत शक्ति से सम्पन्न है। उसके समान पवित्र काव्यग्रंथ कदाचित् दूसरा नहीं लिखा गया।

खड़ी बोली (हिन्दी) में भी राम-काव्य की अनेक रचनाएँ हुईं जिनमें स्वर्गीय राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' प्रमुख है। सचमुच वाल्मीकि की रामकथा में इतनी काव्यात्मक शक्ति है कि उसके प्राय सभी पात्र कालानुसार अपने आप को प्रकट कर नवीन चेतनाएँ प्रदान करते रहे हैं। 'हरि अनन्त, हरि-कथा अनन्ता'—यह कह स्वयं संत तुलसीदास ने भी यही सारस्वत संकेत दिया है।

तीस वर्षों तक अनवरत काव्य-लेखन के पश्चात् मेरे प्रौढ़वय कवि ने यह अनुभव किया कि 'देश-काल के अनुरूप हिन्दी (खड़ी बोली) में भी सम्पूर्ण रामायण की रचना की जा सकती है। इस घोर वैज्ञानिक और अनास्था के युग मे भी रामकथा के माध्यम से भारत अपना सास्कृतिक सन्देश सुना सकता है। यद्यपि रामायण का कथा-क्षेत्र मूलत भारतवर्ष ही है, फिर भी विश्व की प्रमुख विचार-धाराओ को यथासाध्य समाहित किया जा सकता है। वाल्मीकि और तुलसीदास की काव्य-वाणी मे भी कालधर्मी ग्रहण-शीलता है। साहित्य का शाश्वत प्रवाह युग के अनुकूल नया मोड लेता ही है।'—इस रचना के प्रारम्भ के पूर्व मेरे हृदय और मस्तिष्क मे कुछ इसी प्रकार की कल्पनातरगें उठी किन्तु रामायण के विशाल पट-विस्तार को देख कर मै बहुत दिनो तक स्तब्ध रहा। कहाँ वाल्मीकि और तुलसी और कहाँ मै ! हिमालय के सामने एक साधारण टीला। हे राम, युगबोध ने मेरे मन-प्राणो मे ऐसी प्रेरणा क्यो भर दी ?

'अरुणरामायण'[१] के अनेक उत्तम स्थल, पूर्ववर्ती महान काव्य-साधको के कृपा-फल हैं। कुछ स्वतन्त्र कल्पनाएँ और अनुभूत विचार मेरे अपने भी कहे जा सकते हैं किन्तु भाव-भाषा मे राम-काव्यानुरूप प्राजलता कहाँ। लगता है, पूर्व की सिद्ध-प्रसिद्ध कृतियाँ आकाश-ज्योति-सी अवतीर्ण हुई किन्तु यह रचना नीचे से ऊपर की ओर जाने के लिए लालायित है। कुछ भी है, रामकथा तो है। राष्ट्रभाषा (हिन्दी) की प्रथम सरल सुबोध रामायण तो है। कमल नही तो कुमुद ही सही। रामायण के प्रेमी इसे स्नेह-दृष्टि से देखेंगे, ऐसा मेरा आत्म-विश्वास है।

आज वह रावण नही किन्तु उसका रावणत्व कहाँ नहीं व्याप्त है ? इस रामायण के राम और भरत लोकतन्त्र के चारित्रिक उन्नायक और निखिल मानवता के आध्यात्मिक उद्घोषक हैं। सीता शक्ति-चेतना की लीला-प्रतीक है। रामकथा के माध्यम से इस काव्य मे विश्व-मानव की व्यापक भावना सरलता के साथ अभिव्यक्त हो गई है। कहीं-कहीं भविष्य के चित्र भी इसमे आभासित हैं।

लेकिन, केवल भौतिक आधार से ही राम-कथा रामायण नही कहला सकती। नमक के बिना दाल कितनी फीकी लगती है।

---

१. ग्रथ का नामकरण बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् (पटना) के सहृदय विद्वानों ने किया।—ले०

आध्यात्मिकता से रहित राम काव्य मे ज्योति-रस कहाँ! राम को मात्र पराक्रमी पुरुष मान लेने पर हृदय मे वह पवित्र स्पन्दन कदाचित् सभाव्य नही जिसमे अलौकिक रस की आनन्ददायिनी प्राप्ति होनी है। प्रस्तुत रचना मे भी यथासाध्य उस प्राजल परम्परा का मर्यादा-मधुर समावेश हो गया है। ज्ञान, भक्ति और कर्म से भिन्न होकर रामकथा ऊर्ध्वमुखी कैसे हो सकेगी? वर्त्तव्य-सजग इस राम-काव्य मे रसमय शील-सौन्दर्य गगा-प्रवाह-सा अक्षुण्ण रहे, इसलिए एक ही प्रकार के छन्द का प्रयोग हो सका है। सामान्य जन भी इसकी भाव-भाषा का रसास्वादन कर सकें, ऐसी लेखन-लालसा बनी रही। कही-कही सरलता पर सहज साहित्यिकता की छटा छा गई है, जो काव्य-धर्म के अनुकूल है। रामकथा यद्यपि प्राचीन है फिर भी किंचित् नवीनता के कारण सभवत. यह कृति एक टटके फूल के समान प्रतीत हो!

मानस-चतुश्शताब्दिमहोत्सव के ऐतिहासिक अवसर पर इस रामायण की रचना पूरी हुई, यह मेरे लिए एक स्मरणीय घटना है। गोस्वामी तुलसीदासजी के प्रति मेरी यही साहित्यिक श्रद्धांजलि है। मेरे अनेक मित्र और शुभचिन्तक इस रामकाव्य के प्रणयन और प्रकाशन मे मुझे उत्साहित करते रहे। उनके प्रति सादर आभार प्रकट करता हूँ। मेरे चारो सहोदर भ्राताओ ने सब प्रकार से मेरी सेवाएँ की। इस जन्म मे मैं इनसे उऋण नही हो सकता। न जाने किस प्रेरणा से मेरे परमपूज्य स्वर्गीय माता-पिता ने मेरा नाम रामावतार रखा था। ईश्वर ने मुझसे रामायण की रचना करवा कर मेरे कवि-जीवन को मानो पावन प्रसाद ही दिया है!

—पोद्दार रामावतार अरुण

कविनिवास,
समस्तीपुर (बिहार)
रामनवमी, बुधवार, ११ अप्रैल, १९७३ ई०

प्राक्कथन

मानस-चतुःशती के अवसर पर 'अरुणरामायण' का प्रकाशन एक अवसरोचित शुभकार्य है। इसे हम तुलसी और उनके मानस के प्रति अरुण की रचनात्मक श्रद्धांजलि मान सकते हैं। ऐसी रचनात्मक सारस्वत श्रद्धांजलि अधिक महत्त्वपूर्ण होती है तथा श्रद्धा के आलम्बन को, मानो, गीर्वाणवाणी द्वारा और भी वाग्गतीत बना देती है। पूरे रामचरित को प्रतिपाद्यानुरोधी छन्द में बाँधकर 'अरुणरामायण' खड़ी बोली की प्रथम रामायण के रूप में अवतरित हुई है।

'अरुणरामायण' की गणना चरितकाव्य' की श्रेणी में की जा सकती है, जिसकी परिपाटी छायावादी युग से, भावमूलकता या चित्तवृत्तिमूलकता की प्रधानता के कारण, लगभग क्षीण हो गई है। इधर जो भी प्रबन्धकाव्य या महाकाव्य समादृत हुए हैं, वे प्रायः मनस्तत्त्व-प्रधान ही रहे हैं, चरितकाव्य की तरह वर्णन-प्रधान नहीं। चूँकि वर्णन स्थूल विस्तार को जन्म देता है, इसलिए अब कुंचित कथा-तत्त्व या किसी प्रसिद्ध कथा के अर्थवान पक्ष-विशेष का ही परिमृदुल निबन्धन कर प्रबन्ध-रचना करना श्रेयस्कर माना जाने लगा है। किन्तु, अरुण ने कथा-तत्त्व की गुठली को युगानुकूल छोटा न बनाकर राम की पूरी चरित-कथा को तुलसी के मानस के अनुरूप काण्डबद्ध रूप में उपस्थित किया है। फलस्वरूप, 'अरुणरामायण' के पूर्वार्द्ध में वर्णन की ही समृद्धि है तथा मनस्तात्त्विकता और वैचारिकता का संस्पर्श मुख्यतः उत्तरार्द्ध में मिल पाता है।

कथा-संचयन की दृष्टि से यह कह देना अनुचित या अप्रासंगिक नहीं होगा कि 'अरुणरामायण' में रामकथा के प्रश्नास्पद और प्रक्षिप्त अंशों के परिहार का कोई सजग प्रयास नहीं है। यद्यपि इसमें कवि ने हासटा, शकासुर इत्यादि जैसे नये चरित्रों की सृष्टि की है तथा अहल्या-चरित्र में प्रतीकार्थ की गाँठ को नये ढंग से खोला है, तथापि कथा-कल्पन में कवि ने किसी पूर्व-निर्धारित परिप्रेक्ष्य अथवा चयनशील दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष रूप में काम नहीं लिया है जैसा कि मूल्य-गर्भित कवि-मनीषा अपने विश्व-बोध और चिन्तन-निष्कर्ष के अनुरूप प्रायः किया करती है। इसीलिए 'अरुणरामायण' में सीता की अग्निपरीक्षा, गर्भिणी अवस्था में सीता-वनवास और सीता के पाताल-प्रवेश इत्यादि जैसे प्रसंगों का भी समावेश हो गया है, जो निश्चय ही आज के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन-प्रधान युग में मर्यादा-पुरुषोत्तम की चारित्रिक महिमा के विरुद्ध कुछ प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं। सच पूछिये तो ये प्रसंग रामकथा के प्रक्षिप्त अंश

हैं तथा राम और विमुक्ता सीता के महत्त्व को घटाने के लिए तथा उनके चरित्र में विकृति या असंगति लाने के लिये परवर्ती लेखकों द्वारा जैन-बौद्ध प्रभाव-काल में रामकथा के साथ जोड़ दिये गये हैं। 'अनामकम जातकम्', 'दशरथ जातकम्', 'पउमचरिउ', गुणाढ्य की 'वृहत्कथा', 'कथासरित्सागर' इत्यादि के अनेक सन्दर्भ इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि अरुण को रामकथा से सबद्ध प्रसिद्ध चरित्रों तथा स्थानों का अच्छा ज्ञान है और उसने रामकथा को पूरी तरह पचाकर एवं हृदयंगम कर इस रामायण की रचना की है।

'अरुणरामायण' की विशेषता यह है कि एक पुराने या सनातन कथावृत्त की सीमाओं का निर्वाह करते हुए भी इसमें वर्तमान समय और समकालीन समाज के सन्दर्भ से जुड़ी हुई अनेक सार्थक बातें कही गई हैं, जो अरुण को एक युगद्रष्टा 'गणमन्त्र प्रणेता' कवि सिद्ध करती हैं।

'अरुणरामायण' की सार्थकता समकालीन जीवन-प्रसंगों के साथ मुख्यतः इस रूप में जुड़ती है कि कवि ने रावण को वैज्ञानिक सभ्यता का पक्षधर प्रतीक बना दिया है तथा वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक शक्ति को आसुरी शक्ति के रूप में ग्रहण किया है। कवि की मान्यता है कि सभी असुर नास्तिक थे और नैसर्गिक शक्ति-नियम, अर्थात 'प्रकृति-तत्र' में दृढ़ विश्वासी थे। 'अरुणरामायण' में राम, सीता और रावण को व्यक्ति-विशेष न मानकर मूल्य प्रतीक बनाने की चेष्टा है—

> अपने में सीमित नहीं राम, सीता, रावण
> हम तीनों महाकाल के जीवनमय चिन्तन
> सीता ही निर्णायिका विश्व-जीवन-रण की
> है यही विजयिनी ज्योति सजग प्राणी मन की।

(सुन्दर काण्ड, पृष्ठ ८५१)

'विष्णु-पुरुष' राम और असुर रावण 'डायलेक्टिस आव वैल्यू' के दो प्रतीक मूल्य हैं, जो अन्तिम विजय के पूर्व तक लगभग तुल्यबल प्रतीत होते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रावण कांचन भौतिकता में लीन भोगी जीवन-मूल्य तथा अविवेकी प्रकृति-तन्त्र में अपार विश्वास का प्रतीक है। इसके विपरीत राम कृषि-संस्कृति की मर्यादा, लोक-कल्याण और पूर्णांग शिव-सत्य के प्रतीक हैं। इन दो प्रतीक मूल्यों के द्वन्द्व में सौम्य निर्णायिका शक्ति की प्रतीक सीता है। इसलिए सीता को—निर्णायिका शक्ति को हरने तथा स्वायत्त की उग्र और उद्दण्ड चेष्टा रावण की ओर से निरन्तर होती है। रावण को सीता का शक्ति-रहस्य मालूम था। तभी तो 'अरुण रामायण' के रावण ने सीता का हरण 'ज्योति-शक्ति' के रूप में किया है और मन्दोदरी से स्पष्ट कहा है—

सीता अब मेरी है, मेरी है—मेरी है
मैंने ही शक्ति-कमलिनी की चोरी की है।

(पृष्ठ ४५०)

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कवि ने रावण को, मुख्यत, तांत्रिक बना दिया है और उसके योद्धा या राजनयिक रूप को गौण बना दिया है।

उपर्युक्त प्रतीकार्थ के चितन्न के लिए अरुण ने रावण के 'अशोक वन' को 'तंत्रोद्यान' कहा है और रावण से यह कहलाया है कि उसका अशोकवन 'तंत्र-रश्मि से रक्षित' है। दूत के रूप में हनुमान के लौटते समय सीता ने भी हनुमान से यही कहा है कि मैं रावण की तंत्र-सिद्धि-कारा में ध्यानमयी योग-श्री-सी बन्दिनी हूँ। इतना ही नहीं, चूँकि 'अरुण रामायण' के रावण का चरित्र तंत्र प्रधान है, इसलिए सीता हनुमान को—'स्थापित व्योम-प्राण' हनुमान को, जिनका बहुत ही समर्थ वर्णन कवि ने किष्किन्धाकाण्ड में किया है, यह बतला देती है कि युद्ध में विजय-श्री की प्राप्ति हेतु राम के लिए दुर्गा-शक्ति की सिद्धि आवश्यक है। इस प्रसंग में लंका काण्ड के अन्तर्गत 'अरुण-रामायण' में महाशक्ति के लिए प्रयुक्त सम्बोधना और गूढ़ विशेषणों से यह स्पष्ट पता चलता है कि कवि को शक्ति-साधना से संबद्ध साहित्य का परिपुष्ट ज्ञान है।

यह भी ध्यातव्य है कि 'अरुणरामायण' के राम ने शक्ति-पूजा के सन्दर्भ में दुर्गा और काली—दोनों के प्रत्यक्ष ध्यान-रूप में सीता का ही मुख देखा है। इस प्रकार 'अरुणरामायण' की सीता अनेक प्रतीक-सन्दर्भों से भरी हुई शक्ति-स्वरूपा बन गई है। एक ही भूमिजा सीता-शक्ति के भिन्न-भिन्न वर्णाभ बिम्ब कहीं दुर्गा और कहीं काली के रूप में कभी राम के समक्ष तथा कभी रावण के समक्ष विकीर्ण हैं। साराश यह कि 'अरुणरामायण' की सीता केवल चिन्मयी भू-चेतना की प्रतीक नहीं, साक्षात् आद्याशक्ति है।

अरुण ने इस रामायण की रचना में पदशय्या की मसृणता, ध्वनि-सचार, शब्द-कौशल तथा कल्पना-शक्ति की विलास-भंगिमा का पूरा उपयोग किया है। कोमल प्रसंग, जैसे राम-जानकी के प्रथम दर्शन के सरस प्रसंग में कवि की सुकुमार संगीत-सान्द्र पंक्तियाँ तुरत हृदय-द्रुति पैदा करती हैं।

मुझे विश्वास है कि 'शब्द-तपस्वी' अरुण की यह रामायण सहृदय पाठकों द्वारा मानस चतुःशती के अवसर पर तुलसी और उनके राम के प्रति अर्पित की गई रत्नात्मक श्रद्धांजलियों की माला में 'सुमेरु' की तरह स्वीकार की जायगी।

बुद्ध पूर्णिमा,
१७-५-७३
पटना-६

—डॉ कुमार विमल
निदेशक, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।

अरुणरामायण

बालकाण्ड १

अयोध्याकाण्ड १०१

अरण्यकाण्ड ३२३

किष्किन्धाकाण्ड ४००

सुन्दरकाण्ड ४३४

लङ्काकाण्ड ४६८

उत्तरकाण्ड ५६५-६४२

सीता—

परिणीता को

अद्भुतरामायण

बालकाण्ड

जय जगतभारती गणपति, जय हे विष्णुप्राण,
जय जन्मभूमि जननी जय हे भारत महान्
जय महाहिमालय, महासिन्धु, जय विन्ध्याचल
जय गंगा-गोदावरी-नर्मदा-यमुना-जल !
जय वेद-उपनिषद्-शास्त्र-पुराण-काव्य अक्षय
जय आदि महाकवि वाल्मीकि की जय-जय-जय
जय सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की चारित्रिक जय
जय विश्व-चेतनामय भारत की ज्योतित जय !
तप, त्याग, शील, श्रद्धा, समता, ममता की जय
आसुरी शक्ति पर महाविजय-क्षमता की जय
ईश्वर-स्वरूप मर्यादा-पुरुषोत्तम की जय
ईश्वरी-स्वरूपा नारी सर्वोत्तम की जय !
जय, जय, जग की जय, मानवता के मग की जय
सद्धर्म-धवल जीवन-कर्त्तव्य सुभग की जय
समयानुसार सत्कर्म-साधनाओं की जय
शाश्वत गुण-गरिमामयी भावनाओं की जय !
उज्ज्वल त्रिकालदर्शी आदर्श कथा की जय
सलग्न विश्व-मंगल में व्यक्ति-व्यथा की जय
कल्याणकारिणी काव्य-सतेज दृष्टि की जय
जनगण-मन-हित प्रेरणा प्रदीप्त सृष्टि की जय !
कालानुकूल करुणामय संशोधन की जय
उत्क्रान्त चेतना-जाग्रत उद्बोधन की जय
जीवन की जय, जीवन की जय, जीवन की जय
मानवता-मुखरित व्यापक नव चिन्तन की जय !

भौतिक, आध्यात्मिक गति के शुभ्र मिलन की जय
सत्यानुकूल सचित समस्त साधन की जय
आधारित सदाचार पर जो, उस रण की जय
आनन्द-निनादित समतामय शासन की जय
मानवता की जय ही जीवन की महाविजय
पशु-पक्षी-हित भी बने नहीं मानव निर्दय
आलोकित शौर्य करे जीवन-तम का विनाश
फैले पृथ्वी पर सत्य-सजग उज्ज्वल प्रकाश!
उत्प्रेरित करे अतीत कि सुधरे वर्तमान
जगमगा उठे इतिहास-ज्योति में प्राण-प्राण
चारित्रिक महिमा धारण करे विश्व-मानव
सात्विकता को तज कर न बने वह फिर दानव
व्यापक विश्वास-चेतना को नर तजे नहीं,—
कर्त्तव्य-विमुख हो प्रभु को केवल भजे नहीं
केवल कर्मों में ही न उलझ जाए जीवन,
आत्मिक प्रशान्ति के लिए करे नर आराधन
अपने को समझे वह भीतर से—बाहर से
आत्माभा को भी देखे वह अन्तरतर से।
—वाल्मीकि-कमल पर रख कर पावन तुलसी-दल
अर्पित कर कुछ अपना भी, कौन काव्य-विह्वल ?
चेष्टा यह अनधिकार किसकी ? वह कौन बाल ?
कैसे वह पार करेगा काव्याम्बुधि विशाल ?
नास्तिक युग में आस्तिक दुस्साहस यह किसका ?
साँसों में कैसे शुचि सौरभ सहसा गमका ?
किस काव्य-तपस्या का पुनीत फल मिला आज ?
वासना-पंक में कैसे पंकज खिला आज ?
किसकी यह अनुकम्पा कि प्राप्त पावन प्रसाद ?
मन ने कैसे कर लिया ग्रहण दिव्यात्मवाद ?
उर्मिल उर में विद्या-विवेक की किरण नहीं
वैष्णव-विधानमय भक्ति-निष्ठ आचरण नहीं
जग का सामान्य ज्ञान भी ज्ञात नहीं मन को
हंस की शुभ्रता प्राप्त नहीं बक-जीवन को !

जो जैसा, वैसी ही उसकी रसमय रचना
जैसा रस, वैसी ही हो जाती है रसना
सात्त्विकता का संयोग सद्गुणों से सम्भव
शुचिता-विहीन होता न हृदय-पूजित अभिनव !
मंगलाचरण में कहीं मित्र-प्रार्थना नहीं
खल और दुष्ट की भी कोई वन्दना नहीं !
खलता ही है सबको सहृदयता का अभाव
मन नहीं जानता है कैसा प्रभु ! भक्ति-भाव
होगा दुराव तो बनना तुम्हीं सहारा हे !
बन जाना तुम्हीं कृपा का परम किनारा है !
जब तुम्हीं सहायक होगे तो सब होंगे ही
ईश्वर हे ! तुमसे बड़ा कौन भू पर स्नेही ?
शत्रु ही नहीं तो उसका कोई वन्दन क्यों ?
मित्र ही मित्र तो फिर कृत्रिम अभिनन्दन क्यों ?
दुष्टता किसी ने की न कभी तो क्यों चर्चा ?
है उचित कि हो व्यापक जनगण की ही अर्चा
ईश्वरमय सारी सृष्टि, दृष्टि यह चिर सुन्दर
सागर में उठती ही रहती है नित्य लहर
जीवन-समीर सौरभ-झोंके ले आते हैं
अरुणोदय में उडुगण मलीन हो जाते हैं !
ढँक लेते हैं कारे बादल-दल रवि को भी
सहना पड़ता है व्यंग्य-बाण प्रिय कवि को भी
छोटी-सी भूल हुई कि धूल उड़ने लगती
एक ही बात पर तो आँखें मुड़ने लगती !
पुण्योदय में ही कठिन काम बन पाता है
सत्संग-लाभ से हृदय शुद्ध हो जाता है
खिल उठता है मन का पंकज पाकर विवेक
ज्योति ही ज्योति भर देता है विश्वास एक !
रामायण-रूपक एक नित्य-लीला-प्रकाश
इसमें असत्य का पतन, सत्य का शुचि विकास
प्रत्येक पात्र जीवन-प्रतीक तम-ज्योति-भरा
यह कथा न केवल अपितु विश्व-चेतना-घडा !

एक ही सृष्टि में राम और रावण का रण
जैसा जिसका मन, वैसा कर्म और चिन्तन
अत्यन्त कठिन है अमृत और विष का मन्थन
उद्घाटित करता सत्य पारदर्शी लोचन
पाना न सहज उर का प्रकाश बौद्धिक बल से
मिलती न आत्म की विभा कभी विद्या-छल से
निर्मल उर-मन्दिर में जलता है भक्ति-दीप
बिखराते हैं जल-मुक्ता पावन नयन-नीप !
गुण और दोष से भरा हुआ संसार सकल
होते रहते हैं भाँति-भाँति के बल-बल-छल
मानस-विवेक स्थिर रहता हरि-अनुकम्पा से
हिल जाता है विश्वास चतुरता-झंझा से !
निर्मल चरित्र-सी ही निर्मल रचना उत्तम
कृति वही सदा सुन्दर, न भरे जो मन में तम
घी के टेढे मोदक में भी उत्कृष्ट स्वाद
पावन आनन्द मिटा देता मन का विषाद !
निर्गन्ध पुष्प-सी ज्योतिहीन कलुषित कृतियां
मिलती उज्ज्वलता में सारस्वत झंकृतियाँ
पूजा के फूल पवित्र स्वयं हो जाते हैं
स्वाती के घन सात्विक दृग में ही आते हैं !
दो वाक्यों की वन्दना श्रेष्ठ खल-पुस्तक से
उत्तम है केवल एक हंस सौ-सौ बक से
सौ-सौ कागों में कोयल क्या छिपने वाली ?
झरती है शरद्-काल में ही तो शेफाली !
प्रत्येक दृष्टि से पावन उज्ज्वल गंगा-जल
मन को निर्मल कर देती है कविता निर्मल
सुरसरि-समान ही राम-कथा का आस्वादन
पावन चरित्र-वर्णन सुन, होता मन पावन
शुचिता की अमृत-नदी में सात्विक शरद्-स्नान
उर को उज्ज्वल कर देता है श्रीराम-ध्यान
जितनी जिसकी रुचि, उतनी आभा मिलती है
ज्योति की कमलिनी प्रेम-वृन्त पर खिलती है !

राम की कथा से पावन कोई कथा नहीं
इसके पढ़ने से होती मन में व्यथा नहीं
यह पाप, ताप, सन्ताप दूर कर देती है
राम की कथा उर में प्रकाश भर देती है।
चिर-सिद्ध राम की विश्व-कथा वाणी-विमुग्ध
यह कामधेनु का ज्ञान-भक्ति-विज्ञान-दुग्ध
यह कल्पवृक्ष-सी इच्छा-फल देने वाली
आनन्द-पूर्णिमा की यह पावन उजियाली
भारत के लिए अमृत-जैसा यह काव्य-कलश
सात्विकता ही इस रचना का सर्वोत्तम रस
प्रत्येक काण्ड में राम-ज्योति का समावेश
हर घटना में प्रभु की प्रणम्य लीला विशेष।
आध्यात्मिक-भौतिक शक्तिलाभ इसके द्वारा
सुन राम-कथा, फट जाता मन का अँधियारा
राम के स्पर्श से सरयू सुरसरि के समान
हो गई अयोध्या प्रभु को पाकर चिर महान

सम्राट् चक्रवर्ती दशरथ का चौथापन
उस पुत्र-विहीन अवधपति का चिन्तित जीवन
हैं तीन-तीन रानियाँ किन्तु, प्रिय तनय नहीं
चिन्ता के तम में किसी सूर्य का उदय नहीं।
रविकुल-वृक्ष में पतझर का आभास व्याप्त
विश्वास और आशा न हुई अबतक समाप्त
यश पर यश दशरथ करते ही जाते हैं
एकान्त क्षणों में दुखी प्राण अकुलाते हैं।
छोटी रानी कैकेयी से वे कह उठते
'ऐश्वर्य-कीर्ति पाकर भी हूँ मैं दुखी प्रिये।
इस राजभवन में व्यथा एक सूनेपन की
छिटकी न अभी तक चन्द्र-छटा मेरे मन की।
होने वाली है चिन्तक-सभा हिमालय पर
सुनना है विश्व-चक्र की ग्रह-गति अति हितकर

द्युतिदर्शी ऋषि-मुनि वहाँ पधारेंगे निश्चय
करने वाले है वे भविष्य-फल का निर्णय
अच्छा होता यदि हम भी गिरि पर जा पाते—
सेवा-कर्तव्य वहाँ भी स्वयम् निभा पाते
है मेरी दृष्टि टिकी गगा के उद्गम पर
सुनता हूँ सुधि मे कभी-कभी निर्झर का स्वर !
वैदिक मन्त्रो का भी सुनता हूँ महोच्चार
आती है साम-गान की भी ध्वनि बार-बार
सुधि-किरणो मे मिटने लगता दुख-अन्धकार
लगता कि सुन रहा हूँ अब मैं शिव की पुकार
लगता कि कथा कोई कह रहे स्वय शकर
पार्वती बजाती है वीणा उस हिमगिरि पर
लगता कि वसन्त मनाता वन मे महोल्लास
हूँ खडा देववृक्षो के ही मैं आसपास !
लगता कि स्वर्ग-अप्सरा बजाती है मृदग
लगता कि उठ रही पर्वत पर सुरभित तरग
कैलासशिखर सुधि मे दिखलाई पडता है
हिम ही हिम चारो ओर वहाँ पर झरता है !
लगता कि सुदूर अतीत काल का मैं ही मनु
तप करते-करते सूख गया है मेरा तनु
शतरूपा है मेरी रानी कौसल्या ही
कर चुके विष्णु-वरदान प्राप्त हम मनचाही !
सुधि पर सुधि आती-जाती उस अतीत की अब
कर रही आज कल्पना पुराण क्षितिज को नव
मिट-मिट कर भी प्राचीन ज्योति आ ही जाती
उस तट की दिव्य लहर इस तट से टकराती
हैं वर्तमान से जुडी भविष्य-अतीत-लहर
हैं चिर अभग, है चिर अटूट काल की डगर
एकात्म-भाव मे अथ-इति है आबद्ध सदा
सुख मे दुख, दुख मे सुख, प्रमोद मे भी विपदा !
सुख के निकुज मे भी दुख की झकार एक
दुख मे ही सुख-सुधि का कोई उपहार एक

करता है कोई-कोई ही चिति-अमृत-पान
सुनता है कोई-कोई ब्रह्मानन्द-गान
ज्ञानेन्द्रिय के दश रथ का मैं भी परिचालक
धर्मानुसार ही हूँ मैं यहाँ प्रजा-पालक
फिर भी मेरे जीवन में सुत का है अभाव
है सभी सुखों पर व्याप्त एक दुख का प्रभाव!
सन्तान प्राप्त करने पर भी दुख-अन्त नहीं
दुख से विहीन कोई भी हर्ष-अनन्त नहीं
सुख-दुख का कालचक्र चलता ही रहता है
दुख को सुख, सुख को दुख छलता ही रहता है!
इस स्थिति का ज्ञान सुमित्रा रानी को भी है
उसका तन-मन सुख का है। मात्र न लोभी है
कैकेयी! तुम भी राज्य-कार्य में व्यस्त सदा
युवती होकर भी उठा रही तुम सकल व्यथा!
सत्कर्मों से होता ही है आनन्द प्राप्त
सेवा-भावना तुम्हारे मन में सदा व्याप्त
रानी! तुम तीनों की तीनों उपकारी हो
तुम तीनों दशरथ के उर की फुलवारी हो
तुम सभी धर्म-सलग्न किन्तु सुत नहीं एक!
मेरे मानस में दुख की केवल यही रेख
यह दुख मुझको ही नहीं, समस्त प्रजा को भी
कैकेयी! कहता हूँ मैं तुम से बात सही
जाना है मुझे हिमालय पर ऋषि-दर्शन-हित
मेरी अदम्य इच्छा की वीणा सुधि-झंकृत
अग्रिम घटना द्रष्टा मुनि बता दिया करते
उनके मुख से भविष्य के सत्य-तथ्य झरते!
करना पड़ सकता मुझे यज्ञ सुत-प्राप्ति-हेतु
तपसी ऋषि ही रच सकते हैं प्राणारम-सेतु
आध्यात्मिक अब कोई उपाय करना ही है
ऋषि-मुनि की महाकृपा से दुख हरना ही है!"

समतल पर जहाँ शुभ्र गंगा की श्वेत धार
सन्निकट जहाँ शुचि शचीतीर्थ,—वह हरिद्वार,—
तन-मन को स्नान-ध्यान से किया शुद्ध नृप ने
मन में प्रशान्ति भर दी एकान्त विष्णु-जप ने।
फिर बढ़े और आगे वे—आगे वे गिरि पर
उस तपोभूमि पर मिले उन्हें कौशिक मुनिवर
विनयी भूपति ने किया उन्हें विधिवत् प्रणाम
कितना पवित्र वह गंगातट का पुण्य धाम
ले गए उन्हें ऋषि विश्वामित्र और ऊपर
ऊँची चोटी से दीख पड़ा हिमगिरि सुन्दर
दिखलाई पड़ा सान्ध्य नभ में नूतन तारा
कर दिया दूर ऋषि ने नृप-मन का अँधियारा
बोले महर्षि 'ग्रह-योग अतुल लगने वाला
फैल सकता आलोकपुरुष नव उजियाला
आसुरी शक्ति का हो सकता है महानाश
फैला सकता कोई विशिष्ट मानव प्रकाश
पर शनि के कारण होंगे उसको विविध कष्ट
वह ज्योति-वीर कर देगा दनुजों को विनष्ट
हे दशरथ! आप करें पुत्रेष्टि-यज्ञ सत्वर
संभव है, मिले आपको ही वह फल सुन्दर।
यज्ञ के लिए अब ऋषि वसिष्ठ से करें बात
लगता कि आप ही देखेंगे वह विष्णु-प्रात
निज उर में भर विश्वास, अयोध्या लौटें अब
हम दोनों की फिर भेंट न जाने होगी कब?'

नृप ने सब कार्य किए कौशिक-कथनानुसार
मिट गया एक दिन उनके दुख का अन्धकार
नवमी तिथि, शुक्ल पक्ष, पावन प्रिय चैत्र मास
अभिजित मुहूर्त में हुआ अवतरित वह प्रकाश
सुन्दर दोपहरी शिव सुगन्ध से भरी-भरी
भू पर वासन्ती छटा अधिक निखरी, बिखरी

सरयू की धारा में तरंग-उल्लास आज
धरती पर उतरा-उतरा-सा आकाश आज !
श्रुति-वीणा की झंकार समस्त दिशाओं में
फूल ही फूल मानो आनन्द-लताओं में
ज्योतिर्मय पुत्र-प्राप्ति से कौशल्या विभोर
है नहीं रहस्य-प्रदीप्त हर्ष का ओर-छोर !
माता की गोदी में रोता-सा फूल एक
ममता के कारण मलिन मधुर मन का विवेक
शिशु के पाते ही भूल गई जननी सपना
वात्सल्य-भाव कितना पवित्र—कितना अपना !
जननी-अंगुलि ने प्रथम अश्रु को उठा लिया
पहला चुम्बन ने गालों को गुदगुदा दिया !
अधरों की पहली हँसी मातृ-दृग में छाई
पावन प्रसन्नता अंग-अंग में छितराई !
अनिमय आनन्द-विभोर आज सुखमय दशरथ
फूल ही फूल से शोभित उनका इच्छा-पथ
सुन पुत्रजन्म-संवाद, हृदय-वन में झकोर
हर्ष ही हर्ष की मन में वासन्ती हिलोर !
सादर सूचना वशिष्ठ पुरोहित को सत्वर
गूँजने लगे प्रिय वाद्यवृन्द पर मंगल स्वर
सम्पूर्ण नगर में महोल्लास छा गया तुरत
दौड़ने लगे हर पथ पर सुन्दर रथ ही रथ
घर-घर में जन्मोत्सव के गायन मंगलमय
हर ओर आज आनन्द-तरंगित जय ही जय
लगता कि पुत्र का जन्म आज सबके घर में,—
इतनी प्रसन्नता नर-नारी के अन्तर में !
शिशु के सुदिव्य मुख-दर्शन से वशिष्ठ पुलकित
ले स्वर्णकलश-आरती, युवतियाँ गीत-मुदित
जो जिस प्रकार से थी, वैसी ही आई वह,—
चंचल समीर-सी बार-बार लहराई वह !
कैकेयी और सुमित्रा की भी गोद भरी
अनुपम प्रसन्नता पर प्रसन्नता फिर बिखरी

अवसर आने पर सुख ही सुख मिलने लगता,—
सूखी टहनी पर भी प्रसून खिलने लगता !
अवसर आने पर स्वयं फैलती उजियाली,—
आता है सूर्य लिए अपनी सुन्दर लाली
अवसर आने पर भाग्य गुलाल उड़ाता है—
केसर-कस्तूरी का प्रिय रंग चढ़ाता है !
बन गए चार पुत्रों के पिता नृपति दशरथ
आलोकित हुआ भाग्य से ही रविकुल का पथ
सन्तुष्ट किया सबको नरेश ने सब विधि से
निकली कनकाभ किरण संचित उनकी निधि से !
ऐसा शुभ अवसर नहीं कभी आने वाला
लगता कि मिट गया सभी दुखों का अँधियाला
चलता ही रहा अनेक दिनों तक हर्षोत्सव
नव-नव उमंग, नव-नव तरंग, क्रीड़ा नव-नव
बीते कुछ दिन तो हुआ पुत्र का नामकरण
ज्योतिष-निर्णय से आभासित सबका जीवन
क्रमशः श्रीराम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न नाम
दो श्यामोज्ज्वल, दो स्वर्णोज्ज्वल भ्राता ललाम
चारों शिशुओं की किलकारी में भवन ध्वनित
कजराली आँखों को निहार कर नयन मुदित
आती-जाती नारियाँ हिला देती पलना
छू देती कभी-कभी मुख से मुख को ललना
छितरा जाता है कभी कपोलों पर काजल
ओठोंपर कभी हँसी, आँखों में जल निर्मल
कोमल कर-पग में कभी-कभी विह्वल तरंग
रोने का भी प्रिय हठ, हँसने की भी उमंग !
अंगुली चूमने का मधुमय अभ्यास मृदुल
मक्खन-जैसा शिशुवदन बहुत कोमल थुल-थुल
सबकी इच्छाएँ देह-कमल चिपकाने की
शैशव की वेला हँसने और हँसाने की !
रो उठना जब-जब राम, दौड़ती कैकेयी
मुसकाने लगता है गोदी में शिशु स्नेही

आत्मज से भी वह अधिक प्यार उसको करती
कैकेयी निज चुम्बन से शिशु-दुख को हरती !
शिशु-सहित खड़ी हो जाती वह दर्पण-सम्मुख
प्रतिबिम्बित छवि को देख उसे मिलता है सुख
इस ओर राम, उस ओर भरत—दो नीलकमल
वात्सल्य-भाव में कैकेयी प्रति दिन विह्वल !
कौसल्या चारों पुत्रों में रस भर देती—
निज चुम्बन से अधरों को उज्ज्वल कर देती
गोदी से नहीं उतरता है जल्दी लक्ष्मण
राम को देखकर हर्षित होता उसका मन !
शत्रुघ्न भरत के निकट स्वयं आ जाता है
लख राम-समान भरत को, वह मुसकाता है
पुत्रों की शिशु-लीला विलोक कर नृप विभोर
गोदी में लेकर उन्हें, प्राप्त प्रिय सुख अछोर
भोजन की वेला चारों के चारों आते
अब इतने बड़े कि दूध-भात भी वे खाते
दधि-मक्खन से हो जाते कभी अधर उज्ज्वल
खिल उठते कभी-कभी कमनीय कपोल-कमल !
तीनों माताएँ एक साथ हँस पड़ती हैं
भीतर की खिली कली बाहर भी झरती है
जननी को नित सुख प्राप्त बाल-लीलाओं में
बातें करती वे केलि-मग्न ललनाओं से
'देखो, कैसे वे ठुमुक-ठुमुक कर चलते हैं,—
उठते हैं, गिरते हैं, सानन्द उछलते हैं
बज उठती किंकिणियाँ-पैंजनियाँ मधुर-मधुर
सन्तानों से हो गया स्वर्ग ही अन्तःपुर !
देखो, वह राम गेंद को स्वयं पकड़ता है
अपने भाई से कभी नहीं वह लड़ता है
हँसते-हँसते वह गेंद भरत को दे देता
मिमिया कर लक्ष्मण कर से कन्दुक ले लेता !"

नैवेद्य उठा कर खा लेना है राम कभी
पर, अन्य अनुज करते हैं ऐसा काम नही
यह देख, राम-माता आश्चर्यचकित होती,
वह इस लीला से कभी-कभी चिन्तित होती !
पूजा के पहले ही प्रसाद खा लेता क्यो ?—
कुछ खाकर फिर दूसरे बन्धु को देता क्यो ?
कौसल्या कभी-कभी नैवेद्य छीन लेती
जब राम बहुत रोने लगता तब दे देती !
कैकेयी की नासिका पकड़ लेता लक्ष्मण
हँसते हैं अधिकाधिक शत्रुघ्न-भरत उस क्षण
उस समय राम कुछ कह उठता है तुतला कर
मृगशावक-से छिप-छिप जाते वे इधर-उधर
वे कभी सुमित्रा के सन्निकट चले जाते
वे कभी बड़ी माता के निकट चले आते
रहते वे अधिक किन्तु कैकेयी के समीप
शैशव का क्रीडानन्द उठाते नित महीप
राम ने एक दिन नृप का मुकुट उतार दिया
तत्क्षण ही कैकेयी ने उसे सँवार दिया
उस समय भरत ने जननी का कर लिया पकड़
कोमल करतल का कितना कोमल प्रिय थप्पड़ !
कैकेयी ने सबको समीप ही बैठाया—
निज दासी से मिष्टान्न वहीं पर मँगवाया
प्यारी मन्थरा थाल लेकर आई सम्मुख
सुन्दर कुमार को देख उसे भी मिलता सुख !
सबसे पहले राम को खिलाती कैकेयी
वात्सल्य-भाव उनके प्रति है इतना स्नेही
यह देख मन्थरा दासी मुँह बिचका देती
वह मात्र भरत को निज गोदी मे ले लेती
लेकिन, दिन बीत गए गोदी मे रहने के
आ गए दिवस अब प्रिय मुख से कुछ कहने के
माता के स्तन का दूध न अब पीते कुमार
अब धेनु-दुग्ध ही उनके हित है सुधा-धार

गोशाले मे भी कभी-कभी वे जाते है
चारो भाई चारो को दूध पिलाते है
जब से मुण्डन-सस्कार, तभी से पग बाहर
फिर भी पुत्रो को माताओ मे रहना डर
घबडा उठती कौसल्या, जब सुत छिप जाता
टूटता नही सुत-जननी का सहृदय नाता
किंचित् भी सुत को कष्ट कि आँखो मे बादल
माता के लिए पुत्र आजीवन प्रेम-कमल ।
सौ-सौ स्वर्गों से जननी-जन्मभूमि पावन
धरती-माता के कारण ही विकसित जीवन
करते है सभी सुपुत्र मातृ-पग का पूजन
छूते है सभी तनय प्रति दिन शुचि पितृ-चरण
यज्ञोपवीत-सस्कार हुआ सम्पन्न सविधि
अब मिलने लगी सभी को दैनिक विद्या-निधि
लग गई सहज ही श्याम-श्वेत की प्रिय जोडी
पर, नही किसी ने भ्रातृप्रीति अपनी छोडी ।
जब पर राम-लक्ष्मण सरयू-तट के पथ पर
शत्रुघ्न-भरत भी उसी ओर जाते रथ पर
देख कर उन्हे प्रति दिन प्रमन जनगण-लोचन
कितना मनभावन उनका दैनिक भूमि-भ्रमण ।
चारो किशोर के अब उर्जस्वित सुन्दर तन
तन भिन्न-भिन्न पर, सदा एक ही उनका मन
विद्या, विवेक, गुण से आलोकित नित जीवन
विनयी अन्तर, विजयी मन, शील-समुज्ज्वल नयन
सम्पन्न विविध विद्याओ मे उनका आनन
सात्त्विक आनन्द-निरोहित उर मे उज्ज्वल रस
कधे पर शौर्य-सुशोभित सुन्दर धनुष-बाण
आखेट-हेतु वन-पथ पर वीरोचित प्रयाण
जैसा ही शास्त्र-ज्ञान, वैसा ही शस्त्र-ज्ञान
दोनो की सहज प्राप्ति से वे अब महाप्राण
राम की धनुर्विद्या मे दशरथ स्वय चकित
राम की विवेक-विभा से गुरु अत्यन्त मुदित

जन-मन पर राम-प्रभाव, राम की चर्चा नित
राम को देख कर कौन नहीं होता पुलकित ?
नूतन सूर्योदय से सरयू-धारा पवित्र
किसकी आँखों में नहीं राम का सौम्य चित्र ?
गुण-भूषित उनका नाम अवध में हुआ व्याप्त
लगता कि भानु-कुल को तप का फल हुआ प्राप्त
माताएँ सदा प्रसन्न पुत्र-गुण-गरिमा में
श्रीराम स्वयं सूर्योदित अपनी महिमा से।
दर्शन में ही नयनों में अमृत छलकता है
लगता कि श्याम मुख पर चन्द्रमा चमकता है
मानव को ऐसी कान्ति आज तक मिली नहीं
भूतल पर ऐसी रूप-कमलिनी खिली नहीं !
उनकी वाणी से अमृत-वाक्य ही झरते हैं
भाता है सब को ही, वे जो कुछ करते हैं
श्रीराम किशोर-अवस्था को कर रहे पार
पर कौसल्या करती शिशु-सा ही उन्हें प्यार
नित स्वयं पिलाती वह सुत को गो-दुग्ध धवल
नित देखा करती वह उनका प्रिय नयन-कमल
माता के सपनों में रघुवर बालक-समान
शैशव-सुधि-लीला में खिल उठते मातृ-प्राण !
माता अपने शिशु को निद्रा में टोती है—
नींद में अचानक कभी विहँसती, रोती है
माँ की ममता माता ही अधिक समझ पाती
अपनी करुणा ज्योतित करती उर की बाती।
वात्सल्य-प्रेम माता का अनुपम होता है
कोमल मन ही उज्ज्वल करुणा को टोता है
भ्रातृत्व-भाव में सदा खिले चारों भाई
छिटकी-छिटकी ही रहती उर की अरुणाई
रथ से ननिहाल गए कैकेयीसुत उन दिन
प्रिय-बिछुड़न से राम के लिए दूभर पल-छिन
जागी तीर्थाटन की इच्छा उनके मन में
चाहते विचरना वे कुछ दिन ऋषि-मुनि-वन में

पर्यटन-हेतु दे दी आज्ञा नृप ने सहर्ष
विचरे विविधाश्रम में दशरथसुत एक वर्ष
मग में सुमित्रानन्दन भी सेवक-समान
ऋषि-मुनि सत्संग-लाभ में रघुवर धर्मप्राण
आत्मिक विवेक लेकर लौटे सरयू-तट पर
हो गया दिव्य से और दिव्यतर अन्तरतर
प्रासाद-द्वार पर दीपों से उनका स्वागत
सज्जित प्रसून-पखुड़ियों से अन्त पुर-पथ
राम ने सबन्धु पिता-माता-पदरज पाया
पुत्रों के आने पर गृह में उत्सव छाया
उस रात, रात भर कौसल्या सो सकी नहीं,—
सुत के मुख-दर्शन का अवसर खो सकी नहीं।
पूछती रही कैकेयी सारी रात बात
यात्रा-वर्णन सुनते-सुनते हो गया प्रात
तीर्थाभिप्राय से अवगत हुई सुमित्रा ही
माना रघुवर को उसने नव पथ का राही।
बीते कुछ दिन तब प्रकट हुई मन की विरक्ति
राम के हृदय में जाग उठी वैराग्य-शक्ति
अन्तर की शुद्ध वासना पर अध्यात्म-किरण
किंचित् भी चित्त न विचलित, चचल तनिक न मन
मानस में महाविवेक-ज्ञान, दृग में प्रकाश
अग-जग में चारों ओर ज्योति का दृश्य-हास
ब्रह्ममय समस्त जगत, समतामय जग-जीवन
आत्माएँ करती परमात्मा का आराधन
राजसी भाव को हाय, राम ने त्याग दिया
निष्काम महात्मा ने विराग का वरण किया
कोसल का भावी नृपति बन रहा सन्यासी
उनकी आँखें अब सदा ज्योति-जल की प्यासी।
चिन्तित माताएँ, चिन्तित स्वयं अवधपति भी
अब रहन-सहन में गैरिक गति, गैरिक मति भी
कोमल शय्या के बदले में कुश का आसन
दुखमय, दुखमय—दुखमय अब कौसल्या का मन।

राम के विवाह-हेतु चिन्ता दशरथ-मन मे
राम ही राम की चिन्ताएँ अब हर क्षण मे
एक दिन सभासद से नृप का परिणय-विमर्श
वैवाहिक चर्चा से दशरथ को बहुत हर्ष
है किस-किस राजा की सुयोग्य कन्या निरुपम ?
—सम्प्रति बस, इसी बात का केवल सुखमय क्रम
भारत के सारे जनपद की हो रही बात
चिन्ता-निमग्न अब दिवस, व्यथा से विद्ध रात !

बैठे थे उस दिन नृप दशरथ सिंहासन पर
व्याप्त थी पुत्र-चिन्ताएँ उनके आनन पर
सहसा सुन विश्वामित्र-आगमन, उठे नृपति
आ गई उसी क्षण स्वागत-हित चरणो मे गति
आए व, सभी सभासद-सग द्वार-सम्मुख
पाया नृप ने ऋषि-पद पर झुक कर दर्शन-सुख
बैठाया उच्चासन पर कौशिक को सविनय
अर्पित कर दिया हृदय को अपना मृदुल हृदय :
'ब्रह्मर्षि ! आपका शुभागमन सदैव सुखमय
आपकी उपस्थिति जहाँ, वही जय और विजय
आपकी कृपा से हुई समय पर वश-वृद्धि
आपके चरण-रज मे ही मिलती ऋद्धि-सिद्धि
हे महातपस्वी ! प्राप्त पुन मुझको प्रसाद
दर्शन से ही मिट गया आज मेरा विषाद
आ रही याद उस दिन की, गिरि-गगातट की
भूलता नहीं हूँ छाया उस मगल वट की !
दृग मे वह तारा, जिसे आपने दिखलाया
आपकी कृपा से ही गह मे प्रकाश आया
मैं जनम-जनम तक ऋणी आपका, हे महान !
मैं भूल सकूँगा नही आपका स्नेह-दान
सर्वस्व समर्पण की इच्छा हो रही अभी
आपका आगमन होता है प्रभु ! कभी-कभी

चलते जिस ओर आप, उस ओर भाग्य चलता
रुकते हैं जहाँ ज्योति-पग, वहीं दीप जलता।
आपके दिव्य दर्शन से ही मैं पुण्यवान
काशी-प्रयाग-गंगा में मानो किया स्नान
स्वीकारें दशरथ का वन्दन-पूजन महर्षि!
आनन्दित कृपा-चन्द्र से सागर-मन महर्षि!
आए हो यहाँ आप यदि किसी प्रयोजन से,—
तत्पर हूँ सेवा-हेतु सदा तन-मन धन से
है कुछ भी नहीं अदेय आपके हित मुनिवर!
आपकी किसी भी सेवा के हित मैं तत्पर
सार्थक होने दें मेरे अग्रिम इस प्रण को
होने दें प्रभु! चरितार्थ आज नृप-जीवन को
प्रभु! प्रकट करें अपनी सर्वोत्तम अभिलाषा
लेंगे मुझसे निश्चय सेवा, ऐसी आशा!'

सुन कर उदार प्रिय वचन, अधिक गद्‌गद्‌ कौशिक
उनकी प्रसन्नता से हो उठे सभी पुलकित
बोले ऋषि विश्वामित्र 'आप निश्छल राजन्!
हैं जैसे आप, आपका वैसा ही शासन
आप पर सदा मुनिवर वशिष्ठ की अनुकम्पा
करती है जन हित कार्य आपकी राज्य-सभा
उस ओर जनक, इस ओर आप हैं धर्मप्राण
है अवध और मिथिला-वसुन्धरा अति महान्
नृपश्रेष्ठ! आपके योग्य सदा आपकी बात
आपकी अयोध्या में जगमगजग धर्म प्रात
चारों के चारों पुत्र आपके, सत्य-सजग
होंगे उनसे आलोकित मानवता के मग
मेरे आने का निश्चय ही अभिप्राय एक
असफल हो गए अनुष्ठित यज्ञोत्सव अनेक
कर देते हैं आक्रमण असुर यज्ञस्थल पर
हो गया उन्हें अब अहंकार अपने बल पर

चाहूँ तो मैं ही कर सकता उनको विनष्ट
पर, क्रोध करूँ तो होगा मुझको आत्म-कष्ट
आया हूँ विघ्न-निवारण के ही लिए यहाँ
हे प्रिय नरेन्द्र ! जाता ही मैं अन्यत्र कहाँ ?
राम के समान सुदिव्य पुत्र किसको भू पर ?
अनुपम तेजस्वी वही, वही है वीर प्रवर
पुरुषोत्तम राम नहीं साधारण नर राजन् !
राक्षससमूह में वही एक कर सकता रण
राम ही असुर शिर का उन्मूलन कर सकता
राम ही दनुजनायक से भू पर लड़ सकता
कुछ दिन के लिए सौंप दें मुझे राम को अब
करना है मुझे समष्टि-यज्ञ आश्रम में नव
मैं स्वयं करूँगा उसे अस्त्र-विद्या प्रदान
दूँगा भविष्य के लिए उसे मैं शस्त्र ज्ञान
दुर्लभ मंत्रों को सिखला दूँगा मैं क्षण में
होगा न पराजित कभी राम राक्षस-रण में !
रख सकता वही दिव्य धन्वा पर ज्योति-बाण
इतना विक्रमी राम, इतना वह है महान
उसकी वीरता धर्म-रथ पर चलने वाली
राम ही मिटा सकता असुरों की अँधियाली
यदि आप धर्म रक्षक तो सौंपें प्रिय सुत को
मेरे रहते होगा न कहीं भी दुख उसको
मेरा सिद्धाश्रम शोण और गंगा-समीप
कोई भी उसको कष्ट नहीं होगा महीप !
वह स्वर्ण-रजत-बालुका-भूमि तप से पावन
कर सकता रघुवर वहाँ शक्ति का आराधन
संयोग एक मानिए यहाँ मेरा आना
शुभ यात्रा से राम को बहुत कुछ है पाना !'

सुन विश्वामित्र-वचन, अवाक् दशरथ कुछ क्षण
ढूँढते रहे वे समुचित उत्तर मन-ही-मन

वात्सल्य-भाव के कारण नृप निश्चेष्ट अभी
आती है ऐसी कठिन परिस्थिति कभी-कभी !
दीनतापूर्ण बोले दशरथ : 'हे पूज्यपाद !
मेरे उर में छा गया अभी किंचित् विषाद
राजीवनयन प्रिय राम अभी सुकुमार अधिक
सोलह वर्षों से भी कम आयु अर्ध विकसित
योग्यता न उसमें अभी कि कोई युद्ध करे
कोमल कुमार राक्षस से कैसे लड़े-भिड़े ?
स्वयं ही चलूँगा मैं विशाल सेना लेकर
राक्षस-विनाश के लिए करूँगा स्वयं समर
राम तो अभी बालक है,—बालक है मुनिवर !
वह नहीं चला सकता है कोई शस्त्र प्रखर
अनुभव न उसे है प्राप्त किसी समरांगण का
वह मात्र अभी आखेटक है वन-उपवन का !
तीर्थाटन से वह अभी-अभी लौटा ही है
चारों पुत्रों में ज्येष्ठ राम अति स्नेही है
मेरे हित प्राणों से भी वह प्यारा महर्षि !
मेरे दृग का सर्वोत्तम वह तारा महर्षि !
आश्चर्य कि एकाएक व्याप्त उसमें विरक्ति
कुम्हलाने लगी अचानक उसकी शौर्य-शक्ति
असमय उसकी इस स्थिति से मैं भी चिन्तित हूँ
चिन्तित ही नहीं, बहुत चिन्तित हूँ—विचलित हूँ
ऋषिश्रेष्ठ ! आपके शुभागमन से मैं पुलकित
लगता कि तप्त चिन्ता-सागर पर चन्द्र उदित
बस, कृपा आपकी बनी रहे, वन्दना यही
ले चलें मुझे ही लड़ने को, प्रार्थना यही।'

सुन कर दशरथ का कथन, कुपित कौशिक तत्क्षण
बोले वे सिर को उठा, त्वरित . 'धिक्-धिक् राजन् !
क्या वचन उलटना चाह रहे है आप अभी ?
क्या सुत विछोह-भय से मन में सन्ताप अभी ?
राम की शक्ति पर सशय स्वय पिता को ही ?
हे धर्मात्मा सम्राट् ! आप इतने मोही ?
कुलगुरु वसिष्ठ से आप कीजिए परामर्श
राम को सौंपिए मुझे अयोध्यापति ! सहर्ष
निश्चय ही यज्ञ-विनाशक दुर्बल असुर नहीं
उसके तात्त्विक उत्पातो से आक्रान्त मही
उसका वैचारिक अन्धकार हो रहा व्याप्त
आप से नहीं होगा हे राजन ! वह समाप्त
आसुरी देह में स्वय तमस्-विज्ञान भरा
भूतल पर महाअसुर रावण का वर्ग उभरा
उसके तम का पड रहा इधर भी अणु-प्रभाव
ऋषियो से भी वह राक्षसपति करता दुराव !
रावण अब अशिव साधना मे हो गया सबल
हो रहा सिन्धु के आसपास तम-कोलाहल
आता है वह असुरेन्द्र हिमालय पर भी अब
वह करता है विस्फोट सलिल-स्थल पर जब-तब
मैं महोद्देश्य से आज यहाँ आया राजन् !
पर, शक-पक मे फँसा आपका मोही मन
पुत्र की शक्ति से स्वय अपरिचित पिता हाय,
करना होगा अब मुझे अन्य कोई उपाय
अवधेश ! आप सत्वर वसिष्ठ से करे बात
है मोहग्रस्त इस समय आपका पितृगात
रघुकुल मे हुआ नही है अबतक वचन-भग
पर, आज वचन की गगा मे उलटी तरग !

कुलगुरु वसिष्ठ से किया नृपति ने परामर्श
सुन कर सारी बातें, बोले मुनिवर महर्ष :—

"कौशिक का शुभागमन न निरर्थक है भूपति !
कल्याण-कामना से सङ्कल्पित उनकी मति
उनकी इच्छा का आदर करना परम धर्म
वह्मर्षि जानते सूक्ष्म दृष्टि से विश्व मर्म
वे जो कहते हैं, वही कीजिए हे राजन् !
परिपूर्ण कीजिए हे रघुवंशी ! अपना प्रण
उपकार समय पर कर, वही उपकारी है
मिल जायें जहाँ दो फूल, वही फुलवारी है
श्रीराम नहीं हैं कोई साधारण कुमार
है उनमें अमित शक्ति, है उनमें बल अपार
ऋषियों की यज्ञ-सुरक्षा उनसे ही सम्भव
वे ही समाप्त कर सकते हैं राक्षस का रव
सौंप दें राम को आप उन्हें चुपचाप आज
कोई भी चिन्ता नहीं करें हे महाराज !
पुत्रेष्टि-यज्ञ-प्रेरणा उन्होंने ही दी थी
सत्य की अग्र कल्पना उन्होंने ही की थी
उनका भी है अधिकार राम पर हे राजन् !
कुछ सोच-समझ कर ही आए हैं वे इस क्षण
जो कमी राम में, उस पूर्ण कर देंगे वे
राम की देह पर बाँहों में भर लेंगे वे
कौशिक ऋषि को दिव्यास्त्र-शस्त्र की सिद्धि प्राप्त
उनकी वाणी में विश्व भावना सदा व्याप्त
उनके माध्यम से होगा कोई महाकार्य
उनकी आज्ञा को करें आप अब शिरोधार्य
चाहिए, उनसे मैं अभी इसी क्षण मिल आऊँ
उनके समान निर्भीक मुनीन्द्र कहाँ पाऊँ !
गायत्री-द्रष्टा वही तत्त्वदर्शी महान्
सारस्वत सिद्धि प्राप्त कर वे ही महाप्राण
गणमन्त्र-प्रणेता वही, वही समता-गायक
सचमुच ही विश्वामित्र शान्ति के उन्नायक
मन के माध्यम से प्राणात्मा के दर्शक वे
प्रत्येक दृष्टि से मानव के उत्कर्षक वे

कौशिक भारत की आत्मा के जाग्रत स्वरूप
उनकी इच्छा की पूर्ति करें हे अवध-भूप !

कौशिक-वसिष्ठ का मिलन देख, प्रमुदित भूपति
सानन्द समर्पित आज परस्पर चित्त-प्रणति
द्युतिदर्शी दृग में आह्लादित आभा उज्ज्वल
मिलते ही तो खिल उठा हृदय-आनन्द-कमल !
आए जब राम हुए कौशिक सहसा हर्षित
पद-पूजन के उपरान्त राम ऋषि-स्नेह-नमित
मुखमण्डल पर वैराग्य विवेक-प्रदीप्त कान्ति
छवि-दर्शन से ही गाधिपुत्र को मिली शान्ति !
वीरता-ज्योति देखी कौशिक ने तन-मन में
देखा कि राम हैं बँधे शील के बन्धन में
ज्ञानेन्द्रिय के रथ पर पुरुषोत्तम का प्रकाश
देखा कि अरुण अधरों पर अविरल दिव्य हास
दोनों ऋषियों ने कहा उन्हें जो कहना था
कौशिक के संग राम को कुछ दिन रहना था
वैराग्य वीरता में परिवर्तित हुआ अहा !
करबद्ध अयोध्यापति ने तब उस समय कहा :
'ब्रह्मर्षि ! राम के संग लक्ष्मण भी जाएगा
राम के बिना वह यहाँ नहीं रह पाएगा
हैं पितृ-तुल्य गुरुदेव आप ही इनके अब
कहलाएँगे ये पुरुष-सिंह लौटेंगे जब !'

नृप-निर्णय सुन, कौसल्या, कैकेयी उदास
कुम्हलाए मुख उनके ज्यों दिन में शशि-प्रकाश
देखने लगीं शैशव के सभी खिलौने वे
सोचने लगीं : 'अब कट पाएँगे दिन कैसे ?'
शिशु की लीला माताएँ नहीं भूल पातीं
सुत के विछोह के समय सौम्य सुधियाँ आतीं

लगता कि राम अब भी गोदी में खेल रहे
नृप-निर्णय के विरुद्ध अब किसको कौन कहे ?
कैकेयी ने कुछ कहा किन्तु विहँसे दशरथ
देखती व्यथित माता अब केवल ममता-पथ
सोलह वर्षों के पुत्र अभी बालक ही हैं
सौंप कर उन्हे मुनि को नृप ने गलती की है।
माता से अधिक कठोर पिता का होता उर
आजीवन मातृ-हृदय मे सुत-हित स्नेह प्रचुर
सुधि-सजल अभी तक बालकाण्ड माता-मन में
मिटता वात्सल्य तनिक आत्मज-विवाह-क्षण में।
माता से आशीर्वाद प्राप्त कर राम मुदित
कैकेयी मन-ही-मन कौशिक पर अति क्रोधित
सब करुण-मौन पर, रही सुमित्रा मुख-मलिन
हेमन्त-काल मे सरयू का ज्यों शान्त पुलिन।
पीताम्बरधारी राम महामुनि-सग आज
दोनों पुत्रों को देख, मौन अब महाराज
पलकों पर दो-दो अश्रु बिन्दु, अधरों पर स्मिति
चचल लहरों-सी होती क्रूर काल की गति।
सरयू को राम और लक्ष्मण ने किया नमन
मस्तक पर मातृभूमि का चढ़ा लिया रजकण
देखा अम्लान अयोध्या को सरयू-तट से
उड़ता-सा नीलकण्ठ पछी आया वट से
चल पड़े धनुर्धर दोनों बन्धु अभय पथ पर
दिखलाई पड़े मार्ग में विविध दृश्य सुन्दर
आते-आते आ गए अधिक वे दूर,—दूर
सहसा गरजी ताड़का महाराक्षसी क्रूर
मुनि-आज्ञा से राम ने उसे मारा शर से
हो गया अलग क्षण मे ही उसका सिर धड़ से
देखा ऋषि ने भी राम-बाण का चमत्कार
नयनों के सम्मुख वीर-रूप वह बार-बार
मरने की वेला कुटिल ताड़का चिल्लाई
उसकी कर्कश क्रन्दन-ध्वनि वन में छितराई

उठ गया चपल वातास किन्तु स्थिर हुआ त्वरित
उस दिन मुनि विश्वामित्र बहुत ही हुए मुदित
राम की शक्ति-अभिव्यक्ति देख, लोचन प्रफुल्ल
सस्मित शिव मुद्रा ब्राह्म विवेकित विष्णु-तुल्य
आजानु बाहु में दिव्य वीर्य-बल रे अपार
संधानित लक्ष्य-समक्ष न किंचित् अन्धकार
ऊर्जस्वित वक्ष-स्कन्ध, तेजस्विन दृष्टि अभय
कटि-पग में जाग्रत शक्ति शौर्य में जय ही जय
पूर्णत संयमित मनोप्राण तन रक्त-नवल
वीरोचित भृकुटि-मध्य निश्चित धारणा धवल
उर और बुद्धि संकल्पित आभा के अधीन
संस्कारी राम स्वय ही रणकौशल-प्रवीण
सिद्धाश्रम मे आ गए सभी आते-आते
आए कौशिक अपने रहस्य को बतलाते ।
कुछ ही दिन मे दिव्यास्त्र-शस्त्र-विद्या अर्पित
प्राप्त कर उसे श्रीराम हुए अतिशय पुलकित
गुरु के चरणो पर रख कर अपना ज्योतित सिर,
बोले वे 'यज्ञारम्भ करें हे मुनिवर ! फिर
हम दोनो भाई दिवस-रात पहरा देगें
प्रज्ञा-दृग से असुरो को हम विलोक लेंगे
आपकी कृपा से राक्षस-वध कर देंगे हम
होगा न हमें उनके आने पर कोई श्रम !"

फिर हुआ यज्ञ का शुभारम्भ विधिपूर्वक अब
प्रज्वलित हो गया अग्निकुण्ड मे मन्त्र-प्रणव
राम को सुनाई पड़े असुर के बाधक रव
विभु के समक्ष डर गया स्वतः आसुरी विभव !
फिर भी, मारीच असुर सेना के संग आया
आते ही वह झंझा-समान ही लहराया
अति दूर उसे राम के बाण ने फेंक दिया
राक्षस सुबाहु का रघुवर ने संहार किया

सेनाओं को लक्ष्मण ने नष्ट किया शर से
आशीष प्राप्त कर लिया राम ने मुनिवर से
गङ्गा में स्नान किया तीनों ने मन्त्र-सहित
उस दिन ही धनुष-यज्ञ की बातें हुई विदित
बोले ऋषि विश्वामित्र 'विदेह जनक योगी
भू-स्वामी होकर भी नय-निधि के वे भोगी
निमि-वंशी वे सौ-सौ ऋषियों से भी महान्
जीवित दर्शन वे स्वयं, स्वयं वे महाप्राण
कोई भी अनासक्त नृप उन-सा नहीं कहीं
उनके कारण ही मिथिला की पुण्याभ मही
उत्तर में गिरिगिरि, दक्षिण में गङ्गा-प्रवाह
उस पद्म-भूमि का ज्ञानाम्बुधि सचमुच अथाह
आध्यात्मिक नृप-गुरु याज्ञवल्क्य हैं वहीं राम,
मिथिला की जैसी भूमि कहीं है नहीं राम !
खेतों में वैसी हरियाली देखी न कहीं
सचमुच ही शस्य-श्यामला है वह यज्ञ-मही
शोभित वह अनगिन सरिता और सरोवर से
उच्चरित वेद की ऋचा नित्य व्योम्बर से
प्रत्येक खण्ड में सारस्वत साम्राज्य व्याप्त
मिथिला को सब प्रकार का गौरव सदा प्राप्त !
है घिरी जनक की पुरी हरित अमराई से
खिलते हैं उर-सरसिज आम्रिक अरुणाई में
नारी भी पुरुषों के समान पण्डिता वहाँ
सुन्दर-सुन्दर बालिका शास्त्र-सुरभिता वहाँ !
विद्या-विनयनामय विवेक कितना पावन
लगता कि जनकपुर में विशिष्टता-व्यापित मन
दूर और सरसता और मधुरता की पुकार
बहती है उस भू पर उर की पीयूष-धार
उस भू के वासी कपिल, कणाद और गौतम
है दृश्य-ब्रह्म के प्रति न कभी जन-मन में भ्रम
जीवन-महत्त्व को सभी वहाँ स्वीकार रहे
मिथिला ने भी अनेक दैविक आघात सहे !

हे राम ! वहाँ दुर्भिक्ष पडा था एक बार
भोगना पडा था कष्ट प्रिय प्रजा को अपार
बादल की एक बूँद भी भू पर नही पडी
मुरझाने लगी प्रकृति की सुषमा हरीभरी !
कुम्हला-कुम्हला कर लगे सूखने विटप-पत्र
हो गई व्याप्त भुखमरी भूमि पर यत्र-तत्र
नगे-नगे नर नगी-नगी ललनाएँ
सूखी-सूखी-सी कूप-सरोवर सरिताएँ !
खेतो की छाती फटी-फटी-सी सभी ओर
वर्षा की अनावृष्टि से दारुण दुख घोर
मानव ही नही अपितु पशु-पक्षी व्यथा विकल
कष्ट ही कष्ट से चित्त-प्राण चचल-चचल !
अन्न के बिना भूतल पर हाहाकार व्याप्त
जन-जीवन को अब घासपात भी नही प्राप्त !
जननी के स्तन मे दूध नही ! व्याकुल शिशुगण
हर ओर मरण, हर ओर मरण, हर ओर मरण !
क्रन्दन ही क्रन्दन, रोदन ही रोदन भू पर
दुस्सह विपत्ति से व्याकुल लोचन घन भू पर
सूखने लगा मानव-शरीर पीडाओ से
छटपटा उठे अब प्राण दुख-क्रीडाओ से !
नित लगे घुआँने मरघट चिता अनल से अब
कोलाहल चारो ओर व्यथा-पथ मे जब-तब
तन की हड्डियाँ दिखाई पडने लगीं हाय,
मिथिलापति ने भी किए विविध भौतिक उपाय
लेकिन अकाल-चण्डिका नाचने लगी ओर
फलहीन वाटिकाओ मे केवल शुष्क बौर !
जीवन-रक्षा-हित उपयोगी अब वृक्ष-छाल
धँस गई कृषक की आँखें, पिचके प्रिया-गाल !
था जहाँ-जहाँ पानी, थी आकुल भीड वहीं
थे उजड गए गाँव के गाँव भी कहीं-कहीं !
अनगिन पशुओ की हुई अकाल मृत्यु भू पर
सन्नाटे से श्रीहीन अनेको घर सुन्दर

वक्षस्थल फटने लगे सूर्य-ज्वालाओं से
भागने लगे अब लोग सैकड़ों गाँवों से
जलहीन मछलियाँ तड़प-तड़प कर मरीं हाय,—
मर गईं सहस्रों मेष, महिष, अज, बैल-गाय,
अब त्राहि-त्राहि, अब त्राहि-त्राहि, अब करुण रोर
भागने लगे परिवार जाह्नवी-तटी-ओर
जल जहाँ-जहाँ, जीवन-हरीतिमा वहाँ-वहीं
वैसा अकाल भूतल पर पहले पड़ा नहीं!
ज्ञानी विदेह ने याज्ञवल्क्य से की वार्ता
की शतानन्द मंत्री से व्यक्त अकाल-व्यथा
ऋषियों ने भूमि-यज्ञ का किया गूढ़ निर्णय
यज्ञोपरान्त ही मिली जनक को ज्योतिर्जय
राजर्षि जोतने लगे धरा को हल लेकर
लग गई अचानक एक गड़े घट में ठोकर
द्युतिदर्शी नृप को तत्क्षण मिली भूमि-कन्या
वह जनक-दुलारी सीता स्वयं हुई धन्या
सीता जब से अवतीर्ण, धरा पर हरियाली
फैली घर-घर में सुख-समृद्धि की नव लाली
वह शुभदा जनकसुता सीता, श्री के समान
जय-ज्योतिर्मयी जानकी स्वयं ही शक्ति-प्राण!
कोमला किशोरी ने सबको कर दिया चकित,—
जब शिव-पिनाक को उठा, एक दिन हुई मुदित
बस, यही उठा सकती थी उस धनु को कुमार!
करते हैं उसे जनक पुत्री से अधिक प्यार
जब से वह घटना घटी, स्नेह-विस्तार अधिक
सीता की गुण-गरिमा से ऋषि-मुनि भी पुलकित
उसकी अनुपम रूपाभा की चर्चा विशेष
सीता को पाकर कृषि-प्रमग्न तिरहुत-प्रदेश!
ऋतु की निसर्ग-लीलाएँ नित कृषकानुकूल
सुरभिता सस्य-मंजरी, सुगन्धित कमल-फूल
प्रत्येक आम्रवन में पहले से मीठे फल
उत्तप्त काल में भी भरपूर नदी में जल

जेठ के महीने मे भी पोखरियाँ जलमय
उस शस्य-शोभिता मिथिला मे अब जय ही जय
वासन्ती जीवन-लता, शरद्-सम्पन्न हृदय
जब से सुलक्षणा सीता प्रकटी, भू सुखमय !
ग्रीष्म मे जुही-बेली-सुगन्ध से स्वच्छ पवन
पावस के प्रथम दिवस से ही अम्बर मे घन
मिथिला मे प्रकृति-शारदा की शोभा अपार
उत्फुल्ल काम की सौम्य श्वेतिमा का प्रसार
तालावो मे खिलते हैं लाखो लाख कमल
हो जाती उन्हे देखकर आँखे स्वय विमल
श्वासो को शुचि कर देता शेफाली-सुवास
दिखलाई पडता मिथिला मे ही शरद्-हास
पूजा-प्रसन्न तिरहुत के शरद-शक्ति विकसित
लगता कि वहाँ पर आत्मतन-वीणा झकृत
चौपालो मे भी दर्शन-चिन्तन होता है
रसमय विनोद मे भी मन ज्योति सँजोता है
वह सदाचार की भूमि, शील-सुरभित भूतल
हैमन्ती हरियाली से शीतल जन-हृत्तल
पावन प्रसन्नता की चाँदनी चमकती है
उर की आध्यात्मिक कलिका स्वत गमकती है !
मधुमास-मुदित सर्वत्र शिशिर-चेतना व्याप्त
ऐश्वर्य-भोग को बोध-विभासित योग प्राप्त
वासन्ती चचलता मे तात्त्विक ग्रीष्म-अनल
पकिल मन को भी सदा स्वय पकज का बल !
सौरभ-सुधि मे भी श्रुति-प्रवाह की शुभ्र लहर
ज्ञान की किरण से अनुशासित आनन्द-डगर
करती मन को सतुलित सुसाधित अनासक्ति
मिथिला मे ज्ञान-विवेकमयी परिव्याप्त भक्ति
स्थितिप्रज्ञ राम ! है दर्शनीय राजर्षि-धरा
भारत मे सबसे अधिक वहाँ गो-धन बिखरा
उजली मिट्टी पर हरी-भरी खेती होती
नर की आभा को विमल बुद्धि ही तो ढोती !

आनन्द-ईश-रस मे बनना आत्मिक धक्कर
ज्ञान ही खोलता है सर्वदा मोह-गह्वर
उत्तम खेती, उत्तम विद्या, उद्योग वहाँ
करता है प्राप्त मनुष्य भोग मे योग वहाँ।
सीता ने जिस दिन शिव-पिनाक को उठा लिया,
राजर्षि जनक ने यह प्रण उस दिन स्वय किया
'उससे ही होगा पुत्री सीता का परिणय
जो उस पिनाक को तोड, करेगा प्राप्त विजय
सीता उसको ही वरमाला पहनाएगी
मेरी बेटी वीरत्व विभा कहलाएगी।'
हे राम! शीघ्र वह धनुष-यज्ञ होने वाला
बनती होगी अब वहाँ अभीष्ट यज्ञशाला
आमन्त्रित उसी जनकपुर में अनगिन नरेश
उस शक्ति महोत्सव का महत्त्व सचमुच विशेष
आएगा असुरराज लकापति रावण भी,—
कहलाता है जो भू पर महादशानन भी।
इच्छा होती कि तुम्हे ले चलूँ वहाँ रघुवर!
आयोजित धनुषयज्ञ वह सब विधि से सुन्दर
ऋषि-मुनियो के भी दर्शन होंगे वहाँ प्राप्त
होगी ही वहाँ विदेह शक्ति की विभा व्याप्त!"

सुन कर गुरु-वचन प्रसन्न राम, लक्ष्मण हर्षित
मिथिला-दर्शन के लिए विलोचन लालायित
कौशिक की इच्छा ही सर्वोपरि राम-हेतु
मन-ही-मन बनने लगा दिव्य कल्पना-सेतु
द्रष्टा महर्षि ने जान लिया मन का सपना
नयनों ने देख लिया नयनो का स्नेह घना।
सीता के सुखद स्वयम्वर का आभास मिला
विश्वास-वृन्त पर विमल धारणा-पद्म खिला।
आनन्द-भाव छिपता है नहीं छिपाने से
होती न ज्ञात बातें केवल बतलाने से

पटतो भीतर के वाक्य भीतरी आँखें ही
छूती हैं प्राणों को प्राणों की पाँखें ही।
उर के रहस्य को उर ही जाना करता है
आनन्द-सुमन आनन्द-मार्ग पर झरता है
सयोग मिला देता है मिलने वालो से
है ढँका हुआ ब्रह्माण्ड ज्योति के जालो से।
शिष्यो के सग महामुनि ने प्रस्थान किया
चलन की वेला मन ने शिवमय ध्यान किया
आश्रमवासी भी बहुत दूर तक साथ चले
उस मगध मार्ग मे ही दिवनान्त-प्रदीप जले
शोण की वालुका पर भी उनके चरण-चिह्न
शोण का पीन जल भी सरयूजल से अभिन्न
भावात्मक सरिता प्रेम-सिन्धु म भिन्न नही
कोई भी धारा से मानवता खिन्न नहीं।
भारत के सभी भाग मे पावन तीर्थस्थान
ऋषि-नप के कारण सभी पुण्य-सरिता महान्
हिमगिरि से सागर तक भारत-भू नित प्रणम्य
जो नहा मानता इसे, नहीं वह कभी क्षम्य।
—सुन विश्वामित्र-कथन, भारतमय हुए राम
मानस-पट पर अकित विशाल भारत ललाम
सुन कर ऋषि-मुख से भागीरथी-कथा सुन्दर,
राजीवनयन के रोमाचित पुलकित अन्तर
सुन विन्ध्याचल-आरोहण-कथा, मुदित रघुवर
ऋषि-गुरु अगस्त्य के प्रति श्रीराम सतेज मुखर
आए वे गगा-गण्डक के प्रिय सगम पर
इस पार मगध, उस पार विशाला भूमि सुघड
देख कर राम-लक्ष्मण को, नाविक मत्र-मुग्ध
गगा की श्वेत धार जैसे हिम धेनु दुग्ध
गण्डक-जल से भी रघुवर ने आचमन किया,—
तट के समीप सिकता पर कुछ क्षण भ्रमण किया।
चल पडे सभी अब आम्र और कदली-वन मे
फल-फूल-प्रचुरता देख, हर्ष सबके मन मे

आते-आते दिखलाई पड़ी महानगरी
उद्यान-मार्ग पर सबकी आँखें हरीभरी
लक्ष्मण ने पूछा ऋषि से : 'यह है कौन नगर ?
कितनी सुन्दर गृह-श्रेणी, सुन्दर स्वच्छ डगर
ऊँचे-ऊँचे प्रासाद घिरे सरिता-जल से
उद्यान-सरोवर शोभित अनगिन उत्पल से !'
बोले कौशिक 'हे वत्स ! विशाला नगरी यह
देखो, मिथिला जाने वाली है डगरी वह
प्रत्येक दृष्टि से इस जनपद में है समृद्धि
धन-धान्य और विद्या-वैभव की यहाँ वृद्धि
नर-नारी स्वस्थ और सुन्दर कर्त्तव्य-सजग
रमई न अभी तक नहीं यहाँ जीवन के मग
कमनीय कलाओं से जन-मन कोमल-कोमल
रसमयता के कारण मानव-स्वभाव शीतल
सभ्यता मगध-मिथिला-संस्कृति से मिश्रित है
उत्तम कृषि के कारण ही जन-मन पुलकित है
बाढ़ के कोप से कभी-कभी अति कष्ट यहाँ
अन्यथा विशाला-सा भू-सुख अन्यत्र कहाँ ?
निकलो जल्दी अन्यथा यहाँ रुकना होगा,—
श्रद्धा-सत्कार-समक्ष हमें झुकना होगा
हम आगे किसी नदी-तट पर रुक जाएँगे
गौतम ऋषि का आश्रम न भूल हम पाएँगे ।

मिथिला में रामचन्द्र ने सुखद प्रवेश किया
सुधियों ने दो क्षण मन को सहसा घेर लिया
बोले वे : 'गुरुवर ! यहाँ जानकी-जन्म-स्थान
उस भू की ओर चला जाता अनुमेय ध्यान !
क्या जनकपुरी के ही समीप वह पावन स्थल ?
हम नहीं देख पाएँगे क्या वह भू निर्मल ?'
—सुन राम-वचन, ऋषि ने अनुकूल, दिया उत्तर
कौशिक-वाणी से हुआ प्रफुल्ल राम-अन्तर

आते-आते गौतम-आश्रम मे आए सब
उस समय तपोवन मे प्रसन्न खग का कलरव
सुन गुरु से, शापित ऋषि-पत्नी की करुण कथा,
राम के हृदय मे व्याप्त अहल्या-प्राण-व्यथा !
वे आए वहाँ उपेक्षित जहाँ नम्र नारी
थी नष्ट गई उसके यौवन की फुलवारी
पाषाण-समान खडी थी वह जीवित प्रतिमा
थी उससे बहुत सुदूर क्षमा की शिव महिमा !
नारी अछूत वह शब्दहीन, वह स्नेह-हीन
अभिशाप-पक मे फँसी युगो से एक मीन
निष्कासित जीवन मे आशा की झलक नही
खुल पाती किसी नयन के सम्मुख पलक नहीं !
वन-कारा मे ऋषि की दारा वन्दिनी हुई
दण्डिता देह अबतक न हाय, चन्दनी हुई !
कितना काला अपराध आर्यरमणी का है
उसके हित यह ससार वस्तुत फीका है !
कितना कठोर अभिशाप दण्ड कितना कठोर
भीतर-ही-भीतर मन मे पश्चात्ताप-रोर
दुख का न ओर दुख का न छोर, दुख घोर-घोर
सम्पूर्ण देह मे कहीं नही सुख की हिलोर
ऐसी पाषाणी को अबतक देखा न कही
उर्वरा भूमि पर भी ऐसी बजरा मही ?
कामना-ज्वार के कारण इतना अन्धकार ?
सुननी ही होगी आज मूक मन की पुकार !

पाषाणी ने राम के चरण का किया स्पर्श
सप्राप्त हुआ जडमय प्राणो को आत्म-हर्ष
राम ने अहल्या का सहृदय उद्धार किया,—
उसके अछूत कर से भोजन स्वीकार किया
युग पर गौतम-पत्नी को प्रेम-प्रकाश मिला
उर के अभिशप्त सरोवर मे मन-कमल खिला !

पाकर करुणामय ज्योति अहल्या मुदित हुई
सस्कार-पूर्णिमा कमला-तट पर उदित हुई ।
विमला नारी ने उस दिन सबको किया नमन
भाई की लीला रहे देखते प्रिय लक्ष्मण
गौतम ने योग-दृष्टि से सहसा किया ध्यान
नयनों के सम्मुख राम,—राम का धनुषबाण।
ऋषि से ऋषि की रहस्य-वार्ता उस दिन वन में
दर्शन-सुख से सन्तोष प्राप्त सात्विक मन में
बोले कौशिक - 'हे गौतम ! तप निर्विघ्न नहीं
अनहोनी घटना भी घटती है कभी-कभी
शिव को भी कामदेव ने बहुत सताया था
मेनका-मोह ने मुझे अधिक अकुलाया था
कामना-लता को काल-शक्ति देती मरोड
मन ही मन में भर देता है इन्द्रिय-हिलोर
मन को विलुप्त कर देने पर भी मन जीवित
यद्यपि वसिष्ठ हुए थे मुझ पर भी क्रोधित
हम दोनों म प्रिय कामधेनु-हित हुआ समर
देखी थी बीते युग ने तात्विक क्रोध-लहर
यौवना अहल्या मे भी टूट गया सयम
उन्मुक्त वासना पर घिर ही जाता है तम
आपकी उपस्थिति में भार्या विकला न हुई
भीतर की काम-किरण चचल चपला न हुई ।
तप इधर आपका और उधर उसका तपना
है दोनों का अन्तर-महत्व अपना-अपना
तप-अनल आप में इधर, उधर कामाग्नि-ज्वाल
दोनों की मध्य-चेतना पर था खडा काल ।
ज्योंही आश्रम से आप हुए ओझल गौतम,
माधवी अहल्या-मन पर छाया चचल तम
अवनीरत इन्द्र को देख, हुई हर्षित नारी
खिल उठी उपेक्षित काम-कुसुम की मृदु क्यारी
इन्द्रत्व-राग मे रजित हुई वह क्षण में ही
भर गई भावना रोम-रोम में द्रुत देही

सयोग अकारण नही किन्तु अनुचित निश्चित
दोनो ही एक दूसरे से उस क्षण पुलकित ।
आ गए आप उस क्षण ही । रति-सुख क्रिया भांप
दे दिया आपने दोनो को ही तुरत शाप
उस पापाणी का आज आत्म-उद्धार हुआ
पाप के नष्ट होते ही पुण्य-प्रसार हुआ ।
करता है इसी तरह हे गौतम । पुरुष पाप
पर नारी उसे नही दे पाती कभी शाप
सहृदयता ही दुस्सह पीडा सह लेती है
चुप रह कर ही करुणा सब कुछ कह देती है ।
दम्पति की देह-दिव्यता मे संस्कृति पवित्र
इतिहास सँजोता है उदात्त चेतना-चित्र
जैसा जिसका अपराध, दण्ड भी वैसा ही
विश्व मे दण्ड से अधिक महत्त्व क्षमा का ही ।
शापित त्रिशकु का मैं ही कभी सहारा था
उसने ही तपोभूमि पर मुझे पुकारा था
राम ने अहल्या का हार्दिक सत्कार किया
अवरुद्ध-द्वार को स्नेह-भाव से खोल दिया ।
अब आप क्षमा का पुष्प स्वय रख दें कर मे
जल रहा धर्म-दीपक अब उसके अन्तर मे
वह अपने तप से स्वय आज अतिशय पावन
हो गया सफल उसकी आत्मा का आराधन ।'

चल पडे राम-लक्ष्मण कौशिक मुनि-सग-सग
मार्ग के अनेक प्रसगो मे गगा-प्रसग
सुन कर कठोर तप-कथा महीप भगीरथ की,
रोचकता बढती गई अधिक यात्रा-पथ की ।
सीता-अवतरण-स्थान पर वे आ गए सभी
जाने क्यो बहुत प्रसन्न राम इस समय अभी
पारावत की दो उडती जोडी दीख पडी
मानस-पट पर श्रुत कथा-चित्र-आभा बिखरी

यज्ञस्थल की पवित्र मिट्टी से स्मरण-तिलक
चितवन में पुण्यारण्य-प्रिय छटा उठी चमक
राम की हर्ष-मुद्रा विलोक कर ऋषि प्रसन्न
उनके अन्तर्मन-नयन प्रेमवश प्रभाच्छन्न।
हर ओर हरित धरती, हेमन्ती हरियाली
वन-प्रान्तर में बिखरी-सी सूरज की लाली
दौड़ती हुई मृगश्रेणी आकर मुड़ी उधर
झुण्ड की झुण्ड वह नीलगाय जा रही किधर ?
लौट कर वहाँ से आए सब लक्षित पथ पर
अमराई ही अमराई, पोखर ही पोखर
है खिले कमल ही कमल जलाशय में सुन्दर
चिकनी-उजली तृण-हरित एकपँड़िया डगर
नैसर्गिक फूलों की सुगन्ध से मँह-मँह मन
खींचता हृदय को प्रिय मिथिला का आकर्षण
गाँवों की तरु-लतिकाएँ हाथ हिलाती है
सौरभ-हिलोर खुल कर स्वागत कर जाती है।
सरसों के स्वर्ण-फूल देते हैं आमंत्रण
आँगन करने लगतीं तितली पाँखों से रण
चम्पई कदीमा-कुसुम चमकते छप्पर पर
कदुआ के श्वेत सुमन में पर्णकुटी सुन्दर
घिउरा-झिगुनी के पीत पुष्प कम नहीं सुघड़
वाटिका-सुशोभित, चित्र-लिखित हैं सबके घर
शिशु-क्रीडाएँ पीले पुआल पर जहाँ-तहाँ
तरु-नयन केवटकी, बँसविट्टी बहुत यहाँ
वट-पीपल-पाकर के नीचे शास्त्राभ्यास
फैला-फैला-सा जन-मन पर पण्डित-प्रकाश
झरती है मुख से शील-शब्द की शेफाली
बालाओं के अधरों पर निम्बौड़ी लाली।
धान की धरा पर कोदो-मकई-मड़आ भी
कटहल-रसाल के बीच मखीफा-महुआ भी
बित्ते भर की गेहूँ की नव हरियाली है
अरहर ने अब हरिताभ सफलता पा ली है।

लहकी-लहकी मिरचाई, लटके-से बैंगन
मूली के फूलों पर भी भौरों का गु जन
मनभावन कुसुम-नाग पोरो-विच्छियाँ जग
बँसवाडी के समीप जामुन, शीशम सनाऊ
केले की लाल-लाल कलियाँ खिलखिला रही
मिथिला नयनों को दृश्य-सुधा ही पिला रही
तालाबों मे भी किया राम ने सुखद स्नान,—
देखा निशीथ मे व्योम-चन्द्रिका का वितान
राम को देख कर रूप-मुग्ध नरनारी-गण
टिक जाती उनकी मुख-श्री पर युवती-चितवन
दोनो भाई की चन्द्र-कान्ति लहरा उठती
वनिताएँ उन्हे देख कर सहसा गा उठती
बज उठती उनके सम्मुख सुधि की प्रिय पिपही
हो आता स्मरण दूब-अक्षत से मिला दही
वेदी पर बैठे पाहुन की स्मृति आ जाती
नयनो मे शुभ ही शुभ की लहर लहराती !
कोई तरुणी कहती कि कहाँ से आए वे
कोई कहती कि देख कर सखि, मुसकाए वे
कहती कोई कि अभी दोनों ही हैं कुमार
कोई कहती . चलते हैं दोनों किस प्रकार !
सुकुमार देह को देख, प्रकट सुकुमार भाव
मन मे किंचित् भी नही कालिमा का प्रभाव
स्वाभाविक स्पाकर्षण की हिलकोर एक
पावन जिज्ञासा का पवित्र झकझोर एक !
कमनीय भावना की हेमन्ती शीतलता
उज्ज्वल फूलो मे सुरभित हर्ष-आनन्दलता
विद्या-विवेक के भू पर अशुभ प्रसंग नही
निर्मल विदेह मे कोई तिमिर-तरंग नही !
जा रहे जनकपुर हम —उत्तर केवल उनका
इतना ही सुन कर मन पर परिमल का झटका
सर्वत्पन धनुषयज्ञ की बातें छिपी नहीं
होने को है अब धन्य शीघ्र जानकी-मही !

खवाया ऋषि ने रामचन्द्र को गाँवों में
बिठवाया उन्हें आम-महुआ की छाहों में
पिलवाया उन्हें ईख-रस भी भोजन-वेला
जिस ओर राम-लक्ष्मण, उस ओर लगा मेला।
इस धेनु-धरा पर खीर खिलाई नारी ने
सौरभ-सगीत सुनाया प्रिय फुलवारी ने
सत्कार किया मिथिला ने भी तरकारी से
प्रिय मान-पान अपनी ही बाडी-झाडी से।
हे राम! अवध में ऐसा दही नहीं मिलता
इतना सरोज पृथिवी पर कही नहीं खिलता
होता है यहीं मखान, सुगन्धित धान यहाँ
सुनते हैं कभी पधारेंगे भगवान यहाँ
मिथिलावासी हम सीधे-सादे हैं कुमार।
हम सदा ग्रहण करते आए हैं सदाचार
आश्चर्य कि आप जनकपुर पैदल जाते हैं
हम लोगों का भी प्रेम आप अपनाते हैं।
आज्ञा हो तो हम प्रस्तुत करें बैलगाडी
हम करें यहाँ से पहुँचाने की तैयारी?
घोडे भी हम दे सकते पर, ऋषि भी तो हैं
कर सकते हम अर्पित समस्त साधन, जो हैं।

अनुपम आतिथ्य देख कर चकित राम-लक्ष्मण
बढते ही गए जनकपुर तक गतिशील चरण
पथ में पुरइन के पत्तों पर मैथिल भोजन
पूर्वीय प्रान्त का सुना महामुनि से वर्णन
मिथिला से आगे राम! अंग जनपद सुन्दर
गिरि-वन-उपवन-उद्यान उधर भी हैं मनहर
गंगा की धारा उस भू पर भी बहती है
उद्दाम कथा कोसी की, कितना कहती है।
हैं उधर मगध-सी ताड-वृक्ष की सुषमाएँ
हैं कहीं-कहीं चम्पक-वन की भी शोभाएँ

होती है गेहूँ और चने की प्रिय खेती
श्रम के अनुसार अन्न-सम्पत्ति धरा देती
प्रिय भाषी नर-नारी का कोमलतर स्वभाव
जीवन पर कला और विद्या का भी प्रभाव
हे राम ! वंग-भू पर मृदु मानव का निवास
उर सरल कि जैसे हरित शस्य पर शशिप्रकाश !
ताम्बूलित अधरों पर सुमधुर मुस्कान सदा
आती प्रति वर्ष बाढ़ की वहाँ करुण विपदा
विद्या-विनोदिनी वनिताएँ संगीतमयी
अभ्यागत का सत्कार वहाँ भी हृदय-जयी !
वंगीय भूमि से आगे कामरूप जनपद
बहता है उस भूतल पर ब्रह्मपुत्र प्रिय नद
नर से नारी की वहाँ प्रतिष्ठा बहुत अधिक
है वहाँ बंगवासी-सा ही जनगण पुलकित !
विकसित है वहाँ ग्राम-नगरों में नृत्य-कला
वैद्य की भूमि वह तन्त्र-साधना में सफल
है नीचे ब्रह्मावर्त और ऊपर लोहित
गिरि-वन-प्रदेश में व्याघ्र और गज अधिकाधिक
थे गए कभी दशरथ किरात के भू पर भी
दो-तीन बाघ छड़पे थे उनके ऊपर भी
गंगासागर का सुन्दरवन सचमुच सुन्दर
उत्कल के अम्बुधि-तट पर केलि-प्रमत्त लहर
हे राम ! कलिंग कलाकौशल में भी प्रसिद्ध
उसकी विशाल सेना गज-बल में भी प्रसिद्ध
उसके दक्षिणी छोर पर गोदावरी नदी
उसके नीचे राक्षसगण की प्रभुता बिखरी !
बढ़ता जाता लंकापति रावण का प्रभाव
करना है असुरों से भारत का अब बचाव
राक्षसी सभ्यता ऋषियों को स्वीकार नहीं
भारत को कभी अभीष्ट तमस का ज्वार नहीं
मैं एक राष्ट्र की करता हूँ कल्पना सबल
है गूँज रहा मेरे मन में गणमन्त्र विमल

सागर से महाहिमालय तक भारत विशाल
झुकता स्वदेश के सत्य-चित्र पर नित्य भाल।
मेरे अन्तर्मन मे मानव-ममता प्रकाश
मेरे दृग मे भू एक, एक ही महाकाश
हे राम! जनकपुर के समीप अब आए हम
उस अमराई मे वेद-पाठ का चलता क्रम
उस ओर पाठशाला मे शास्त्र-श्लोक मुखरित
पिंजर मे शब्द-उच्चरित प्रिय शुक लाल-हरित
करते हैं बालक योगाभ्यास उधर देखो,
बालिका उच्च शिक्षा पा रही, इधर देखो
है उधर चित्रशाला, सगीतालय भी है
उसके समीप ही ज्योतिष-विद्यालय भी है
है पाँच-पाँच गाँवो पर गुरुकुल एक-एक
मिथिला का बौद्धिक व्यसन सदा विद्या-विवेक
आओ, इस पगडण्डी मे ही अब चलें वहाँ,—
दिखलाई पडती है सुदूर वह ध्वजा जहाँ
उस अमराईं के बाद जनक का राजभवन
उसके समीप ही फूलो का विस्तृत उपवन
उसके सन्निकट अतिथिशालाएँ जहाँ-तहाँ
आनन्द वहाँ पर व्याप्त, विविध विद्वान जहाँ
लगता कि अभी से ही उत्सव का कोलाहल
देखो, उस राजमार्ग पर भी छाई हलचल
तरुणियाँ कलश भर-भर कर गाती जाती हैं,—
यज्ञ के पूर्व ही वे आनन्द मनाती हैं
बजते है मगल वाद्य अभी से चौकी पर
हे लक्ष्मण! पुर प्रारम्भ यहाँ से अति सुन्दर
है यही प्रवेश-द्वार पहला, सुचित्र-सज्जित
पृथ्वी की महिमा मध्य भाग मे वेदोद्धृत
स्वागतम्-द्वार पर याज्ञवल्क्य-वाणी अकित
इस धनुषयज्ञ मे आकर मैं हूँ बहुत मुदित!
देखें, मिलती है किसे शक्ति-सीता विमला,—
पहनाती है वरमाला किसे मुदित कमला

आए होंगे भारत के राजकुमार सभी
होता है ऐसा महामहोत्सव कभी-कभी।"
—कहते-कहते दिव्याश्रु निकल आए दृग से
कस्तूरी सुरभि स्रवित चुपचाप ज्ञान-मृग से
राम के मौन मुख को देखने लगे लक्ष्मण
कह सके उन्हें कुछ नहीं किन्तु नरसिज-लोचन।
आगे मुनि विश्वामित्र और पीछे रघुवर
कहने वाले कहते कि युवक कितने सुन्दर —
कितने मनहर—कितने सुखकर—कितने प्रियवर
दो देवपुत्र आ गए कहां से पृथ्वी पर ?
इतने शोभा-सम्पन्न पुरुष भी होते क्या ?
ऐसे नररत्नों को भू-भाग सजोते क्या ?
देख कर इन्हें अपलक लोचन, आनन्दित मन
दर्शन से ही प्रस्फुटित चित्त रोमांचित तन।
उद्यानमयी प्रिय जनकपुरी नव प्राणमयी
प्रियदर्शी राजकुमार अतुल सौन्दर्य-जयी
ऐश्वर्य सभी फीके लगते इनके सम्मुख।
इनके दर्शन से मिलता केवल सुख ही सुख।

ठहरे दोनों वे सग महर्षि आम्रवन में
सुन्दर कुटियों को देख, हर्ष उनके मन में
सुन शुभागमन उनका, मिथिलेश तुरत आए
दोनों के आत्म-मिलन से लोचन लहराए।
देख कर राम-लक्ष्मण को चकित जनक सहसा
मानो आनन्द-सुमन उनके उर पर बरसा।
परिचय पाते ही खिले और भी खिले प्राण
बरबस ही अवधराज दशरथ की ओर ध्यान
मन-ही-मन पश्चात्ताप कि 'आमन्त्रण न वहाँ।
महर्षि-कृपा से दशरथनन्दन आज यहाँ ?
मैंने समझा था, छोटे होंगे ये कुमार
पर, अहा! देख कर इन्हें हृदय में हर्ष-ज्वार।

आवश्यकता थी नहीं स्वयम्वर रचने की
अब न सभावना अपने प्रण से बचने की
राम को देख कर सीता की ही सुधि आई
दुविधा-तरंग मेरे दृग मे भी लहराई !'

जिस क्षण श्रीराम और लक्ष्मण ने किया नमन,
उत्फुल्ल प्रात-शतदल-समान विदेह-लोचन
'आए हैं यज्ञ देखने ही दशरथनन्दन'
—राजर्षि जनक विहँसे सुन, विश्वामित्र-वचन
'इन दोनो को मैं ही ले आया था घर से
हैं मारे गए अनेक असुर इनके शर से
इनके कारण ही मेरा यज्ञ सफल राजन!
मेरी इच्छा से ही इनका यह भूमि-भ्रमण
सोचा कि इन्हे भी धनुषयज्ञ दिखला ही दूँ,—
अवलोकन जनकपुरी का स्वय करा ही दूँ
दोनो ही राजकुमार शिष्य मेरे सम्प्रति
इनके शुभागमन मे मेरे मन की अनुमति!
अतएव शिविर मे नहीं, कुटी मे ही निवास
राजन्! ये यहाँ रहेंगे मेरे आसपास
आपके यहाँ तो किसी वस्तु की कमी नही
मिथिला-जैसा सत्कार अतिथि का नही कही
आते ही सबके चरण धुले शीतल जल से
स्वागत ही स्वागत प्रात-प्रात पर हृत्तल से
सम्मान-सरोवर मे अब कितना करें स्नान?
जब से आए हम यहाँ, खिले हैं पद्म-प्राण!'

सुन कर महर्षि के वचन, जनक-मन मुदित-मुदित
दर्शन कर राम-रूप आलोकित दृग पुलकित
इच्छा होती कि भवन मे ही दोनों, ठहरें
पर, मुनि-अनुशासन मे प्रशान्त मन की लहरें!

नृप के जाने के बाद दृष्टि-चचल लक्ष्मण
जाने क्यो नगर भ्रमण की इच्छा मन-ही-मन
राम ने जान ली उनके मन की छिपी बात
बोले ऋषि-अनुमति बिना अशोभन भ्रमण तात !
विश्राम-काल मे कहा राम ने 'हे मुनिवर !
लगता कि समस्त विदेहपुरी ही है सुन्दर
लक्ष्मण के मन मे दर्शन की लालसा अभी
उठती ही उसके उर मे इच्छा कभी-कभी !
वह मुझे छोड कर भी तो जा सकता न कही
सकोची वह इतना कि स्पष्ट बोलता नही
जाना अनुचित या उचित प्रश्न यह भी तो है
कह सकते हैं कुछ लोग कि ये, ये हैं—वो हैं !'
—राम की बात सुन शील-प्रसन्न महर्षि-हृदय
बोले 'तुम दोनो नगर देख आओ निर्भय
ले जाओ अपने सग-सग ही धनुष-बाण
सन्ध्या-वन्दन का रखना केवल तात ! ध्यान'

निकले दोनो ही राजकुमार नगर-पथ पर
हो गया जनकपुर इनके कारण सुन्दरतर
जिसने देखा, देखता रहा वह अनुपम छवि
लगता कि सूर्य मे चन्द्र, चन्द्र मे मोहक रवि !
ऐसे देखा, वैसे देखा, देखा—देखा
मिटती न मिटाए प्रतिबिम्बित दृग की रेखा
वह श्याम-श्वेत शोभा नयनो मे प्रथम बार
अनगिन लोचन के खुले रह गए दृष्टि-द्वार !
नख से शिख तक सुन्दरता का साम्राज्य व्याप्त
आलोकपुरुष-रचना मे विधि-कौशल समाप्त
पैदल चलने वाले ये दोनो देव-तुल्य
हे राम ! तुम्हारे प्रियदर्शन का नही मूल्य !
ओ अवध-निवासी ! पैदल ही आए हो क्या ?
ओ राजकुमारो ! रथ न यहाँ लाए हो क्या ?

अच्छा ही हुआ कि रथ पर तुम इस समय नहीं
उस पर होते तो रहते क्या तुम अभी यहीं ?
अश्व के चरण बढ़ते जाते आगे सत्वर
सचमुच तुम कितने दयावान हो हे रघुवर !
अतुलित मुख की मणिकान्ति छिटकती रहती है
आँखें आँखों को जाने क्या-क्या कहती हैं !
ओ विष्णुवसनधारी कोमल कोमलकिशोर !
देख कर तुम्हें सुख का न कहीं है ओर-छोर
तुम ही तुम केवल आज प्रसन्न जनकपुर में
झंकार उठ रही है नवयुवती-नूपुर में
सखि ! देख-देख, सखि ! देख-देख, सखि इन्हें-उन्हें
री, देव-रूप के रश्मि-बाण को कौन सह !
सीता के योग्य सुघड़ वर वह श्यामल किशोर
जाने दे और निकट उनके, री, छोड़-छोड़
आँखें चकोर, आँखें चकोर—आँख चकोर
री, छोड़-छोड़ पगली ! मैं तो दर्शन-विभोर
उस अतुल रूप के झोंके आते बार-बार
आ-आ जल्दी, सीढ़ी पर पग को रख सँवार !

जिस ओर राम, उस ओर अमृत-आनन्द-ज्वार
झनझना उठे सब की साँसों के आज तार
छत पर, छज्जे पर, भू पर भीड़ उमड़ आई,—
इतनी वासन्ती उनकी कोमल तरुणाई !
इतनी तरंग मन में न कभी भी लहराई
दृग-दृग में प्रिय दर्शन-उमंग की अगराई
शृंगार छोड़ कर दौड़ पड़ीं भावुक नारी
नयनों के बदले गालों पर काजल कारी
बिन्दी ललाट पर नहीं, कपोलों पर सुन्दर
टिकुलियाँ इधर से उधर, चोटियाँ इधर-उधर
एक ही कान में झुमका, गलहार सिर पर
एक ही हाथ में बाजू, नूपुर-शोभित कर !

जल्दी में भूषण-वसन यहाँ के वहाँ आज
इतना तन्मय आनन्द भूमि पर कहाँ आज !
जैसी जो थी, वैसी ही वह झाँकने लगी,—
झटपट ही खुले झरोखे से ताकने लगी !
जानकी योग्य श्रीराम—यही सबका विचार
पर, धनुषयज्ञ-प्रण से मन में दुविधान्धकार
ये इतने कोमल, किन्तु कठोर पिनाक अधिक
ये नहीं कदाचित् कर सकते धनु को खण्डित !
मिथिलेश प्रतिज्ञा भंग नहीं कर सकते क्या ?
जन-मन चिन्ता को वे न हाय, हर सकते क्या ?
सीता के योग्य राम ही वर—राम ही अहा !
—जिसने देखा, उसके मन ने बस यही कहा !

आते-आते वे नगर-चौक पर आए अब
उनके आते ही मन्द-सुमन छितराए अब
बालक-किशोर की भीड़ अतिथि के संग-संग
नर-नारी के तन-मन में प्रिय-दर्शन-उमंग !
इतने में लंकापति रावण का आया रथ
भर गया खचाखच जन-समूह से सुन्दर पथ
रथ से ही असुरराज ने दोनों को देखा
खिंच गई लाल लोचन में विस्मय की रेखा !
सारी की सारी भीड़ राम के ही समीप
यह देख, अचम्भित लंका के शंकित महीप
रूपाकर्षण का जादू फैला जन-मन पर !
सम्मानित सभी मार्ग पर शुभ्र श्यामसुन्दर !
चलते-चलते वे चले गए अब बहुत दूर
नाचते रहे भावुक दर्शक के मन-मयूर
यज्ञस्थल-शोभा निरख, राम-लक्ष्मण हर्षित
सुन्दर प्रबन्ध को देख, सभी के नयन चकित
राजाओं, राजकुमारों के हित स्वर्णासन
ऋषियों-मुनियों के लिए यथोचित उच्चासन

सुविशाल यज्ञ-मण्डप सज्जित सुरपुर-समान
जिस ओर दृष्टि जाती, टिक जाता उधर ध्यान
लगता कि विश्वकर्मा ने इसे बनाया है
लगता कि स्वर्ग-शिल्पी ने इसे सजाया है
लगता कि कुबेर-कोष से रत्नराशि आई
लगता कि स्वयं लक्ष्मी ने शोभा बिखराई !
इस अतुल यज्ञशाला पर सबके लुब्ध नयन
देखने लगे अब घूम-घूम कर प्रिय लक्ष्मण
सन्निकट शिवालय में भी गए युगल भ्राता
द्वार के निकट ही श्रीगणेश मंगलदाता
दोनों भाई ने किया उन्हें वन्दन सविनय
कामना यही कि यज्ञ को मिले सफलता-जय
संयोग कि भीतर सीता बाहर खड़े राम
है उधर सखी, है सखा इधर लक्ष्मण ललाम
व्रतमयी जानकी का गिरिजा-पूजन समाप्त
ध्यानावस्थित नयनों में आभा अभी व्याप्त
सहसा लोचन उस ओर, जहाँ श्रीराम मुदित
आँखें आँखों को देख-देख कर हुईं चकित !
इतने सुन्दर ? इतनी सुन्दरी ?—सुप्रश्न महत्
जानी-पहचानी-सी आभा में आभा रत
दो ही क्षण तो दृग-मिलन कि दोनों में संयम
इतनी दिव्यता कि किंचित नहीं दृष्टि में भ्रम !
'सीते !'—सम्बोधित किया सखी ने अभी वहाँ
'हे राम !'—कहा लक्ष्मण ने—'चलिए यहाँ वहाँ,—
शिवमन्दिर यहाँ ! यहाँ तो शुभ्र शिवानी हैं
पूजा करने वाली सीता कल्याणी हैं !
चलिए, पहले उस मन्दिर से ही हो आएँ
गिरिजा के पहले शिव का ही दर्शन पाएँ
जानकी बहुत ही दिव्य और पावन रघुवर !
वह रूपकिशोरी लक्ष्मी-सी अतुलित सुन्दर
उद्यान यहाँ का बड़ा मनोरम है भाई !
फूलों की सुषमा चारों ओर यहाँ छाई

लगता कि वर्ष भर रहता है ऋतुराज यहाँ
अनवरत कोकिल भी बोल रही है जहाँ-तहाँ
सुग्गों की हरी पंक्तियाँ उड़ती आती हैं
लम्बी छलांग हिरनियाँ सहर्ष लगाती हैं
पालतू मोर उड़ते-फिरते हैं इधर-उधर
निर्मित-सा रहा है पद्म-सरोवर भी सुन्दर
सुन्दर ही सुन्दर यहाँ-वहाँ —सर्वत्र बन्धु !
कितने सुन्दर लगते सरोज के पत्र बन्धु !
फूलों के लम्बे तरु पर लम्बी लतिकाएँ
प्रिय लताकुंज में निखरी पुष्पित शोभाएँ
वाटिका-वीथि के दोनों ओर कुसुम ही हैं
घेरे के चारों ओर सुमन के द्रुम ही हैं
फूल ही फूल फूल ही फूल फूल ही फूल
गमगमा रही पावन पराग की पवन-धूल
चलते-चलते कैसे हम यहाँ चले आए
उद्यान देख कर उत्सुक लोचन मुसकाए
कल प्रात पूजा-फूल-चयन-हित आएँगे
इससे सुन्दर वाटिका कहाँ हम पाएँगे ?
लगता कि पुष्प-लक्ष्मी का ही अधिवास यहाँ
लगता कि सुगन्धित शिवपार्वती-प्रकाश यहाँ
लगता कि शारदा की शुभाशा व्याप्त यहाँ
लगता कि हो गया हमें बहुत कुछ प्राप्त यहाँ !
चलिए शिव-दर्शन कर आएँ हम इसी समय
शिव ही विनष्ट कर देते हैं मन का संशय
—यह बात कही थी माता ने ही एक बार
शिव ही सुन पाते हैं शुद्धात्मा की पुकार !'

आए दोनों ही महादेव के अब सम्मुख
सीता-समान ही मिला राम को दर्शन-सुख
द्वार की ओर ज्योंही लोचन, जानकी खड़ी
उनकी आभा इनकी आभाओं पर बिखरी !

कटि-किंकिणि, नूपुर-ध्वनि में भी वन्दना एक
नत नयनों में अव्यक्त व्यक्त प्रार्थना एक
अधरों की अरुणाई पर मन की ऋचा मौन
"हे अनुपम अतिथि देवता ! तुम हो पुरुष कौन ?
मर्यादा-बँधी विदेहकुमारी मैं हूँ हे !
फिर भी नयनों ने नयनों के सुख-भार सहे
यह कैसा विधि-संयोग कि परिचयहीन मिलन
आकृष्ट कर रहे हो क्या तुम सीता का मन !
शिव के मन्दिर में विष्णु समान कौन तुम हे !
कैसे अनुरागित कण्ठ हृदय की बात कहे ?
योग में भोग करने वाली यह भूमि तात !
आकर्षण में मत भरो नयन में सुमन-रात !

भीतर श्रीराम, और सीता बाहर इस क्षण
है बँधा धर्म-बन्धन में दोनों का चिन्तन
दौड़ती हुई कुछ सखियाँ इस क्षण ही आईं
देख कर उन्हें जाने क्यों सीता सकुचाईं
आते ही बोली 'अरी जानकी ! सुन-सुन-सुन
जो कहती हूँ, तू उसे हृदय में गुन-गुन-गुन
पूजा करना पीछे, पहले सुन बात एक
लाई हूँ तेरे लिए मधुर सौगात एक
यों तो सैकड़ों वीर आए हैं यहाँ सखी !
देख कर उन्हें मेरी ये आँखें कभी थकीं।
आया राक्षस-सम्राट् भयंकर रावण भी
आए हैं बहुत कुमार, अनेकों राजन् भी
पर, उनमें दो ऐसे कि अहा ! कितने सुन्दर
सुन्दर ही नहीं अरी सीते ! वे वीर-प्रवर
वे असुरों को भी मार भगाने वाले हैं
हैं एक साँवले और एक उजियाले हैं !
साँवले अहा ! जैसे कि विष्णु-प्रतिरूप स्वयं
सुन्दरता में तो वे भूपों के भूप स्वयं

तेरी जोड़ी के योग्य वही हैं वैदेही !
इतने सुशील, इतने हँसमुख, इतने स्नेही,—
सखि ! वे ही वे केवल चर्चित इस नगरी में
केवल उनकी ही तो बात हर डगरी में
जिसने देखा, देखता रहा बस, उनको ही
सब की आँखों ने जी भर उनकी पूजा की !
नरनारी—सभी विमुग्ध, सभी आह्लादित हैं
बूढ़े, बच्चे,—सबके सब अतिशय पुलकित हैं
क्या कहूँ जानकी ! हमने भी देखा उनको
कहने दो मुझे,—मुझे कहने दो, तनिक रुको !
इस समय यहाँ दूसरा कौन सुनने वाला ?
उनके प्रकाश ने किया नगर को उजियाला
वे जहाँ-जहाँ सखि ! वहाँ-वहाँ थी भव्य भीड़
कितना मनभावन है उनका सरसिज-शरीर !
कितना आकर्षक है उनका व्यक्तित्व सुघड़
राम से अधिक कोई भी व्यक्ति नहीं सुन्दर
सीते ! पीताम्बरधारी वे कोसलकुमार
उनके शशिमुख-दर्शन से उर में अमृत-ज्वार
मनमोहक उनका रूप रसीला है सीते !
मणि-कान्ति-सदृश उनका मुख नीला है सीते !
विद्युत-मुस्कान प्रसन्न दन्तमुक्ताओं में
पीयूष-कुसुम खिलते आनन्द-लताओं में
इन नयनों में अब तक उनकी मोहिनी कान्ति
मिलती है उनके दर्शन से सुखमयी शान्ति
वे नगर-मार्ग से यज्ञस्थल की ओर गए
दर्शक के दृग में वे अपनी छवि छोड़ गए !
उस यज्ञभूमि से जाने फिर वे गए किधर
चितवन-चकोरियाँ उन्हें ढूँढती रहीं उधर
जाने दोनों चन्द्रमा किधर छिप गए हाय,
वापस आने के सिवा और सखि, क्या उपाय !
कहने आई थी यही बात—बस, यही बात
खिल जाते उनके दर्शन से सानन्द गात

शिव-गौरी से तू माँग राम को ही सीते !—
हे मृदुल मैथिली अतुल सुन्दरी नवनीते !"

आश्चर्यचकित हो गईं सभी सखियाँ उस क्षण,—
शिवमन्दिर से निकले जब राम और लक्ष्मण
सखियों ने उन्हें घेर कर सादर नमन किया
नयनों से नयनों को शीलोचित स्नेह दिया !
राम को देख कर सीता अतिशय सकुचाई
मर्यादित आँखें रूप-राग से अकुलाईं
उज्ज्वल प्रभाव से उज्ज्वलता बढ़ गई और
शुचिता की सीढ़ी पर आँख चढ़ गई और !
वैदेही बनी रही सीता उनके सम्मुख
तन-मन विभोर, पाकर मन्दिर में दर्शन-सुख
सखियों के कारण परिचय-पुष्प खिले सहसा
हो गई असह उस क्षण सौरभ-रस की वर्षा !
करना ही पड़ा उन्हें आर्योचित नमस्कार
पर, खुल न सके दोनों के कोमल कण्ठ-द्वार
हो गए शब्द असमर्थ भावमय गरिमा से
दोनों के दोनों दीपित अपनी महिमा से !
बाहर की मुद्रा पर भीतर का ही प्रभाव
क्यों हो प्रसन्नता में प्रसन्नता का दुराव ?
अधखिले अधर पर खिली हुई मुस्कान एक
मुखमण्डल पर छाया—छितराया-सा विवेक !
नयनों में अंकित छवियों पर आभा तन की
मधुरिमा हृदय में व्याप्त संयमित जीवन की
गूँजती हुई कल्पना किन्तु पावन गुंजन
जैसे श्रीराम, जानकी भी वैसी रे मन !
इस मधुर मिलन में नहीं माधवी मादकता
हिलती-डुलती है नहीं दिव्य कौमार्य-लता
उज्ज्वल मर्यादा में स्यामली उमंग नहीं
मर्यादित मन में असमय प्रेम-तरंग नहीं !

सीता सीता ही बनी रही निज गरिमा से
दामिनी नहीं निकली आनन्द-मधुरिमा से
दीपिका नहीं जल पाई पूजा के पहले
कमनीय कण्ठ से कुसुमित शब्द नहीं निकले!
निकली वह आभा जो कि निकलती है अब भी
पिघली वह करुणा जो कि पिघलती है अब भी
उमडा उतना ही स्नेह उमडना था जितना
घुमडा उतना ही भाव घुमडना था जितना
सीता पाषाण नहीं वह प्रीतिकिशोरी है
वैदेही विद्युत-सी न चचला गोरी है
ज्योति ने ज्योति को मन ही-मन पहचान लिया
दोनों ने एक दूसरे का द्युति-दान लिया!
'हे देवि! भूल के लिए क्षमा!'—बोले रघुवर,—
'देखते-देखते यों ही हम आ गए इधर
दूर से शिवालय देख हुए पुलकित लोचन
हम हुए धन्य पाकर मंगलमय शिव-दर्शन!
हम अनुमति-रहित यहाँ आए, यह अनुचित-सा
पर, राजवाटिका देख, हृदय है हर्षित-सा
देखी न कभी तक ऐसी सुरभित फुलवारी
सुरभित है सुरभित इसकी प्रिय क्यारी-क्यारी!
हम केवल धनुर्यज्ञ-दर्शन-हित आए हैं,—
इसलिए यहाँ तक इस भू पर आ पाए हैं
होती नैसर्गिक उत्सुकता दर्शक-मन में
बढ़ते-बढ़ते आ गए यहाँ इस उपवन में!
अच्छा तो नमस्कार! अब चलते हैं हम भी
होगी हम से अब भूल देवि हे! नहीं कभी
तोड़ी मैंने ही यहाँ नागरिक मर्यादा
हे देवि! अयोध्यावासी मैं सीधासादा!
अवसर से पहले ही यज्ञस्थल देख लिया
अनुपम रचना को देख, नयन को तृप्त किया
पूजा में बाधा आज स्वयं ही दी मैंने
शिवमन्दिर में प्रार्थना स्वत भी की मैंने

सयोग खींच कर ले आता है तन-मन को
सौभाग्य मिला देता जीवन से जीवन को
हम धनुषयज्ञ-परिणाम देखने को आतुर
मिथिलानगरी को देख, बहुत आनन्दित उर !"

चल पड़े राम-लक्ष्मण, सीता देखती रही
अन्तर की स्थिति को समझ किसी ने अभी नहीं।
वे धनुषयज्ञ ही यहाँ देखने आए क्या ?
उनके आने पर दुख ही दुख मिल पाए क्या ?
—सारी की सारी सखियाँ चिन्तित हुई अधिक
लेकिन सीता के अमृत-नयन सहसा सस्मित
यह देख, सहेली भी तत्क्षण खिलखिला उठी
रूप की वाटिका दीपो-सी झिलमिला उठी।
जगमगा उठी सुन्दरता की सम्मिलित कान्ति
मिट गई कदाचित् उनके मन की करुण भ्रान्ति
सीता ने सखियों को न आजतक दुख दिया,—
नयनों को पुलकित कर चिन्ता को दूर किया !
उनके आने पर पड़ा जानकी पर प्रभाव
उनके जाने पर पड़ा जानकी पर प्रभाव
होते है सभी प्रभावित आने-जाने पर
लगता कि जानकी पहले से भी अब सुन्दर !
इसके दृग-दर्पण मे उनकी आभा निश्चय
इसके मन मे गूँजने लगी है उनकी जय
उपकार-कामना से उर मे आलोक एक
उनकी बातों से ही अवगत उनका विवेक !
शिव हे ! दो उन्हे प्रणम्या शक्ति कि धनु तोड़े
दो ऐसा अवसर उन्हे कि मन से मन जोड़े
मेरी पूजा को सफल करो उनके बल से
अर्पित करती है अर्घ्य आज नयनोत्पल से !
उनके शुभागमन का सयोग शुभ उत्तम
मेरे नयनों मे नहीं व्याप्त है कोई भ्रम

आएँ हैं वे तो सत्कृत होकर जाएँ वे
जय-विजय प्राप्त कर शक्ति-सफलता पाएँ वे !

शिव की पूजा के बाद पुन: गौरी-पूजन
ध्यान में मग्न सीता का तन, सीता का मन
नत मस्तक पर अर्पित पार्वती-प्रसन्न-सुमन
आए मन्दिर में याज्ञवल्क्य ऋषि भी उस क्षण !
वैदेही की तन्मयता से वे बहुत मुदित
द्रष्टा दृग में भवितव्य ज्योति-रवि त्वरित उदित
सीता के सम्मुख पढ़ा उन्होंने स्वस्ति-मन्त्र
उर को उपलब्ध हुआ आशा का आत्म-तन्त्र !
प्रिय जनकनन्दिनी ने ऋषि-पग का किया स्पर्श
आलोकित चित्ति को देख हृदय में दिव्य हर्ष
गिरिजा-मन्दिर से लौटी सीता सखी-संग
पथ पर शृंगार-प्रसंगों की रसमय तरंग
'सीते ! तू ने ही उनको वहाँ बुलाया था
उनके नयनों न रस ही रस छलकाया था
थे राम बन गम्भीर हमारे आने पर
झरते थे हृदय-फूल उनके मुसकाने पर !
तू क्यों इतनी डूबी थी लज्जा में उस क्षण ?
तू क्यों न मिला पाई उनसे कोमल चितवन ?
मन्दिर में ही तुम दोनों की हो गई बात
तेरे लोचन में चमक रही चाँदनी रात !
हम यही चाहती हैं कि राम ही हों पाहुन
उस शीलवान कौसलकुमार में गुण ही गुण
आँखें इतनी ही खुली कि पाँखें उठे नहीं
वैसी आँखें अबतक न दिखाई पड़ी कहीं !
सीते ! तू उनकी सुधि में ही इतनी विभोर ?
क्या तेरा चित्त बना है अबतक भी चकोर ?'
—ऐसी ही चंचल बातचीत से राह कटी
वैदेही-भवन-निकट सखियों की भीड़ छँटी !

मिथिलेश जनक औ' याज्ञवल्क्य में अभी मिलन
वार्ता में मंत्री शतानन्द भी हैं इस क्षण
बोले राजर्षि 'पधारे जब से परशुराम
उनके विचार से सहमा चिन्तित नगर-ग्राम !
वे कहते हैं, शिव-धनु तुड़वाना उचित नहीं
भंजन करने वाला भी कोई नहीं कहीं
इसलिए स्थगित हो धनुषयज्ञ का उत्सव यह
मेरे हित जनक-प्रतिज्ञा ही दुस्सह-दुस्सह !
हो यहाँ सनातन विधि से ही सीता-विवाह
या ढूँढें मिथिलापति कोई दूसरी राह
शंकर-पिनाक को कोई तोड़ नहीं सकता
होगी न सुवासित स्वयम्वरा आनन्द-लता !'
'हे याज्ञवल्क्य ! मैं प्रण को कैसे भंग करूँ ?
रेणुकापुत्र अति क्रोधित, उनसे भला लड़ूँ ?
सहमत हैं विश्वामित्र नहीं उनके मत से
उनका विवेक-रथ चलता मेरे प्रण-पथ से !
कौशिक-रावण-वार्ता भी प्रण अनुकूल हुई
ब्रह्मर्षि ! प्रतिज्ञा में क्या मुझसे भूल हुई ?
राम को देख कर कैसे बहुत प्रभावित मैं
देखा है जब से उन्हें, अधीर हूँ पुलकित मैं
लेकिन अपने प्रण को कैसे त्यागूँ महर्षि !
निज धर्मवचन-पथ से कैसे भागूँ महर्षि !
भारत के सारे जनपद से आ गए वीर
लग पाई किसी स्वयम्वर में ऐसी न भीड़
राष्ट्रीय प्रश्न को टालूँ मैं कैसे भगवन् !
चाहे कर सकें वहन या नहीं, वीरत्व प्रण
हम धनुषयज्ञ-उत्सव को कैसे बन्द करें ?
क्रोधी मुनि परशुराम से हम इस समय डरें ?
उनका यह अनुचित विघ्न अशोभन है इस क्षण
शिव-द्रोही कभी नहीं है मेरा सुन्दर प्रण

पृथ्वीपुत्री जानकी-योग्य ही उत्सव यह
क्यों परशुराम के लिए पिनाक-यज्ञ दुस्सह ?'

राजर्षि-भावना शतानन्द ने अनुमोदित
दोनों के मन से याज्ञवल्क्य मुनि-मन पुलकित
बोले वे परशुराम ने मेरी हुई बात
सन्तुलित हो गया है उनका अब अनल-गात !
वे धनुषयज्ञ तक यहीं रुकेंगे उपवन में
है अब भी नास्तिक भ्रम उनके क्षोभित मन में
इतनी ही उनकी कृपा बहुत है हे राजन् !
सयमित सहा परशुराम का क्रोध-वचन
वार्ता की वेला कौशिक वहाँ उपस्थित थे
रेणुकापुत्र पर वे भी किंचित क्षोभित थे
शुभ वार्ता का परिणाम अशुभ हो सका नहीं
शीतल विवेक क्रोधानल को टो सका नहीं
सीता को स्वस्ति-मन्त्र से मैंने सिक्त किया
गिरिजा-मन्दिर में मैंने आशीर्वाद दिया
उसके मुखमण्डल पर न उदासी थी छाई
पूजा-प्रसून लेकर ही तो वह मुसकाई !
सीता के हे राजर्षि पिता ! हे योगिराज !
प्रारम्भ करें कल शुभ मुहूर्त्त में यज्ञ-काज
असमय बादल-सा विघ्न हो गया है समाप्त
अब पहले-जैसा ही उत्सव-आनन्द व्याप्त !
शुभ कार्यों में कुछ विघ्न और कुछ बाधा भी
जग-जीवन में अत्यन्त प्रबल होता भावी
आप तो स्वयं ही महामहिम ज्ञानी राजन् !
राजर्षि नहीं, जानकी-पिता का चिन्तित मन
पितृत्व-भाव से हृदय आपका अभी भरा
वात्सल्य-राग-अनुराग मृदुल मन पर बिखरा
आपने जानकी को नित नूतन स्नेह दिया
विद्या-विवेक-वाणी से उसको सबल किया !

इस प्रेम-भाव का साक्षी मैं भी हूँ राजन् !
सीता की सेवा मे मेरा भी प्रमुदित मन
लगता कि ब्याह होगा मेरी बेटी का ही
मेरे लोचन भी पिघला करते कभी-कभी !
सीता ने बारम्बार परोसा है भोजन
देने आई वह सौ-सौ बार प्रफुल्ल सुमन
शिशु सीता ने मेरी गोदी मे की क्रीडा
राजर्षि ! मुझे भी तो होगी सुखमय पीडा !
मेरे आश्रम मे जब-जब वह दौडी आई,
देख कर उसे, मेरी आँखें भी मुसकाई
लगता कि स्वय मैं भी हूँ उसका पिता नृपति !
मेरी भी तो आपके समान हृदय की गति
उसके जाने पर सूनापन छा जाएगा
सुखकर सुधि का दुख सबको यहाँ सताएगा
आपकी और मेरी ही सुता नही सीता
सारी मिथिला की पुत्री है वह नवनीता
सबकी आँखों मे अश्रु बहेंगे हे राजन् !
विह्वल महिलाओं का होगा हर्षित क्रन्दन
हा ! कर पाएगी कैसे विदा उसे रानी
उस क्षण बह जाएगा आँखो का सब पानी !
उसके बचपन के गीत प्राण मे गूँजेंगे
सजल सुधियो को करुण भाव ही पूजेंगे
स्मृति-विद्ध राग को कैसे हम सुन पाएँगे
सीता-बिछुडन मे सब के सब अकुलाएँगे !
ममता की छाया बडी निगोडी होती है
सबकी आँखें आँसू निकाल कर रोती हैं !
फटने लगता है हृदय सुता के जाने मे
अकुला उठते हैं सब उसके अकुलाने मे !
राजर्षि ! न चिन्ता परशुराम की करें आप
कटुतामय नहीं हुआ मेरा-उनका मिलाप
आपकी प्रतिज्ञा के न विरोधी वे अब है
हे जनक ! नहीं किंचित भी क्रोधी वे अब हैं !"

सम्पूर्ण नगर मे धनुपयज्ञ की उत्सुकता
सब के उर मे लहलहा रही आनन्द-लता
कोने-कोने मे आगत वीरो की चर्चा
पर, सबके मन मे राम-रूप की ही अर्चा।
जिस समय नदी में करते थे श्रीराम स्नान,
आकृष्ट हुआ मुनि परशुराम का उधर ध्यान
नयनो मे बार-बार उनकी प्रिय आकृति वह
चित्त मे चमकती-सी देवात्मामय धृति वह।
उस समय गुलाबी गगन उषा के आने पर
चल पड़े परशुधर लाली के छा जाने पर
वैदिक मंत्रो का किया उन्होंने उच्चारण
छितराए इधर-उधर भी उनके छन्द-सुमन।
अरुणोदय मे श्रीहीन सभी तारे विलीन
फैलने लगी नूतन रवि की आभा नवीन
झिलमिला रहा आकाश प्रकाश-तरगो मे
आलिंगित हृदय-चेतना नयन-उमगो मे।
निज कुटिया मे आए श्रीराम और लक्ष्मण
मुनि के समक्ष ही किया इष्ट का आराधन
दृग खुलने पर शिवविहग दिखाई पड़ा एक
आए उड़-उड़ कर उसी समय पक्षी अनेक
समुचित अवसर पर शतानन्द आए रथ पर
बोले कौशिक से 'कृपा करें अब हे मुनिवर!
अब चलें स्वयम्वर-मण्डप मे निज शिष्य-सहित
आ गए वहाँ पर आमन्त्रित जन अधिकाधिक'
—प्रेमाग्रह मे मुनि विश्वामित्र तुरत तत्पर
बैठे उनके संग राम और लक्ष्मण रथ पर
लगता कि ऋषि-पिता की दोनो सन्तान आज
आ रहा उन्हे भूपति दशरथ का ध्यान आज
दोनों पुत्रों को माताओं की सुधि आती
मिथिला मे आज अयोध्या की स्मृति लहराती

उस रंगभूमि पर आते ही दृष्टियाँ मुदित
राम को देख कर नर-नारी आनन्द-ध्वनित !
आमन्त्रित शूर-वीर नृप, राजकुमार चकित
राम का आगमन तारों में ज्यों सूर्य उदित
दोनों भाई को देख रहा वह रावण भी
हैं टिके हुए उनकी छवि पर ऋषि-लोचन भी
वीरता-वृक्ष में ज्यों मान्थित शृंगार-सुमन,—
वैसा ही अभी सुशोभित रामचन्द्र का तन
मोहित नयनों में शान्तिदायिनी कान्ति-लहर
उनकी सुन्दरता कल से आज अधिक सुन्दर !
दीर्घा से देख रही वैदेही की सखियाँ
केवल उन पर ही लगी हुई उनकी अँखियाँ
बीते दिन की सुधियाँ ज्वारों-सी आ जाती
शिव-मन्दिर की सुषमा मानस पर छितराती !
लगता कि जानकी लता-ओट से झाँक रही
आँखें आँखों का मूल्य अभी तक आँक रही
लगता कि दिखाई पड़ने वाले स्वयं चकित
सीता उनकी भी आँखों में अवनत अंकित !
राम का राजकुमार-वेश रामानुकूल
विधि से न रूप-रचना में कोई हुई भूल
सौन्दर्य-पुष्प-पंखुड़ियों से ही देह रचित
लग उन्हें, सुनयना रानी भी अति आह्लादित
सच जिसने जो कुछ कहा, वही साकार अभी
गढ़ते हैं ऐसा रूप विधाता कभी-कभी !
लम्बे लोचन पर वक्र विलम्बित भृकुटि-धनुष
क्या इतना रूपवान भी होता कहीं पुरुष ?
घुँघराले बालों पर प्रिय टोपी रत्न-जटित
कुण्डल से निकल रही रह-रह कर ज्योति-तड़ित्
ग्रीवा में चकमक चक मणि की माला ज्योतित
भुज वलय विभूषित, पीत वसन से तन शोभित
सब ने देखा—देखा सब ने राम का रूप
लगता कि राम ही सर्वोत्तम सौन्दर्य-भूप

बैठाया उन्हे जनक ने अपने ही समीप
यह देख, हुए ईर्ष्यालु अनेको नव महीप !
कौशिक के अगल-बगल मे राम और लक्ष्मण
ज्यो तप-तडाग मे स्फुटित साधना-पद्म-सुमन !
देखते रहे दोनो को ही चुपचाप सभी
ऐसा सुखमय अवसर मिलता है कभी-कभी !
मिथिलापति की आज्ञा से सीता आ पाई
सगीनमयी सखियाँ ही उन्हे लिए आई
देख कर विश्व-श्री की शोभा लोचन अकाम
सीता इतनी सुन्दरी रूप इतना ललाम !
दिव्याभा देह-वाटिका पर लहराती-सी
सुन्दरता उसे देख कर स्वयम् लजाती-सी
रच सके नहीं जिसको ब्रह्मा, वैसी सीता
दृग कैसे कहे कि है सचमुच कैसी सीता !
राम भी जिसे देखे वैसी वह वैदेही
किसमे साहस कि कहे कैसी वह वैदेही
चचलता उसमे भी पर, वह चचला नही
मुखरित वह भी पर, वह मुखरा शारदा नही !
उसमे भी शुभ कामना किन्तु रति गति न वहाँ
मन मधुर किन्तु चचला माधवी मति न वहाँ
जानकी एक ही है, एक ही रहेगी वह
अधिकाधिक चुप रह कर ही बात कहेगी वह !
निरुपमा जानकी की उपमा कैसे सम्भव ?
वह शील-शोभिता सुकुमारी सौन्दर्य-प्रणव
आते ही उसकी दृष्टि राम पर पड़ी आज
पहले से भी वह अधिक लाज मे गड़ी आज !
मण्डप-पथ मे आई वह आत्म-प्रकाश लिए
वह पृथ्वीपुत्री चमकी जय-विश्वास लिए
उसकी रूपाभा देख चकित रावण के दृग
उछला उसके तान्त्रिक मन का मदिरायित मृग !
उसके लोचन-दर्पण मे हो पूर्णिमा आज
क्षण भर दर्पनिमा-विनत उसकी लालिमा आज

राम ने निहारा उसे तनिक मुसका कर ही
देखा उसने भी उनको आँख उठा कर ही !
मन की यह लीला रहे देखते कुछ ऋषिगण
देखता रहा शिव के पिनाक को वह रावण
मर्मों से छूकर देखा पर, वह मुग्ध-मौन
'तोड़ेगा आखिर शिवधनु को रे, यहाँ कौन ?—
केवल पाषाण पिनाक नहीं, यह शक्ति-रूप
मेरे अतिरिक्त कौन है इतना बली भूप ?'
—रावण मन-ही मन सोच रहा—वह सोच रहा
सीता के अन्तर्दृग में उसमें कुछ न कहा !
'किस ऋषि का यह षड्यन्त्र कि दृष्टि नहीं बिखरी ?
क्यों मेरे मन पर उसकी ज्योति नहीं उतरी ?
छू सका नहीं मैं प्राण-रश्मि से दिव्य देह
क्या करती है वह किसी अन्य से पूर्व स्नेह ?
कहता था कौन कि शिवमन्दिर तक गया राम
वह शक्ति-वाटिका होगी ही निश्चय ललाम
—रावण मन-ही-मन सोच रहा—वह सोच रहा
सीता के अन्तर्दृग में उसमें कुछ न कहा !

प्रतिद्वन्द्वी नृपगण के मन में हलचल अंतर
जिसमें जैसा बल, वैसा ही उसमें विवर
दृग कभी जानकी-ओर, कभी उस शिवधनु पर
उद्वेलित रह-रह कर सबके उर के सागर
चिन्ता के घातचक्र में भी क्षत मन के तट
दुविधा के झकझोरों में दोलित आस्था-वट
लगता कि पिनाक-प्रदीप्त शक्ति-यात्रा दुर्गम
आभासित धूप-छाँह-सा मन का चिन्तन-क्रम !
लोभी नयनों में रूप-तरंग उमगमयी
मन की विचार-धाराएँ विविध तरंगमयी
ऊर्जानुसार अपनी-अपनी कल्पना-लहर
आसन पर ही आनन्द-मग्न कुछ वीर प्रवर !

कुछ नृप विशाल नायक निहार कर बहुत मौन
धनु-भंग-प्रश्न तो दूर उठाए उसे कौन ?
किस कठिन तत्त्व से बना हुआ है शिव-पिनाक ?
कटने वाली है आज पुरुष की यहाँ नाक !
कायर के मन मे कायरता की ही तरंग
डूबती नाव-सी भय-शंका-बोझिल उमंग
कल्पना-वीर की आँखों मे आशा अछोर
भावुकता आज अनेक रंगों से सराबोर
इतने मे विरुदावली सुनाई चारण ने
आकृष्ट किया सबके मन को उच्चारण ने !
सबका आशय यही कि धनुष जो तोड़ेगा,—
सीता से वह वैवाहिक नाता जोड़ेगा
जानकी उसे ही विजयमाल पहनाएगी—
जिसकी संकल्पित भुजा सफलता पाएगी
है शक्ति-प्रतीक स्वयं ही शिव-पिनाक भू पर
है आज अमित वीरता स्वयं ही प्रश्नोत्तर !
कहलाएगा पिनाक भंजक ही विश्व-वीर
राजर्षि प्रतिज्ञा इतनी ही है वीर-धीर !
सौ-सौ संग्राम-विजय से भी यह कठिन विजय
तोड़ेगा वही, किया जिसने द्युति-बल संचय !
पुष्पों मे जो उत्तम, उससे ही जयी शक्ति
उत्तम अनुरक्त वही जिसमे भास्वर विरक्ति
प्रण अनासक्ति महिमा से आत्म-ध्वनित-सा है
इसमे विदेह का महायोग मुखरित-सा है !
शिव-साधक स्वयं जनक अध्यात्मतत्त्व-ज्ञाता
धर्मवत् सदा पूज्या जन-हित पृथ्वीमाता
सीता का महास्वयम्वर यह संकल्प-विमल
मर्म से भरा यह धनुर्यज्ञ है धर्म-प्रबल !
यह विश्वचक्र-चिन्तन का ही परिणाम एक
इस अनुष्ठान मे ज्योतिष-आकांक्षित विवेक
सीता की जन्मकुण्डली मे ग्रह-योग अतुल
परिणय-संकल्प स्वयं ही शिव आभा-संकुल !

इस महायज्ञ मे सबका ममतामय स्वागत
ज्ञान की मही पर अभिनन्दित हर अभ्यागत
कोई भी त्रुटि यदि हुई, क्षमा हो उसके हित
सेवा का अवसर पाकर यह मिथिला पुलकित !"

सुन बंदीजन-घोषणा, मौन नृपगण कुछ क्षण
राम के कान मे बोले चुपके प्रिय लक्ष्मण
'भैया ! यह धनुषयज्ञ सचमुच मनभावन है
प्रण के शब्दो को सुन, हर्षित मेरा मन है !
है दर्शनीय यह धनुभंजन-कौतुक नवीन
देखिए उधर, राजाओ के अब मुख मलीन
लगता कि असुरपति रावण कुछ कहने वाला
भैया ! उसका मुख लगता है कितना काला !
वैसे उसकी ही अतुल वेशभूषा मणिमय
चाहता प्राप्त करना वह भी जानकी-विजय
देखिए, उधर भी उत्सुक हैं कुछ नव नृपगण
सीता के लिए उछलते है सब सौ-सौ मन !
यह रंगभूमि कितनी अपूर्व, कितनी सुन्दर
पढ रहे मंत्र उस ओर वेदपाठी सस्वर
मंगलमय पूर्ण कलश दीपाभा मे जगमग
सारे के सारे दर्शकगण ही यज्ञ-सजग
सर्वत्र सुगन्धित अगरधूम, प्रिय हवन-पवन
आध्यात्मिक निष्ठा मे निमग्न है सात्विक मन
चित्रित चबूतरे पर शोभित शिवधनु सुन्दर
आती रह-रह कर नारिकण्ठ से गीत-लहर !
सचमुच ही योग-भोगमय यह मिथिला-नगर
वन्दनवारो मे लटके-लटके लाल चमर
टटकी-टटकी कदली, टटके आम्र-पल्लव
अब बन्द हो गया है प्रशस्ति-वीणा का रव
शुभसूचक दही बड़ाओ मे झारी-झज्झर
डलिया मे श्वेत मखान, नारियल के भी फर

उस ओर गुलाबी वसन-विभूषित सब पण्डित
सब के ललाट पर लाल-लाल चन्दन लेपित !
लगता कि धनुष-भजन के बाद विवाह तुरत
वैदेही ने रक्खा ही होगा मगल व्रत
मिथिला मे भाग्यशालियो का ससुराल सरस
भैया ! कितना कमनीय आज का पुण्य दिवस !
बाहर तोरण पर मगल वाद्य निनादित है
भीतर दर्शकगण पुष्पवृक्ष-सा पुलकित है
जाने किसकी ग्रीवा में वरमाला पडती
कल्पना-पखुडी उत्सुक प्राणो पर झरती !

लक्ष्मण की बाल-सुलभ बातें सुन राम मुदित
सुन-सुन कर उनके मधुर वाक्य, कौशिक हर्षित
देखने लगे अब वे रावण की राहु-दृष्टि
नव ग्रह मे है सम्पन्न जनक की यज्ञ-सृष्टि !
एक ही राशि के दोनो—राम और रावण
है तन्त्र-वेदिका पर पिनाक-पुरुषोचित प्रण
गुरु-नदि की दृष्टि चन्द्र-रवि पर पूर्णत पडी
शनि-सफल ज्योति आलोकित चिति-पथ पर बिखरी
बोला रावण 'पहले धनु कौन उठाएगा ?
सम-बलशाली कैसे विजयी कहलाएगा ?
जो धनुष तोड दे पहले उसको प्राप्त सिद्धि
पर, पाएगा वह क्या जिसमे अति बल-समृद्धि ?
अनुमति दें तो पहले मैं ही धनु भग करूँ
मैं ही उत्सुक लोचन मे विजय-प्रकाश भरूँ !'
—सुन कर रावण का वचन, सभा मे कोलाहल
उस तर्क-प्रश्न मे व्याप्त बुद्धिमय नव हलचल
पर, राजाओं ने मानी उसकी बात प्रथम
आशंकित आँखों मे उसके प्रति अब भी भ्रम
गर्वोन्नत रावण उठा कनक-आसन से अब
उसके उठने पर फैला भीतर रव ही रव !

मूँछ पर हाथ देता वह आया वेदी पर
देख कर दर्प-मुद्रा उसकी, मृग-दृग को डर
उसकी ललियाई आँखों में अब शक्ति-अहम्
काले-काले मुख पर आसुरी तन्त्र का तम
साँसों को फुला-फुला कर दैहिक बल-संचय
जय के पहले ही ओठों पर उच्चरित विजय
मांसल वक्षस्थल पर व्यायामित पिण्ड-शिखर
ऊर्जस्वित लौह भुजाओं में दामिनी-लहर
दृग में पिनाक के बदले सीता की प्रशान्ति
भौतिकता से उत्क्रान्त देह में आत्म-भ्रान्ति
उठ भी न रहा वह धनुष ! हँस रहे दर्शकगण
मन-ही-मन सब कहते हैं 'धिक्-धिक्-धिक् रावण !'
लक्ष्मण के मुँह पर कौशिक ने रख दिया हाथ
जब कहा उन्होंने केवल 'हे रघुवीर नाथ !'
हाँफने लगा रावण, स्वेदित हो गया भाल
शिव-शक्ति धनुष इतना भारी, इतना विशाल !
झुकता रह गया रावण पर, धनु उठा नहीं
उपहास लगा होने दानव का कहीं-कहीं
लौटा वह अपने आसन पर लज्जित होकर
भभका भीतर से व्यंग्य-विकल खाकर ठोकर !
कुछ क्षण तक धनुष-निकट कोई नृप गया नहीं
अब पहले जैसा उसमें साहस रहा नहीं
रावण की हार देखकर हुए निराश सभी
कुछ ही मन में उठती उमंग है कभी-कभी !
ललकारा नृप ने ही नृप को निज आसन से
आगे बढ़ने की मिली प्रेरणा चिन्तन में
टस से मस वह शिव-चाप किसी से हुआ नहीं
भय के मारे कुछ लोगों ने तो छुआ नहीं !
छूते ही कुछ लोगों की अँगुलि में धक्के
कुछ लोग स्पर्श कर हुए तुरत हक्के-बक्के
लगता कि धनुष में शक्ति-चेतना जीवित है,—
आत्मिकता का बल भी उसमें परिलक्षित है !

टलता न टालने से, उठता न उठाने से
असमर्थ सभी अपना कर्त्तव्य निभाने से
सचमुच उसको तोड़ना असम्भव है रे मन !
खण्डित हो पाता तो खण्डित करता रावण
लगता कि व्यक्ति-बल से न टलने वाला यह
सीता ने उसे उठाया कैसे ? रे मन कह !
उसके कोमल कर में है छिपी शक्ति कैसी ?
वह नारी है लगती भी है नारी-जैसी !
उसके हाथों में किसने जादू डाल दिया ?
कैसे पिनाक को उसने कर से टाल दिया ?
है तन्त्र-मन्त्र में कितना आगे जनकपुरी
जन्तर-मन्तर से लगती सीता जुड़ी-जुड़ी !
वह जनक-साधना-घट से ही उत्पन्न हुई
वह स्वयंशक्ति से ही सुषमा-सम्पन्न हुई
खेत को जनक ने यौगिक हल से जोता था
राजर्षि महीपुत्री के महत् जन्मदाता !
वे स्वत तत्त्वदर्शी दार्शनिक, महापण्डित
उनकी दीक्षा से व्यासपुत्र शुकदेव चकित
यह धनुपवन निश्चय रहस्य-अनुरंजित है
अद्भुत रहस्य से साधक-सीता मण्डित है !
दस-बीस वीर से वह पिनाक उठ सकता क्या ?
मिथिलापति देंगे हमें भला ऐसी आज्ञा ?
यदि उठा लिया हमने तो किसको विजय प्राप्त ?
—नृपगण के मन में जिज्ञासाएँ अभी व्याप्त !
कुछ लोग बिना आज्ञा के आए वेदी पर
रावण भी आ पहुँचा सवेग उस क्षण सत्वर
सम्मिलित प्रयत्न हुआ पर ज्यों का त्यों पिनाक
बोले लक्ष्मण — हे राम ! सभी की कटी नाक !
मोटे मोटे ये लोग शक्ति में छोटे हैं
अब वे पिनाक के ओर-छोर को टोते हैं
सब लौट रहे हैं अपने मुँह को लटका कर
अब रंगभूमि में नहीं तनिक उत्साह-लहर !

सबके सब बहुत उदास, विजय-विश्वास नहीं
आँखों में आशा का अब कहीं प्रकाश नहीं
परिणाम न निकला कोई इस आयोजन का
पथ खुला नहीं वैवाहिक मंगल बन्धन का !'

•

आसन से उठ कर मिथिलापति बोले सकरुण
'लगता कि मनुज में नहीं कहीं अब इन्द्र, वरुण !
संकोच हो रहा है कुछ कहने में इस क्षण
क्या वीर-विहीन धरा,—वीरत्व-विहीन भुवन ?
इतने रण-वीर यहाँ लेकिन वीरता नमित !
असफलता देख-देख कर अब लोचन लज्जित
लगता कि नहीं होगा वैदेही का विवाह
रह जाएगी अविवाहित ही जानकी आह !
उपहास-पात्र मैं स्वयं बना अपने प्रण से
मिल गई विफलता मुझे यज्ञ-आयोजन से
सचमुच इस जग में उत्तम कोई वीर नहीं
कहना पड़ता है आज कि वीर-विहीन मही !
अभ्यागत के सम्मुख अपमान्य कहूँ कैसे ?
कुछ कहे बिना भी इस क्षण अभी रहूँ कैसे ?
उज्ज्वल कुल के नृप और कुमार यहाँ आए
फिर भी प्रसन्नता-पवन न मन पर लहराए !'

इस ओर जनक-वक्तव्य निराशा-वाक्य-नमित,
उस ओर करुण वाणी को सुन, नारियाँ व्यथित—
चिन्तित कि सुअवसर मिला न दशरथनन्दन को !
दुख, सुख—दोनों मिल रहे अभी उस रावण को !
दुख यह कि पराजित होकर ही वह जाएगा
सुख यह कि नहीं कोई सीता को पाएगा !
मिथिलेश-वचन लक्ष्मण के लिए असह्य वाण
हो गए अनलमय सहसा उनके सबल प्राण

बोले वे रामचन्द्र से : 'भाई ! सुना नही ?
जो बात जनक ने कही, उसे क्या गुना नही ?
रघुवंशी के रहते भी क्या-क्या बोल गए !
एक ही तुला पर वे हम सब को तोल गए !
क्या धनुष तोडने मे हम हैं असमर्थ यहाँ ?
आपके समान वीरवर कोई यहाँ वहाँ ?
आप तो आप ही हैं, मैं क्या उनमे भी कम ?
आज्ञा हो तो मैं तुरत मिटा दूँ नृप का भ्रम
पर हाय, धनुष से जुड़ा हुआ सीता-विवाह
अन्यथा दिखा देता अपना भी बल अथाह
खण्डित पिनाक को कर देता दो ही क्षण मे
आपकी कृपा से अमित शक्ति है लक्ष्मण मे !'

सुन ली कौशिक ने बात सुमित्रानन्दन की
जागी मगलमय इच्छा अब उनके मन की
बोले सहर्ष वे : 'तुम्हीं उठो अब हे रघुवर !
जानकी-पिता का अकुलाता कोमल अन्तर
तोड कर पिनाक, मिटाओ अब सन्ताप घोर
हे राम ! भरो जन-मन मे अब हर्षित हिलोर
मेरी अनुमति से राष्ट्र-यज्ञ को करो सफल
जाओ, कर्त्तव्य करो पूरा हे वीर विमल !'

पाकर महर्षि-आज्ञा, निष्काम राम तत्पर
गुरु-पग का नमन किया निज आसन से उठ कर
वे चले सहज मुस्कान लिए मंच की ओर
आँखें न पकड़ पाती अचरज का ओर-छोर !
तोडेंगे कैसे धनु सुन्दर-सुकुमार राम ?
कर रहे निराशा मे आशा-संचार राम
शकित नयनो मे अब भी तो शंका-तरग
सुकुमारी नारी मे आकर्षण की उमग

सीता की सखियों के उर में आनन्द अधिक
तन पुलकित, मन पुलकित, अपलक लोचन पुलकित
तोड़ें धनु को श्रीराम, ईश-वन्दना यही
लख मृदुल देह, मन में संशय भी कहीं-कहीं
सन्देह सुनयना रानी को कर रहा विकल
ममता के कारण आशा-अग्नि उर चंचल
देवता-पितर से प्रिय प्रार्थना सफलता-हित
नृप-प्रण के प्रति अति भावुक स्त्री-मन सहज कुपित !
कौशिक ऋषि पर भी किंचित रिस क्या सजनादेश
यदि भग्न न धनु, तो होगा कितना कष्ट क्लेश
साधक मृणाल तो नहीं, कठोर बहुत है वह
हे सखि, इस सत के लिए निठुर आदेश असह
अति बली असुरपति रावण जिसे उठा न सका,
कोई भी आज विजय जिस धनु पर पा न सका—
तो कैसे राम करेंगे उस पर विजय प्राप्त ?
कर देते नृप इस धनुर्यज्ञ को ही समाप्त
होता तब सहज रूप में सीता का परिणय
होती सर्वत्र यहाँ मंगलमय जय ही जय
पर, चले गए श्रीराम धनुष के निकट हाय,
कर सके नहीं राजर्षि चतुर कोई उपाय !
री देख, राम की शौर्य-कान्ति बालारुण-सी
इस समय खिल रही और अधिक आभा उनकी
तेजस्वी उनका तन, आलोकित मुखमण्डल
प्रस्फुटित मंच पर उनका दिव्य शौर्य-शतदल
छोटे हैं अभी देखने में पर, तेज अधिक
लगता कि सभी दर्शकगण में वे अधिक मुदित
उनकी मुख-मुद्रा देख, अतुल आश्चर्यचकित
लेकिन समस्त ऋषिगण इस समय बहुत पुलकित
सखि, राम कर रहे हैं सबकी वन्दना अभी
वे देख रहे इस ओर कभी, उस ओर कभी
उनके सूर्योदय से नृप-तारक सभी मलिन
अब तक थी संशय-निशा किन्तु अब स्वर्णिम दिन !

जानकी ! जानकी ! तू भी उन्हे देख ले अब
वैसी दिव्याभा जाने फिर मिल पाए कब
री, नयन मूँद कर तू किसका कर रही स्मरण ?
तेरी आभा मे भी झरते आनन्द-सुमन !
रोमांचित तेरा तन, विभोर मन भीतर से
सीते ! तू कुछ बोलती नही किसके डर से ?
हे राम ! आपके हाथो मे ही आज लाज
आपकी ओर ही देख रहा मैथिल समाज
ऐसा प्रण करना नही उचित था भूपति को
पर, नही सम्हाला ऋषियो ने उनकी मति को
है सिरिस-कोमला सीता, प्रण प्रस्तर-कठोर
कविता ज्यो एक ओर दर्शन ज्यो एक ओर !
जाने किसकी स्मृति मे सीता रस-मग्न अभी
वाणी-विहीन ऐसी रसमयता कभी-कभी
कामना-सरोवर मे सुधि की चचल मछली
इस ओर कभी, उस ओर कभी आशा उछली
मुकुलाई कमल-किशोरी कुछ-कुछ खिली हुई
उनकी सुगन्ध अब इन सासो मे मिली हुई
आकुलता की आनन्द-लहर लहराई-सी
गुमसुम सीता है खडी प्रीति-परछाई-सी !
उनको निहार कर वह अतिशय अकुलाई-सी
अपनी आँखें अपने मे बहुत लजाई-सी
बालिका वधू की आभा मे सकुचाई-सी
धीरता, वीरता के समीप अब आई-सी !
प्रेम की दिव्यता प्राणो पर छितराई-सी
लौकिकता-निकट अलौकिकता उधियाई-सी
सच्चाई अब दृग के समक्ष, सपनाई-सी
आनन्द-लता अब अगो पर लतराई-सी !
उनकी आभा अब इन आंखो मे छाई-सी
सुधि की अमराई सुधि से ही बौराई-सी
पावन पलको पर अमृत-बूँद छलकाई-सी
रवि-सदृश राम, सीता उनकी अरुणाई-सी !

लो, रामचन्द्र ने उस पिनाक को तोड़ दिया
देखा न किसी ने, कैसे उसे मरोड़ दिया
अनुमेय विज्जु-गर्जन-सा व्यापित शक्ति-रोर
दिशि-दिशि में फैल रहा उच्छल आनन्द घोर !
धनु के दो टुकड़े को भू पर रख कर सादर,—
मख के सम्मुख करबद्ध विजय-विनयी रघुवर
कौशिक ने उन्हें तुरत छाती से लगा लिया
जनगण ने दशरथनन्दन का जयकार किया !
हर्षित लक्ष्मण इतना कि नयन में अश्रु अभी
मिलती है ऐसी विजय विश्व में कभी-कभी
सीता के सुख का ओर-छोर दीखता नहीं
उत्फुल्ल महामिथिला की आज प्रणम्य मही !
आनन्द-अश्रु राजर्षि जनक के लोचन में
आनन्दाभा ऋषि याज्ञवल्क्य की चितवन में
विजयी वर को देख कर सुनयना मग्न अधिक
सीता की सारी सखियाँ पुलकित ही पुलकित
छवियों के बीच महाछवि-सी सीता ज्योतित,
यह देख, असुर रावण-मन-ही-मन अति क्रोधित
आँखों का लम्पट लाल राहु विस्फारित अब
प्रतिशोध-लहर भीतर-ही-भीतर ज्वालित अब !
वह उठ कर परशुराम से मिलने चला गया
कहना था क्रोधी राक्षस को जाने, क्या-क्या !
ईर्ष्या की आग धधकती थी उसके मन में
छल-बल छलांग मारने लगा था रावण में !
राम की विजय से नृपगण में भी विविध भाव
कुछ को प्रसन्नता प्राप्त और कुछ को दुराव
जैसा जिसमें गुण, प्रतिक्रिया उसमें वैसी
वैसी ही मनोदशा जिसकी प्रवृत्ति जैसी !
सुनकर मंगल वादन, ईर्ष्यालु वर्ग कम्पित
सुन गीत-नाद, डाही का मन अंगार-ज्वलित
दिन के प्रदीप-से जलते हैं जलने वाले
जो जितने डाही, उतने उनके मुँह काले !

जलने वाले जल-जल कर ही मर जाते हैं
करने वाले ही उचित कार्य कर जाते हैं
ईर्ष्या के कारण कलुषित हो जाता है मन
बैर ही बैर बिखराता है बैरी-जीवन
ईर्ष्यालु बुद्धि नोध ही सदैव उगल पाती
पर-कीर्ति देख कर उसकी सास अगियाती
राम के अमर यश स उद्विग्न हुआ रावण
करता न घमण्डी कभी पराई कीर्ति सहन !
जो सुख-दुख मे सतुलित शक्तिमय वही राम
विजयी होकर भी देख रहे हैं मही राम
सीता जयमाला पहनाने आ रही अभी
उसकी आंखें पड जाती उन पर कभी-कभी !
ज्यो-ज्यों जानकी निकट, भूपालो मे हलचल
अनुपम छवि-दर्शन से ईर्ष्या का वेग विकल
आंखो मे दीप्ति लिए लक्ष्मण हो गए खडे
देख कर वीर मुद्रा उनकी, नृप सभी डरे !
सीता के पीछे-पीछे गीतमयी सखियां
फडफडा रही-सी बडी-बडी उनकी अँखियां
झूमती वसन्तलता-सी विह्वल बावरियां
आनन्द-पख फैलाती यौवन की परियां !
राम के समक्ष जानकी लज्जा-सी सस्मित
नख से शिख तक इस समय देह शोभा-सुरभित
प्रिय जनक-बालिका, राम-वधू बनने वाली
उसके मुख पर सौभाग्य-सूर्य की नव लाली !
सुन्दर जयमाला सीता के सरसिज-कर मे
धर्म की धवलता व्याप्त अलकृत अन्तर मे
सखि ! पहनाओ पाहुन को अब तुम विजयमाल
है झुका हुआ इनका इस वेला स्वत भाल !
मुसकाए ज्योंही राम, खिली सीता-चितवन
जीवन मे एक बार ही मिलता ऐसा क्षण
पूजित वह स्वय हुई इस परिणय-पूजन मे
जुड गया सदा के लिए एक मन उस मन से !

झुक गए राम कुछ और तभी माला अर्पित
दोनों ही एक दूसरे से अब आनन्दित
गूँजने लगा मंगल मन्त्रों में मन्त्रस्वर
शंखध्वनि सुन कर खिला जनक का हृदय-कमल
जैसे-जैसे प्रिय गीत, सुनयना मुदित-मुदित
मृदु वाद्यवृन्द से प्रिय मण्डप आनन्द-ध्वनित
उत्फुल्ल राजरमणी, प्रफुल्ल जन-मन-हृत्तल
अनुराग-राग-रस-मग्न मधुरता का शतदल !
शृंगार-सफल सीता वीरता-विनम्र राम
कर उनका चरण-स्पर्श, वैदेही मुग्ध-सकाम
मन-ही-मन गिरिजा-स्मरण महाशिव को प्रणाम
अधरों पर अटका-सा उनका भी मधुर नाम !
इतने में भीड़ चीर कर भृगुपति का प्रवेश
भयभीत सभी, देख कर तुरन्त कराल वेश
लम्बे, गोरे तन पर विभूति का आलेपन
सिर पर सुविशाल जटा, वल्कल ही देह-वसन
उज्ज्वल ललाट पर जय-त्रिपुण्ड्र शोभायमान
मुखमण्डल पर सन्तप्त वीर रस का विहान
भौंहें इतनी टेढ़ी कि क्रोध से नेत्र लाल
तन पर शोभित यज्ञोपवीत, रुद्राक्षमाल
तूणीर पीठ पर और हाथ में धनुष-बाण
मृगचर्म कटि में, कंधे पर फरसा कृशानु—
प्रभु परशुराम आ रहे—आ रहे परशुराम
उनके आते ही किया उन्हें सब ने प्रणाम !
उठ गए सभी उनके आते ही वहाँ अभी
उनके समीप आ गए स्वयं ऋषिवृन्द सभी
हो जाय न शुभ में कहीं अशुभ, आशंका यह
होना है किसी-किसी का तब आगमन असह !
आते ही कहा उन्होंने : 'धनु किसने तोड़ा ?
काल के भाल पर किसने कसा है कोड़ा ?'
—सुनते ही यह गर्जन जनक हो गए मौन
है कौन धनुष-भंजक, इस क्षण अब कहे कौन ?

रघुनन्दन का परिचय कौशिक ने स्वयं दिया
पर, परशुराम ने यह सुनकर भी क्रोध किया
क्रोध के कुण्ड में लगा धधकने अनल-ज्वाल
दारुण दावानल से ज्यों जगत लाल-लाल।
उनके आते ही बन्द हो गए नाच-गान
छा गया तुरन्त नीरसता का नीरव वितान
सन्नाटा चारों ओर उदासी हर मुख पर
अगाग्नि परशुराम से लगता सबको डर।
देख कर रंग में भंग, सुनयना चिन्तित-सी
सीता की सखियाँ मृगया-मृग-सी विचलित-सी
क्या बनी-बनाई बात बिगड़ने वाली है ?
क्यों उनके मुख पर व्याप्त क्रोध की लाली है ?
ईर्ष्यालु भूपगण अधिक मुदित हो रहे अभी
हो रहे संघटित अवसरवादी लोग सभी
छिड़ जाय न युद्ध कहीं, ऐसी भी आशंका
लग जाय न बजने कहीं क्रोधवश रण-डंका।
सखियों की ओर करुण सीता के विकल नयन
कुछ क्षण ही पहले हर्ष किन्तु अब दुख इस क्षण
कितना परिवर्तनशील नियति का कालचक्र
शुभ ग्रह पर पड़ी अचानक शनि की दृष्टि वक्र।
आ गए राम ही स्वयं परशुधर के सम्मुख
बोले : 'भगवन्! मत करें धनुष के लिए दुःख
धनुभंजक तो आपका दास ही है मुनिवर!
जो होता है सो होने दें जग-हित सुन्दर'
—सुन राम-वचन, फिर क्रोधित परशुराम तत्क्षण
नयनों पर पड़े अचानक उनके लाल नयन :
'सहनीय कदापि नहीं सेवक का शत्रु-कार्य
तू तो रिपु-सा ही बोल रहा रे, चतुर आर्य!
परिणाम भयंकर होगा अब धनु-भंजन का
दे दिया निमंत्रण तू ने जब मुझको रण का
क्षत्रिय-संहार मुझे अब फिर करना होगा
फिर शोषकगण से ब्राह्मण को लड़ना होगा

मैं अग्निपुरुष शोषण को स्वयं मिटाऊँगा
नृप-अनाचार को मैं समाप्त कर पाऊँगा
मेरा व्यापक विप्रत्व विश्व-कल्याण-हेतु
मैं बना रहा हूँ मानवता का धर्म-सेतु
भू से कुरीतियाँ मिटें, यही मैं चाह रहा
मेरी वाणी ने शोषक को क्या-क्या न कहा
पर, सुनने वाले तो सुन कर रह जाते हैं
कुछ करने वाले ही जन-सम्मुख आते हैं
मैं नहीं मानता जन्मजात अब जात-पाँत
मैं देख चुका हूँ गजगण के बाहरी दाँत
शिव शान्ति-व्यवस्था में बाधक वर्णक अधिक
मेरा आग्नेय परशु-सम ममता-हीन कौशिक
मैं वह ब्राह्मण जिससे ब्राह्मणगण भी डरते
ब्राह्मण तो वे ही जो अधर्म का तम हरते
पर, जन्मजात उच्चता न सबको मिल पाती
देख कर पतन अब मेरी आँखें अकुलाती
व्यापार कर रहे विप्र, विप्र अब भृत्य यहाँ
शूद्र के यहाँ क्षत्रिय भी सेवक जहाँ-तहाँ
वैश्य भी शूद्र के दास, त्रिक सेनाओं में
है वर्ण-व्यवस्था घिरी बाढ़-बाधाओं में
अब सुगम-सुगम शिव मार्ग मुक्ति-पथ सदा सरल
साधना-सफल विप्रत्व भूमि पर वीर-विरल
था किया किसी ने उस अतीत में मनु-विरोध
असफल सामाजिकता पर आता सुन क्रोध
खण्डित मानवता मण्डित कब तक रह सकती ?
जीवन की गंगा उल्टी कैसे बह सकती ?
राज्यों पर सबका ध्यान, देश पर नहीं हाय,
भारत की ऐक्य-सफलता का अब क्या उपाय ?
भूपतियों की संकुचित दृष्टि हानी ही है
मानवता अवनत पृथ्वी पर रोती ही है
यों ही न लिया है मैंने भू पर जन्मस्थान
अत्याचारों से क्रुद्ध हुआ है विप्र-मान !

विप्रो को ही खोलना पडेगा विश्व-द्वार
ऋषियो को स्वय हटाना होगा अन्धकार
चिन्तक लेखक को अब आगे आना होगा
व्यापक प्रभात इस पृथ्वी पर लाना होगा
भारत को हमे बनाना होगा अब भारत
अवरुद्ध अभी तक है दक्षिण का गिरिवन-पथ
विन्ध्याचल झुका परन्तु काम है शेष वहाँ
अपना ही है—अपना ही है रे, देश वहा
कौशिक-इच्छा से ऋषि अगस्त्य हैं वहो रुके
असुरो के उत्पातो से सन्मुख वे न झुके
सामाजिकता वाली है वर्ण-व्यवस्था मे
विद्रोह कर रहा काल अनीति-अवस्था से !
सुन्दर निर्माण-हेतु विध्वस किया मैंने
शोषित जन को वीरत्व-प्रकाश दिया मैंने
शिव-धनुष तोडने वाला मेरा शत्रु प्रबल
मैं यहा मचाने आया हूँ अब उथल-पुथल
धनु-भजन से अपमानित आज शिवत्व हुआ
राजा के सुत को प्राप्त असीम महत्त्व हुआ
कधे पर कॉप रहा मेरा विद्युत्-फरसा
धनु-भजन से आग का फूट मन पर बरसा !'

सुन परशुराम का कथन, मुस्कुराए लक्ष्मण
मुकुलित मुस्कान देख कर ऋषि के लाल नयन
बोले रामानुज 'जीर्ण धनुष था, टूट गया
कम से कम शक्ति-मोह तो सबका छूट गया !
बल नही लगाना पड़ा बन्धु को भजन मे
इस कारण ही व्यापित विस्मयता जन-मन मे
छूते ही तो भाई ने धनु को तोड दिया
आजीवन मिथिला से प्रिय नाता जोड लिया !
बचपन मे तो हमने अनेक धनु तोडे हैं
पर इनके लिए आज क्यो दांत निपोडे हैं ?

एक पर एक शिल्पी नित धनुष बनाते हैं
खण्डित धनु-हित व्यर्थ ही आप पछताते हैं !'
—'बस सावधान !'—बोले भृगुपति—'तू बहुत दुष्ट
तेरी विष-भरी बात सुन कर मैं खिन्न, रुष्ट
क्रोधित हूँ—क्रोधित रे नटखट दशरथनन्दन !
फरसे पर अटका है जलता-सा मेरा मन
तू नहीं जानता मुझे कि मैं कितना निर्मम
मुझसे ही बली सहस्रबाहु का टूटा भ्रम
काटा मैंने ही उसकी दर्प-भुजाओं को
मारा मैंने ही अहं-ग्रस्त राजाओं को !
मेरे फरसे को तू न अभी पहचान रहा
तू मुझे मात्र मुनि ही अबतक है मान रहा ?
अब बकबक मत कर परशुराम के सम्मुख तू
अन्यथा मूर्ख ! पाएगा अब दुस्सह दुख तू !'
—'तो क्या मुनिवर ! आप ही एक योद्धा महान् ?
इस पृथ्वी पर आप ही एक हैं प्राणवान् ?
दिखलाते बारम्बार कुल्हाड़ी मुझे आप
सह पाते कान नहीं अब दम्भी वचन-ताप
रुई मैं नहीं कि श्वास-पवन से उड़ जाऊँ
तर्जनी-तड़ित को देख भला मैं डर जाऊँ ?
आपके वचन ही वज्र, व्यर्थ ये धनुष-बाण
मिथ्या यदि मेरी बात, क्षमा हो अग्निप्राण !
आते ही आप अकारण हम पर बरस पड़े
उत्तप्त शब्द-पत्थर के टुकड़े यहाँ झड़े !
रंग में भंग इस समय आपके आने से
गीत भी बन्द अब वाक्य-कृपाण चलाने से !'

इस बार और भी उत्तेजित प्रभु परशुराम
छूटने लगा ग्रीष्मित ललाट से बहुत घाम
बोले वे कौशिक से कि 'धृष्ट यह बालक है
मरता कुबुद्धि के कारण ही यह बालक है !'

समझाओ कौशिक ! इसे, अन्यथा मैं क्रोधित
दुष्टों के लिए स्वयं ही हूँ मैं वीर वधिक
यह निपट गँवार, निरंकुश, मल उच्छृंखल है
दम्भी है, क्रोधी है, यह कितना चंचल है !
अपनी आँखें बन्दर की तरह गुरेर रहा
देखा तुमने, यह कितना मुझको छेड़ रहा ?
सुन लो कौशिक ! अब यदि यह आग टोकेगा,—
तो समझो क्रोध-कुण्ड में निज को झोंकेगा
इसके यदि रक्षक तुम तो इसको समझाओ
मेरी अपार बल-महिमा को तुम बतलाओ
धनवानों के बेटे ऐसे ही होते हैं
अपनी करनी से दुष्ट एक दिन रोते हैं !
पन्द्रह-सोलह में ही इसमें है अति घमण्ड
जी करता, इसको कर दूँ इस क्षण खण्ड खण्ड
यह अपनी मृत्यु स्वयं ही इस क्षण बुला रहा,—
देखो, फिर हँस कर सुप्त क्रोध को जगा रहा !'

इस रगड़-झगड़ से आह्लादित खल नृप का मन
'हे परशुराम !'—फिर बोल उठे आकुल लक्ष्मण :
'अपना परिचय आपने स्वयं ही दिया आज
आपकी बात को सुन-सुन कर हर्षित समाज
कहना है यदि कुछ और, आज ही कह डालें
आपका पूर्ण परिचय हम लोग अभी पा लें
अपने मुँह से ही अपने यश को कहें आप
आप ही स्वयं कह सकते हैं अपना प्रताप !
आपकी गालियाँ सुनने में आनन्द अधिक
हो रहे आपके मुख में क्रोध-शब्द शोभित
झरती हैं वेद-ऋचाएँ तपसी मानस से
हो रहा पवित्र विवेक नचित्र क्रोध-रस से !
आपकी वचन-वीरता इस समय दर्शनीय
आपकी क्रोध-लीला सचमुच ही नाटकीय

हम धन्य हुए हैं देव ! आपके दर्शन से
लाभान्वित हम आपके धधकते चिन्तन से !
है वाक्य-वीरता का सन्तुलन आप मे ही
आपके समान प्रचण्ड वीर है कही नही
आप ही शस्त्र-शास्त्रो के हैं ज्ञाता महान्
आपकी अग्नि-वाणी ही तो चचल कृपाण
शोषक राजाओ के सहारक आप स्वयम
शोषण के बलशाली उद्धारक आप स्वयम
शिव सत्य-प्रतिष्ठा पाने वाले आप एक
हो रहा प्राप्त इस समय हमे दुर्लभ विवेक
लगता कि अयोध्या म न आप आए भृगुपति
देखी न कभी आपने वहाँ की राज्य प्रगति
हम आमन्त्रण देते उस भू पर आने का
अवसर न कदाचित आए परशु उठाने का !
सत्य ही कहा आपने कि भारत पर न ध्यान
पर, हिंसा ही क्या मानवता का है निदान ?
यदि एक देश भारत है तो यह रण कैसा ?
इस धनुपयज्ञ के बाद जलद-गर्जन कैसा ?
राजर्षि जनक ने राष्ट्र-यज्ञ ही किया आज,—
भारत-भू को एकत्व-बोध ही दिया आज
ऐसा विवाह-उत्सव भूतल पर हुआ कहाँ ?
भारत के सभी भाग के प्रतिनिधि जुट यहाँ !
इतिहास करेगा इस उत्सव का सदा स्मरण
है व्याप्त विदेह-प्रतिज्ञा में भारत-चिन्तन
विजयी पुरुषोत्तम पर विराट् दायित्व एक
इस अनुष्ठान मे भरा हुआ मगल विवेक !'

'नटखट बालक ! तू मुझे ज्ञान सिखलाता है ?'
—बोले भृगुपति–'तू मुझको यहाँ चिढ़ाता है ?'
इतना ही कह कर ऋषि ने फरसा उठा लिया !
कौशिक ने उनके क्रोधानल को शान्त किया :
'हे ! हे ! हे परशुराम ! ऐसा मत करें आप
बालक पर घातक अस्त्र उठाना महा पाप
यह लक्ष्मण अभी किशोर–अभी बालक ही है
शिष्टता अभी इसने थोड़ी ही सीखी है !
पर बोले भृगुपति 'इस पापी में शील नहीं
इसके समान उच्छृंखल बालक देखा न कहीं
जब तक न करूँ संहार क्रोध होगा न शान्त
है बुद्धिहीन इसका तन मन अति दम्भ-भ्रान्त !'
लक्ष्मण ने भी कह दिया 'आप तो शीलवान
कर मातृ-घृणित-वध, बन आप कितने महान्
इतनी प्रसिद्धि आजतक किसी को नहीं मिली
आपकी कीर्ति-पूर्णिमा चतुर्दिक खिली-खिली !
भारत के मंगलदाता स्वयं अमंगलमय
वीरता बखान रही है केवल क्रोधित जय
उद्देश्य बहुत ऊँचा लेकिन करनी कैसी
अबतक न सफलता मिली किसी को भी ऐसी !
लगता कि आपको शूर-वीर से भेंट नहीं,–
मुठभेड़ हुई है रणधीरों से नहीं कहीं
कर चुके परशुधर रक्तपात से समाधान
है चमक रहा भू पर कितना स्वर्णिम विहान !
उनकी शोणित-लीला से चारों ओर शान्ति
कितनी शिवमय है उनकी सक्षम रक्त-क्रान्ति !
समता ही समता व्याप्त, विषमता कहीं नहीं
स्वर्ग के समान सुशोभित है सब भूप-मही !
हे परशुराम ! नृप यहाँ अनेकों आए हैं
इनके भी कोमल प्राण बहुत अकुलाए हैं
बस, एक साथ सबका उद्धार करें भृगुपति !
मान लें आज मेरी भी छोटी-सी सम्मति

कल्याण करें सबका, कुठार से हे कठोर।
पर, अपनी आँखों को दौड़ाएँ उसी ओर
इस ओर अवध के वीर बहुत गंभीर धीर
काल के वक्ष को भी देंगे ये तुरत चीर
ये नहीं डरेंगे कभी परशु चमकाने से
हम नहीं चूकते कभी चुनौती पाने से
रघुवंशी सोच-समझ कर अस्त्र चलाते हैं
रण में न कभी ये अपनी पीठ दिखाते हैं।"

इस बार क्रुद्ध मुनि की आँख अब अधिक लाल
फनफना उठा-सा मुनि मानस का क्रोध-व्याल
तमतमा उठी-सी मुख-मुद्रा बात सुन कर
ज्यों ग्रीष्म-प्रचण्ड दिवाकर से दुस्सह दुपहर।
लक्ष्मण-वाणी से स्वयं राम भी व्यग्र-चकित
लेकिन कुछ ऋषिगण दीप्ति देख कर बहुत मुदित
बोले श्रीराम महामुनि से सविनय तत्क्षण
'अनभिज्ञ आपकी महिमा से बालक लक्ष्मण
यह नहीं जानता है कि आपकी क्षमता क्या
यह नहीं समझता है कि मनुष्य विषमता क्या
समता का सत्य समझना भी तो सरल नहीं
हे नाथ! अनुज के शब्दानल में गरल नहीं
इसने समझा कि आपने मेरा अशुभ किया
इसलिए चपल उत्तर इसने आपको दिया
मैंने भी अबतक सुनी नहीं बातें ऐसी
अटपटी बात इसने यह दी चटपट कैसी।
हो जाता है उत्पन्न क्रोध से तुरत पाप
कटुता के लिए क्षमा कर दें अब इसे आप।"
—सुन राम-वचन, क्रोधित मुनि का कुछ शान्त हृदय
मन को शीतल करने में सक्षम सदा विनय
क्रोध पर विजय कोमल वाणी से की जाती
क्रोध की आग शीतलता से ही बुझ पाती

लक्ष्मण ने फिर मुसका कर चिटा दिया मन को,—
मिल गया क्रोध-घृत फिर अगिनाए ईंधन को !
गरजे फिर परशुराम - 'यह दुष्ट बहुत पापी
उसके हँसने पर मेरी देह पुनः काँपी
ऊपर से गोरा पर भीतर से काला वह
तुम हो सुशील हे राम ! किन्तु खल वह दुस्सह,—
टेढ़ा भीतर से भी, टेढा ऊपर से भी
घबराता किंचित नहीं तुम्हारे डर से भी
पाटल प्रसून तुम किन्तु तुम्हारा यह काँटा
जी करता जड़ दूँ अभी गात्र पर मैं चाँटा !
कुल के कलंक को साथ यहाँ तक लाए क्यों ?
ऐसा पापी भूतल पर ही रह पाए क्यों ?
यह नीच अभी तक अपने मद में फूल रहा
बालक होकर भी मुझे आज क्या-क्या न कहा !
आश्चर्य कि मेरा फरसा मेरे कर में है
मुझसे भी अधिक क्रोध उसके अन्तर में है
क्रोध ही नहीं, उसमें उच्छृंखलता भी है
दर्प ही नहीं, उसमें अति चंचलता भी है !
सुन्दर तन लेकिन मलिन-मलिन मन उसका है
अपनी जिह्वा पर वह सदैव विष रखता है
उसकी वाणी से गरल-पुष्प ही झरते हैं
मरने वाले तो बात-बात पर मरते हैं !
क्रोधी मैं भी हूँ किन्तु क्रोध तब करता हूँ,—
जब महोद्देश्य के लिए किसी से लड़ता हूँ
पशुबल-विनाश-हित सदा कुठार उठाया है
भूतल पर यों ही नहीं परशुधर आया है
मैं ही सब काम करूँ, ऐसा सम्भव न कभी
इस समय यहाँ पर आया अभी निरर्थ नहीं
घट गई नहीं साधारण धनु-भंजन-घटना
यह बात न सम्भव मूर्खों के मन में अटना !'

'अब क्या होगा ?'—काट कर बात बोले लक्ष्मण
'क्यो खटक रहा आपको अनुचित धनु भजन
सायक को शिल्पी जोड सके, तो जुडवा लें
ऐसा करके अब आप स्वय यश को पा लें !
बाधाएँ अब डालिए स्वयम्बर मे न आप
यश मे विघ्न डालना स्वय ही महा पाप
कीजिए शान्त होकर शका का समाधान
दुखमय क्यो बना रहे है सब के अभी प्राण ?
विष-विन्दु न डाले आप अमृतघट म इस क्षण
उत्तेजित यो ही नही हुआ हे मुनि ! लक्ष्मण
ऋषि के समान आते तो रखता सिर पर रज
करता मस्तक से स्पर्श आपका पद-पकज !
पर, मेरे रहते क्रोधित मेरे अग्रज पर ?
सह पाता कैसे मैं चुप रह कर शाब्दिक शर ?
लगता कि अनुज का धर्म आप जानते नही,—
साधारण आर्य नियम को भी मानते नही ?
मेरी अनुचित वाणी मे उचित आचरित मन
मैंने न व्यर्थ धधकाया प्राणों का ईंधन
कुछ भी हूँ रामचन्द्र का प्यारा भाई हूँ
अपने ही रवि की मैं प्रसन्न अरुणाई हूँ
अपमान-शब्द का अब व्यवहार न हो मुनिवर !
धमकी सुनने पर हमे न होता कोई डर
नर तो नर है, हम नहीं राक्षसो से डरते
कुछ छेडछाड करने पर ही हम कुछ करते !
भ्राता जितने हैं विनयशील मैं नही,—नही
इतनी सज्जनता मैंने देखी नही कही
उनके कारण ही इतना चुप हूँ मैं भृगुपति
अन्यथा आप देखते वीरता की जय-गति !'

सुन कर लक्ष्मण की बात, परशुधर अब अधीर
कम्पित थर-थर-थर-थर क्रोधित ब्राह्मण-शरीर

विजयी फरसा से होने को ही अब प्रहार
हाहाकारों का करुण-करुण शब्दान्धकार
उनके सम्मुख श्रीराम, झुकाए अपना सिर
हो रहा जनक का योगी मन भी अब अस्थिर
भृगुपति के कर को कौशिक ने झट पकड़ लिया
स्थिति ने अनेक नृप-स्थानों को भी हिला दिया
प्रतिशोध-भाव उभरा अभ्यागत नृपगण में
उत्तेजित मन-ही-मन युवराज ज्वलित क्षण में
कर स्मरण पुरा घटना, भू-स्वामी सभी क्रुद्ध
तलवारें निकलीं परशुराम के ही विरुद्ध !
पर राम-भद्रता के कारण रण हुआ नहीं
प्रेम के सामने खड्गों ने तन छुआ नहीं
किस पर न पड़ा राम की मृदुलता का प्रभाव
प्रेम ही दूर कर पाता है मन का दुराव !
इस विनय-वीरता से विदेह भी हुए चकित
ऋषि याज्ञवल्क्य लीला विलोक कर योग-मुदित
विहँसे भीतर-ही-भीतर चिन्तनमय लक्ष्मण
'टेढ़ा मनुष्य भी करवा लेता निज पूजन
सीधेपन का भी अनुचित लाभ उठाता नर
मिलते हैं भाँति-भाँति के व्यक्ति धरातल पर
कर देता है रस-भंग एक क्रोधी मानव
घटती रहती विचित्र घटना जग में जब-तब !'
बोले फिर परशुराम - 'सचमुच तू चतुर बहुत
जानता नहीं, मैं कौन ? अरे ओ दशरथसुत !
अपने भाई को तू ने ही उकसाया है
मेरे मानस में क्रोध अभी तक छाया है !
तू भी दोषी है, केवल वही नहीं चञ्चल
मैं समझ रहा हूँ तेरे मन का छल-बल-छन्द
तू जल्दी उसे हटा तब होगा शान्त क्रोध
अन्यथा मुझे करना होगा रिपु-सा विरोध
आश्चर्य कि अबतक उसे नहीं मैंने मारा
मेरे दृग में क्यों चमक रहा करुणा-तारा ?

क्या परशुराम का परशु हो गया अब कुण्ठित ?
मेरा विपरीत स्वभाव आज ? धिक्-धिक्, धिक्-धिक् !
क्रोध हीं नहीं, अब ग्लानि अग्नि में जलना हूँ
लगता कि आज मैं पथ छोड़ कर चलता हूँ
शिव-द्रोही ! तुझे युद्ध मुझसे करना होगा
इस समय इसी यज्ञस्थल पर लड़ना होगा
मैं कैसा विप्र-वीर तुझको बतलाता हूँ
तू देख कि कैसे मैं कुठार चमकाता हूँ
क्रोधात्मा की समिधाग्नि निरन्तर जलती है
वीरता-ज्योति की ज्वाला सदा निकलती है !
मन-अनलकुण्ड में पशुबल की ही आहुतियाँ
आग्नेय सदा ही चिति की मन्त्रोचित स्थितियाँ
नर की आसुरी शक्ति को मुझे मिटाना है
समता-प्रभात सम्पूर्ण धरा पर लाना है
सभ्यता मलिन हो रही विषमता के कारण
कुत्सित विभेद से आकुल-व्याकुल जन-जीवन
वैषम्य मिटाएगा मेरा पौरुष अजेय
लड़ना ही है आजीवन मेरा धर्म ध्येय !'

सुन भृगुपति की वाणी, श्रीराम विनम्र अधिक
नम्रता-सरोज विवेक-सुरभि से वृन्त-नमित
'आपके सामने मैं भी तो बालक-समान
सर्वदा प्रणम्य आप ओजस्वी महाप्राण !
मैं केवल राम परन्तु आप तो परशुराम
आपके समान महान आपका महत् काम
धनु-भंजन का अभिमान नहीं है तनिक नाथ !
मेरे सिर पर आपकी कृपा का सदा हाथ
बस यही समझिए छूते ही धनु हुआ भग
इसलिए न मेरे मन में कोई सुख-तरंग
वीरता दिखाने का अवसर तो मिला नहीं
भीतरी शक्ति का शौर्य कुसुम-सा खिला नहीं !

मैं लडूँ आपसे ? यह कैसे होगा भृगुपति !
बालक हूँ पर, मद-रहित कदाचित् मेरी मति
अरि के आगे सिर नहीं झुकाता वंशी वीर
युद्ध मे नही डरता है दिव्यात्मिक शरीर
कोई भी रण मे डरने वाले हम न कभी
पर, निज प्रकाश के सम्मुख ही मैं खडा अभी
वीरत्व-अनल आपका अपरिचित नही देव !
हम देख रहे है अभी एक हैं। सही देव !
कालानुसार क्रोधाग्नि आपकी अपनी ही
अपने पर भी शका हो जाती कभी-कभी
अपने को कैसे नही आज मैं पहचानूँ ?
एकात्मकता को अभी नही कैसे मानूँ ?

सुन कर रहस्यमय राम-वचन, भृगुपति विमूक
मन-ही-मन प्रश्न-लहर कि हुई क्या यहाँ चूक ?
हो गया धरा पर क्या सचमुच रामावतार ?
इस समय यही जिज्ञासा मन मे बार-बार
क्रोधित मानस अब राम मृदुलता मे शीतल
उत्तेजित अब न अधिक प्रज्वलित अनल का बल
राम के सिवा कोई भी धनु तोडता नही,—
सीता-सम्बन्ध यहाँ कोई जोडता नही
अन्तिम शका को अभी मिटा लूँ तो अच्छा
अपने मे इनका दर्शन पा लूँ तो अच्छा
—सोच कर यही, बोले भृगुपति 'दशरथनन्दन !
आभास मिल गया फिर भी शकित मेरा मन
मेरे इस विष्णु-धनुष पर बाण चढाएँ तो
इन नयनो को असीम भुज-शक्ति दिखाएँ तो
मेरे मन का अन्तिम सन्देह मिटाएँ तो
हे राम ! अलौकिक क्षमता अब दिखलाएँ तो !'

सुन परशुराम-वाणी, श्रीराम मुदित सहसा
अधरों से उज्ज्वल अमृत-फूल ही तो बरसा
उनके आग्रह से प्रत्यंचा को तान दिया
इस प्रभु ने उस प्रभु की शंका को दूर किया !
करबद्ध राम के सम्मुख अब श्रीपरशुराम
बोले वे : 'हे प्रियदर्शी पुरुषोत्तम ललाम !
सर्वत्र आपकी जय हो महा लोकनायक !
हे मानवता के भावी शक्तिप्रभा-दायक !
अब मेरा काम समाप्त, करें अब कार्य आप
अनुचित शब्दों के लिए हृदय करता विलाप
राम से क्षमा माँगता स्वयं यह परशुराम
मेरे फरसे का अब समाप्त हो गया काम !"
—इतना कह कर वे आए अब लक्ष्मण-समीप
स्नेहालिंगन को देख, खिले आकुल महीप
भृगुपति ने सीता को भी आशीर्वाद दिया
चलने के पहले ही सबको सन्तुष्ट किया
कौशिक, विदेह औ' याज्ञवल्क्य से प्रेम-मिलन
यह दृश्य देख कर नर-नारी के मुदित नयन
उनके जाने पर शुभारम्भ फिर गीतों का
गायन-वादन का एक साथ रसमय झोंका !
राजर्षि जनक का कौशिक से अब परामर्श
सुन उनकी कोमल बात, इन्हें सप्राप्त हर्ष :
"यों तो परिणय सम्पन्न, धनुष के भंजन से
पर, वैवाहिक विधियाँ कुछ और सनातन से
दूत को अयोध्या भेजें हे मिथिलेश तुरत
इस शुभ घटना से होने दें नृप को अवगत
बारात वहाँ से आने दें तब हो विवाह
देखें उनके आने की अब सानन्द राह !"

यज्ञ के समापन की सहर्ष घोषणा हुई
मिथिलापति की ऋषि-नृपगण से प्रार्थना हुई :

'विधिवत् विवाह-उत्सव तक कृपया रकें यहीं
आपकी उपस्थिति से सम्मानित हुई मही
मिलता ऐसा सयोग किसी को कभी-कभी
कैसे प्रसन्नता व्यक्त करूँ इस समय अभी
दो अश्वारोही दूत जा रहे अवध-ओर
हे अतिथि करें दर्शन-सुख से दृग को विभोर !'

रहने वाले रह गए, गए जाने वाले
सब कैसे एक समान पुण्य-फल को पा ले
भृगुपति के जाने से कुछ के भ्रम-नेत्र खुले
पर, बन्द नयन-कालिमा तुरत किस तरह धुले !
वैवाहिक तैयारी प्रारम्भ जनकपुर में
गु जन ही गु जन चपल चरण के नूपुर मे
अनगिन शिल्पीदल के द्वारा नूतन सज-धज
बजने लग गए गीत-सयुक्त मृदग-मुरज !
रगीन चित्र मे प्राचीरो पर नव सुपमा
अतुलित विवाह-मण्डप-शोभा की क्या उपमा ?
कारीगर इतने कुशल कि रच-रच कर रचना
सुन्दरता इतनी अधिक कि नयनो को रमना !
सम्पन्न पिता भी पुत्री-परिणय-हित चिन्तित
वर-गौरव के अनुकूल भवन-गृह-पथ सज्जित
सादगी और सौन्दर्य यहाँ का दर्शनीय
फैली-फैली हर ओर मधुरता मानवीय
जा रही बसाई शिविरो की बस्ती नवीन
तन्मयता से कर रहे कार्य शिल्पी प्रवीण
दार्शनिक-भूमि पर व्याप्त काव्य-कोमलता अब
रगीन हो रही भावो की उज्ज्वलता अब !

उस ओर दूत का, दशरथ से सानन्द मिलन
पढ कर विवाह-पत्रिका, प्रफुल्ल सभी परिजन

सुन राम-पराक्रम, अति हर्षित राजा-रानी
परिव्याप्त अयोध्या म प्रमजना की वाणी।
प्रिय भरत और शत्रुघ्न भ्रातृ-जय से गर्वित
कुलगुरु वसिष्ठ राम की विजय से आत्म-मुदित
वैवाहिक तैयारी नृप की गुरु-अनुमति से
शुभ कार्य लगा होने प्रारम्भ तीव्र गति से।
लेकर सुलग्न-पत्रिका दूत निकले सर-सर
आँखो मे अंकित अवधपुरी की श्री सुन्दर
अतिशय स्वागत-सत्कार भाव से तृप्त हृदय
नृप की अपार सहृदयता की, अन्तर में जय!
दूतो ने नही किया कोई उपहार ग्रहण
नीति के विरुद्ध न ल सकते वे वित्त-वमन
दशरथ के राजभवन मे मगल गीत ध्वनित
आनन्द-नाद मे सभी रानियाँ रस-रजित।
दामिनी-कामिनी की क्रीडाएँ जहा-तहाँ
गीत ही गीत से मुखरित जन-पथ यहाँ-वहा
बारात सुसज्जित हुई वश-महिमानुरूप
उत्तम प्रबन्ध को देख-देख कर मुदित भूप
अनगिन घोडे, हाथी, पालकी और प्रिय रथ
आमन्त्रित जनगण से शोभित है सुन्दर पथ
रगीन झण्डियाँ बरछे, वाद्य-व्यूह
सज्जित तुरग-श्रेणी पर युवको का समूह
हाथी पर सोने के हौदे है कसे-कसे
ऊँट पर अनेको साधु-सन्त भी चढे-चढे
द्वार पर बहुत ही भीड, गीत की तीव्र लहर
आनन्द-तरगित आज सभी के अन्तरतर
कर गणपति का शुभ स्मरण, चढे गुरु, नृप रथ पर
गूँजने लगे प्रस्थान-काल मे शखस्वर
आगे-पीछे सेना की सजग टुकडियाँ भी
शोभा ऐसी कि मान सुरपुर की परियाँ भी।
शुभ शकुन देख कर आगे बढे अयोध्यापति
शोभायात्रा की, नगरमार्ग पर मन्थर गति

गीत ही गीत अनगिन नारी के प्रिय मुख पर
उल्लसित आज आनन्द-ज्वार से मुख्य डगर
छत पर चढ-चढ कर दृश्य देखती महिलाएँ
हो रही विभोर-विभोर कोमला ललनाएँ
युवतियाँ प्रसन्न, गोद मे शिशुओं को लेकर
ऊपर से होती पुष्पवृष्टियाँ भी भू पर
प्रासाद-शिखर से सभी रानियाँ झाँक रही
रुक-रुक जाती बारात भीड से कही-कही
कतिपय पडाव के बाद सभी आए समीप
मिथिला के भू पर आकर अति हर्षित महीप
गगातट से ही स्वागत का प्रबन्ध समुचित
रुचिकर भोजन से बाराती का मन पुलकित
अगवानी करने वाले अब आगे आए
हर्ष ही हर्ष जय-युक्त जनकपुर मे छाए
जनवासे पर राजर्षि जनक है स्वय खडे
हो रहे सभी के हृदय अभी से हरे-भरे
आई विशाल बारात वृहत् जनवासे पर
अनुपम प्रबन्ध से आह्लादित सबके अन्तर
ऋषि याज्ञवल्क्य ने धोया स्वय वसिष्ठ-चरण
दशरथ-चरणो का किया जनक ने प्रक्षालन
मिथिलावासी ने धोए अवध-जनो के पग
श्रद्धा-सत्कार देख कर आँखे स्नेह-सजग
जितने बाराती उतने ही सहृदय सेवक
मीठी-मीठी वार्ताओ से उर प्रेम-पुलक
जो जैसे, वैसी ही रस-वाणी की तरग
हर लेता है थकान को रसमय प्रिय प्रसग !
मधुजल, सुमधुर भोजन, सुरभित-स्वादिष्ट पान
तिरहुतिया खान-पान से सबके मुदित प्राण
साँसो मे खीर-सुगन्ध, अधर पर चिकनाहट
जाती न परोसी कोई वस्तु कभी अटपट !
नव-नव व्यंजन-मिष्ठान्न, दही हर बार मधुर
जनवासे के ही निकट सभी सामान प्रचुर

'शिविरों के मध्य भाग में एक गीत-मण्डप
रागानुसार त्रिण-त्रिणिन्-त्रिणिन् धा-धा-धप-धप !
है विविध मनोरंजन के साधन यहाँ-वहाँ
ऐसा आनन्द धरा पर है अन्यत्र कहाँ ?
बैठे थे स्वयं जनक दशरथ-समीप जिस क्षण,
कौशिक के संग पधारे वहाँ राम-लक्ष्मण
देखने योग्य था ऋषि-राजा का विकल मिलन
देखने योग्य था पिता-पुत्र का आलिंगन
बोले नृप 'मुनिवर ! कृपा आपकी है अपार
आपकी दया से खुला भाग्य का बन्द द्वार !
दो के बदले अब तीन आप लौटाएँगे
आपकी कृपा से हम असीम सुख पाएँगे
देते हैं बदल महर्षि भाग्य-रेखाओं को
मिल जाते मन के फूल ललित लतिकाओं को !'
—सुन दशरथ-वचन, महामुनि बोले तुरत आज :
'हम यहाँ चुकाएँगे उस ऋण का अधिक ब्याज
तीन ही नहीं, हम आठ यहाँ लौटाएँगे
ऐसा करने पर ही तो हम सुख पाएँगे !
राजर्षि जनक से बात हो गई है राजन् !
परिणय-बन्धन में बँध सकते चारों नन्दन
सौभाग्य-सुशोभित स्वयं जनकपुर-राजभवन
खिलते हैं कभी-कभी ऐसे संयोग-सुमन !
माण्डवी भरत-हित और उर्मिला लक्ष्मण-हित
शत्रुघ्न-हेतु श्रुतिकीर्ति नृपति ! उपयुक्त अधिक
अवधेश-कृपा-अनुमति-हित उत्सुक मिथिलापति
शुभदायक ही होगी आपकी सहज सहमति !'
—सुन कौशिक के उद्गार, अपार हर्ष मन में
मुस्करा उठे ऋषि-भक्त अवधपति उस क्षण में
बोले कि 'आपकी इच्छा ही मेरी इच्छा
आपकी मनोकामना स्वयं देती शिक्षा !'
—यह सुन कर बोले जनक : 'आपने धन्य किया
आपने अतुल गौरव निश्चय ही मुझे दिया

इस अनुकम्पा का ऋणी सकल परिवार आज
जयकार आज, जयकार आज, जयकार आज !
ऐसी उदारता मात्र आपमे ही समधी !
आभार मानती मिथिला की सम्पूर्ण मही
हम नही आपके योग्य किन्तु सयोग यही
मिलती है इतनी कृपा किसी को कभी-कभी !'

सुन प्रेमभरी बात वसिष्ठ अति आनन्दित
शुभ निर्णय से किसका न हृदय सहसा हर्षित
चारो दूल्हे को देख, सभी के मुदित नयन
सकुचाए शील-वृन्त पर लज्जा-ललित सुमन
निज जयी पुत्र से दशरथ ने की मधुर बात
सीधी-सीधी बाना को सुन, उत्फुल्ल गात
है पुष्प-देह राम की किन्तु उसमे अति बल
पुत्र की वीरता पर प्राणो मे कौतूहल !
जैसे वसन्त का आ जाए पहला झोंका,
सुन सुखमय जनक-वचन सब, अन्त पुर चौंका
चारो कन्याओ का विवाह अब एक साथ
कितने कृपालु हैं श्रीदशरथ वह अवधनाथ
आनन्द अधिक छा गया गीतमय आँगन मे
निस्सीम हर्ष की लहर व्याप्त नारी-मन मे
गीत की तरगें और अधिक अब उद्वेलित
प्रत्येक पुरुष-नारी इस निर्णय से पुलकित
अगहन के शुक्ल पक्ष का पचम लग्न-दिवस
छलकता जनकपुर मे वैवाहिक उत्सव-रस
ग्रह, तिथि, नक्षत्र-योग, शुभ वार-सभी उत्तम
ज्योतिष-अनुसार नहीं कोई किंचित् भी भ्रम
सहमत वसिष्ठ औ' शतानन्द सब विधि से अब
सहमत मुहूर्त से उभय पक्ष के पण्डित सब
बारात सजाने की दुपहर से तैयारी
हो रही इकट्ठी हर्षाकुल भीड भारी

निकली सजधज कर अब विशाल बारात सुखद
शोभायात्रा नयनो के लिए परम शुभ प्रद
चारो के चारो भाई चार तुरगो पर
चारो के सिर पर शोभित रत्न-मौर सुन्दर
वैवाहिक वस्त्र-विभूषित हैं चारो भाई
मागलिक विभूषण के अनुरूप विभा छाई
चन्दन से चित्रित मृदुल कपोल, ललाट सुघड
नख से शिख तक शोभायमान हैं चारो वर।
इन अनुपम दुल्हो को विलोक कर मुग्ध नयन
मन पर झरते है आकर्पण के किरण सुमन
वाद्य की मधुर मगल धुन सुन, आनन्दित मन
उस क्षण से भी अब और अधिक सुन्दर यह क्षण।
अनगिन हाथी अनगिन घोडे, हैं अनगिन रथ
हो रहे पवित्र जनकपुर के प्रिय चिक्कन पथ
रह-रह कर तूर्य-निनाद, शख के महोच्चार
नर्तक के कारण रुकना पडता बार-बार
वर को निहार कर सुन्दरियाँ लोचन-विभोर
हैं चार चन्द्र लेकिन असख्य चितवन-चकोर
दुल्हे पर रह-रह कर होती है पुष्प-वृष्टि
टिक जाती उनके मुखमण्डल पर मुग्ध दृष्टि
बारात निकट आ गई, हुई अब अगवानी
आनन्द-ध्वनित हो गई सरसता की वाणी
प्रासाद-द्वार के निकट चली आई तरग
देखने योग्य है अब नारी मन की उमग
मिथिला की मृगलोचनी उछलती अधिक अभी
शशिमुखियाँ गीत-तरगो पर आ रही सभी
झटकी अब आगे चरण बढा, गजगामिनियाँ
आई ऊपर से भू पर कोमल कामिनियाँ
आरती और मगल पदार्थ गृहिणी-कर मे
परछन का गीत निनादित पिकवयनी-स्वर मे
किंकिणी और ककण मे भी अब क्वणन-झनन
अनगिन नूपुर-पायल मे झनक-झनक गु जन।

वर को विलोक वर हुई सुनयना बहुत मुदित
परछन की वेला सबकी आँखें रूप-चकित
वर-पूजन इधर, उधर बाराती का स्वागत
सत्कार-प्रसन्न सभी सम्मानित अभ्यागत।
मिथिला के प्रथानुसार सुपूरित सब विधियाँ
वेदानुकूल ध्वनियाँ उच्चरित जय-श्रुतियाँ
स्वागत के बाद सभी लौटे जनवासे पर
सम्मान-दान से अति प्रसन्न सब के अन्तर।
राजर्षि जनक ने किया सभी को आत्म-नमन,—
स्वागत से जीत लिया सबही का कोमल मन
ऋषि याज्ञवल्क्य कौशिक-वसिष्ठ के अति समीप
चलने की वेला मिले महीपति से महीप।
जनवासे पर दासियाँ कलश लेकर आईं
मंगलता ही मंगलता आज यहाँ छाई
कन्या के सुमुख-निरीक्षण की विधि भी समाप्त
सुन्दर मडवे को देख, नयन में हर्ष व्याप्त
निश्चित मुहूर्त में शुभ विवाह का समारम्भ
गणपति-पूजन से ही पूजा का शुभारम्भ
रानी-समेत शुभ कार्यों में संलग्न जनक
सज्जित आँगन मंगल प्रदीप से चकमकचक
आँगन में गीतमयी युवती की अधिक भीड़
वैवाहिक निशि में रस निमग्न नारी-शरीर
चंचलता की चंचला छिटकती क्षण-क्षण में
रस का वसन्त उत्फुल्ल जनक के आँगन में।
चारों दुल्हे आए कि गीत लहराए अब
हर्ष ही हर्ष के शब्द-सुमन छितराए अब
जब स्वयं पुरोहित गुरु वसिष्ठ औ' शतानन्द,
छूटे कैसे विवाह का कोई मंत्र-छन्द।
कन्याओं को जब से नृप दशरथ ने देखा,
उनके नयनों में खिंची खिंची स्मिति की रेखा
वर के अनुरूप सभी बालाएँ अति सुन्दर
मांगलिक वसन-आभूषण उनके योग्य सुघर

चारों दुलहिन अब गईं बुलाई मडवे पर
गूँजने लगे शत विप्र-अधर पर मत्रस्वर
होने को अब मगल मत्रों से पाणि-ग्रहण
वर और वधू की भाँवर का भी आया क्षण
सिन्दूर माँग मे पडते ही सौभाग्यवती
श्रीमती हुई पावन परिणय से कान्तिमती
धर्म के धवल बन्धन मे अब तन-मन-चितवन
कितना पवित्र मगलमय जीवन का यह क्षण !
पीले-पीले परिधान, दिव्य शोभा मुख पर
थी सुन्दर पहले देह, और अब सुन्दरतर
बालिका वधू होते ही अतिशय मर्यादित
कोमल प्राणो पर जीवन का दायित्व अधिक
वर और वधू को देख, सभी के दृग पुलकित
मंगल दूर्वाक्षत मगल मत्र-सहित अर्पित
वधुओ ने अपने-अपने वर को देख लिया
नयनो ने नयनों को मगल आशीष दिया !
आनन्द-निमग्न जनक, आनन्द-मग्न दशरथ
फूल ही फूल से ढँका हुआ मन का सुधि-पथ
माताएँ आज विभोर, विभोर सभी सखियाँ
आँखो को देख निमग्न आज सबकी अँखियाँ !
पीली धोती पहने, प्रसन्न चारो भाई
पुलकित होकर भी आठो आँखे सकुचाईं
ग्रीवा मे अलवार, अगुलि मे अगूठी
देखकर नगीना की द्युति, बिजली भी भूठी !
इतनी सुखमय ससुराल किसी को मिली कहाँ ?—
पृथ्वी पुत्री सीता के योगी पिता जहाँ !
लक्ष्मी विराजती जहाँ, वहाँ क्या नहीं प्राप्त ?
सुख ही सुख चारो ओर यहाँ पर आज व्याप्त
अब मंगल गीत कोहबर मे गूँजने लगे
चारों वर को अब स्नेह-भरे ताम्बूल मिले
कोमल किशोरियों के रसमय परिहास आज
चंचल बातों मे मधुर-मधुर मधुमास आज !

बीती विवाह की निशा, उषा निकली नवीन
नयनों की सुधि नयनों में कैसे हो विलीन !
अनुकूल रागिनी-रस में डूबे वाद्य सकल
हेमन्ती प्रात-प्रभाकर से नभ अरुणोज्ज्वल !
रथ में चारों भाई आए जनवासे पर
देख कर उन्हें उल्लसित मार्ग पर नारी, नर
पूज्यवर पिता, गुरु से सबको आशीष प्राप्त
उनके आने में जन-मन में आनन्द व्याप्त !
अन्तःपुर में कोई भी वर रूठा न आज
अति चकित खीर-भोजन-वेला नारी-समाज
माँगा न उन्होंने सास-ससुर से भी कुछ भी
बोले इतना ही शीलवान श्रीराम अभी
'स्नेह के सिवा हम क्या माँगें हे माँ उदार !
चाहिए आपका सदा प्यार—सर्वदा प्यार
पुत्र के लिए माता का प्रेम अमृत ही तो
वैसे स्वीकार सभी कुछ, मिल जाए जो-जो !'
—यह सुन कर सखियों ने अनेक प्रिय व्यंग्य किए
माताओं ने भरपूर उन्हें उपहार दिए
मध्याह्न काल में भात-दाल का प्रिय भोजन
छप्पन प्रकार के स्वाद-सफल सुन्दर व्यंजन
गीतों में ही गालियाँ मधुर, बाराती को,—
समधी दशरथ को—उनके अपने साथी को !
ढोलक को बजा-बजा कर समधिन को गारी
मीठी चुटकी ले रही गीत-चंचल नारी !
प्रिय बासमती चावल का भात गमकता है
सुरभित चिउरे पर भी दधि खूब चमकता है
कुड़कुड़ा रहे हैं लोग तिलौरी को कड़-कड़
वे सुरक रहे हैं सकरौरी को अब सर-सर
हो रही माँग अब हर दिशि बरी-फुलौरी की
हो रही माँग बचके की और अदौरी की
चल रहा दही पर दही और उस पर शक्कर
चल रहे साग-भाजी, चटनी, पापड़, तक्कर !

मडवे पर समधी और उन्ही के सम्बन्धी
रघुवर के साथ-साथ हैं उनके अनुज सभी
गारी सुनने मे आता है आनन्द आज
झर रहे कामिनी के सुकण्ठ से छन्द आज ।
भोजन के बाद मसाला-पान-सुपारी भी
गारी सुन-सुन कर चलने की तैयारी भी
चलते-चलते भी रग के छींटे पड़ते है
आनन्द-सुमन सबकी साँसो से झरते हैं ।

इस तरह अनेको दिन बीते तब विदा-घड़ी
अन्त पुर मे सबकी आँखो मे अश्रु-लड़ी
वैवाहिक महामहोत्सव का अब करुण रग
काँपने लगी करुणा के कारण रस-तरग
शृ गार-वेग अब शिथिल, शिथिल उर की हिलोर
हो गए बन्द हर्षोत्सव के चचल झकोर
उल्लमित जनकपुर मे न चपल उल्लास कही
रोती है मन-ही-मन सीता की मातृ-मही ।
मिथिला मे करुणामयी उदासी छाई-सी
जानकी-विदाई की वेला अब आई-सी
अनगिन वस्तुएँ जनक ने श्रीदशरथ को दी,—
प्रत्येक व्यक्ति को उचित विदाई अर्पित की
धोतियाँ पहननी पड़ी सभी को लाल-लाल
यह विदा-काल, यह विदा-काल, यह विदा-काल
समधी को समधी डाला अर्पित करते अब !
अन्तिम प्रसन्नता-क्षण मे आँसू झरते अब
जानेवाली बेटियाँ सभी रो रही आज
रोने की ही अब बात यहाँ हो रही आज
पोसी-पाली पुत्रियाँ आज जाने को हैं
कुछ ही घड़ियो मे असह घड़ी आने को है ।
सीता की सखियो के मुँह पर अब बात नही
रसमय वाणी की आज सरस बरसात नहीं

चारों सुकुमारी सखियाँ जाने वाली हैं
बिछुडन की वेला जल्दी आने वाली है !
देखकर सभी को सीता आज सिसक पड़ती
फूली-फूली शाखा से अब सुधियाँ झरती
बिछुडन की वेला आज प्राण फट जाने को
जी करता, सबकी छाती से सट जाने को !
प्रिय सखी-बहिनपा रो उठती है मिल-मिल कर
कितना कुम्हलाया-कुम्हलाया कोमल अन्तर
कुम्हलाए हैं सब कमल गुलाब और गेंदे
बीतेंगे इनके बिना हाय, अब दिन कैसे !
गिरिजा-मन्दिर में सीता नहीं मिलेंगी अब
माण्डवी वाटिका में हँस कर न खिलेंगी अब
उर्मिला नही चुनने आएगी शेफाली
श्रुतिकीर्ति न दिखलाएगी किसलय की लाली !
अब कौन कहेगी वैदिक कथा सरोवर में ?
खोसगी कौन प्रसून कपोती के पर में ?
गुल-पिक को कौन लुभाएगी अमराई में ?
चमकेगी उतनी कौन चन्द्र-परछाई में ?
सीकी की फुलडलिया अब कौन बनाएगी ?
अब कौन आम-महुआ का ब्याह रचाएगी ?
सामा चाको का खेल रचेगी कौन यहाँ
सूनेपन को अब सजग करेगी कौन यहाँ !
किसकी बोली सुन, कोयल स्वयं लजाएगी
बादल के दिन में वीणा कौन बजाएगी ?
अब किसे देख कर उछलेंगे नन्हे बछडे ?
हो जाएँगे किसको निहार कर हरिण खडे ?
—सीता की सखियाँ अग्रिम चिन्ता से आकुल
कोमल-विह्वल सबकी आँखें अब सुधि-सकुल
माताओं के सुखमय दुख का अनुमान नहीं
अब करुण हृदय पर कुसुमित हर्ष-वितान नहीं !
माताओं ने कन्याओं को उपदेश दिया,—
सुन्दर-सुन्दर बातों को कह, सन्तुष्ट किया

उबटन लगवा कर राम सास-गृह मे आए
सुनकर विनोद-वाणी, वे किंचित् मुसकाए ।
बोली मुख-सजल सुनयना रघुवर से उस क्षण :
'हे धर्मपुत्र ! सीता शिरीष-सी मृदुल सुमन
हम सब के प्राणो से भी बढ कर यह प्यारी
जानकी स्नेह की कली नहीं केवल नारी !
वैसा ही गुण इसमे, जैसा ही रूप-रग
इसके अन्तर मे व्याप्त अमृतमय ही उमग
देखते इसे रहिएगा हे श्रीराम ! सदा
सीता जब से जनमी तब से ही यह सुभदा !'

जनवासे पर दशरथ ने कहा जनक से अब :
'हे समधी ! सत्कारो से आनन्दित हम सब
मिथिला मे ही सम्भव ऐसा सम्मान-दान
आपकी प्रीति का कवि ही कर सकता बखान
है ज्ञानभूमि मिथिला कि अतुल सम्मान-भूमि
यह गान-भूमि या निरुपम प्रेमप्रधान-भूमि
भूलेंगे हम न आपके प्रिय सत्कारो को
रक्खेंगे सदा सँजो कर प्रीति-पुकारो को
हैं आप अतुल राजर्षि दार्शनिक नृप विदेह
जग-जीवन के प्रति चेतनमय आपका स्नेह
हम गौरवशाली हुए आपकी गरिमा से
हो गई अयोध्या धन्य मैथिली महिमा से !'
—सुन दशरथ-वचन, जनक का उर सकोच-सजग
निकले मुख से आनन्दमग्न मधु वाक्य सुभग :
'हे महा अवधपति ! आप बहुत ही पुण्यवान
आपके वश मे हुए अनेको नृप महान
उत्पन्न हुए श्रीराम आपके कारण ही
उनके समान पुरुषोत्तम भू पर नहीं कही
धनु-यज्ञ सफल करने वाले तो वही एक
ले आया उन्हे यहाँ केवल कौशिक-विवेक

उनके समान द्युतिदर्शी ऋषि दुर्लभ जग में
पैदल ही आए राम हरित मिथिला-मग में
रघुवर जीवन-पथ पर पैदल चल सकते हैं,—
आलोकित साहस वे अपने में रखते हैं।
हे नृपति ! आपकी क्षमता मुझसे बहुत बड़ी,
मेरा सौभाग्य कि मुझ पर कृपा-किरण बिखरी
शिव-सफल किया राम ने ज्योतिमय परिणय-प्रण
हो गया पूर्ण मेरा निगूढ़ चिति-आराधन।'

बारात विदाई इधर उधर भी विदा-रुदन
हो रहा असह—हो रहा असह पुत्री-बिछुड़न
अश्रु ही अश्रु अब, केवल रोना ही रोना
करुणा से रिक्त नहीं उर का कोई कोना।
हो रहा हृदय का हरण स्नेहमय बिछुड़न में
कुछ निकल रहा है आज प्राणमय जीवन से
आकुल आँखों से बहता है सुधि-सजल स्नेह
कितने उदास ऋषि याज्ञवल्क्य, राजा विदेह।
जामाता ने उनके चरणों का किया स्पर्श
इस समय आँसुओं से भीगा है नयन-हर्ष
कम्पित आशीष-वचन, सुरभित करुणा मन की
वेदना गहन होती बेटी के बिछुड़न की।
माता की प्राण-विकलता में आकुल लोचन
नारी-रोदन से करुण रागमय राजभवन
सीता ने पितृ-चरण को सहसा पकड़ लिया
रोकर उसने उनको भी दो क्षण रुला दिया :
'उठ-उठ सीते ! उठ-उठ माते ! उठ-उठ सीते !
प्यारी पुत्री ! अयि जनक-हृदय की नवनीते !
आज से हमारा घर सूना हो जाएगा
जाने कबतक मेरा यह मन अकुलाएगा !
तू अनासक्ति की सिद्धि, ऋद्धि तू अतल की
तू सत्यदायिनी शोभा है आत्मिक बल की

तू मिथिला की महिमा, तू मेरी बेटी है
तू ने तो मुझे स्वय अपनी आभा दी है !
तू क्या है, इसको जनक स्वय पहचान रहा
बेटी ! मैं तुझे अलौकिक छवि ही मान रहा
तू ने अपने ही ढूँढ लिया अपन वर को
तू ने महिमामय बना दिया मेरे घर को !
वैदेही ! तू विदेह को रखना सदा याद
करना न कभी जीवन मे साधारण विषाद
तेरे पति तेरे ही सुयोग्य है सब प्रकार
मिटने वाला है उनसे ही असुरान्धकार !'

चारो बेटी से मिले जनक भावुक मन से
छलछला उठे आसू अकुलाए लोचन से
गिर पडी जानकी याज्ञवल्क्य के चरणो पर
करुणा से कांप उठा ऋषिवर का अन्तरतर !
भीतर-बाहर रोती-चिल्लाती-सी नारी
लगता कि रो रही आज जनक की फुलवारी
स्वर्णिम पिंजडे के सुग्गे भी रो रहे आज
आकुल-व्याकुल, व्याकुल-आकुल नारी-समाज
जा रही जानकी, ओ आंखे ! देख लो तनिक
छटपटा रही आकुल माताएँ अभी अधिक
चारो बहने डोली मे चली गई रोती
क्रन्दित वधुएँ अब भी मन मर पीडा ढोती
चारो पाहुन अब बैठ गए अपने रथ पर
भीड ही भीड दुख-विकल नारियो की, पथ पर
उठ रही डोलियां, हाहाकार मचा सहसा
अत्यन्त सजल, अत्यन्त सजल अब प्रेम-दशा
अकुलाहट ही अकुलाहट, क्रन्दन ही क्रन्दन
निष्प्राण-सदृश हो गए विमूक जनक इस क्षण
पालकी लिए निकले कहार निर्मम होकर
सबके प्राणों मे लगी स्नेह-सुधि की ठोकर

सीता की सखियों ने डोली को घेर लिया
नयनों ने अन्तिम बार नयन को हेर लिया
स्वय ही जनक ने किया राम को अब प्रणाम
हँस पड़े राम—हँस पड़े राम—हँस पड़े राम !

अयोध्याकाण्ड

उत्फुल्ल अयोध्या मे आनन्दित विष्णु-प्रात
लक्ष्मी-सी नव लालिमा-लहर मे लुप्त रात
असमय वासन्ती प्रकृति नयन-मन मे लक्षित
नूतन प्रकाश नूतन शोभा से सरक्षित !
हर्षित दशरथ लौटे मिथिला से पुत्र-सग
जन-मन मे पावन दर्शन-हित लोचन-उमग
सरयू-तरग-सी उठती-उठती उत्सुकता
आनन्द-पुष्प-आच्छादित अनगिन बाहु-लता
स्वागत का ऐसा ज्वार न देखा गया कभी
दशरथ का रथ उस ओर तुरत मुड गया अभी
वह देखो, उस उत्तु ग अश्व पर सेनापति
अब उधर नारियो के स्वर मे प्रिय गायन-गति !
सम्पूर्ण नगर ही इन्द्रपुरी-सा सजाधजा
गृह-शिखरो पर लहराती जय की विजय-ध्वजा
फूलो के बिखरे वैभव-सी सुषमा अपार
सुरभित वन्दनवारो से शोभित भव्य द्वार
कुसुमित कदली, मगल कलशी, शुचि अगरुधूम
हर मुख्य मार्ग पर गाते गायक झूमझूम
तरुणियाँ बजाती वाद्य विविध रागानुसार
ऊपर से भू पर फूल बरसते बार-बार
सरयू-कछार मे साधु-सत की भी टोली
सबके अधरो पर प्रिय प्रसन्नता की बोली
घाटो पर तूर्य-निनादित मुनि-गण शिव-समान
कुछ वृद्ध तपस्वी खडे-खडे कर रहे ध्यान !

लगता कि सभी के घर में पुत्रवधू आई—
घर-घर में कौशल्या की प्रीति-प्रभा छाई
आरती सजाती हर गृह की हर्षित माता
किसको न राम-लक्ष्मण से स्नेह-सजग नाता!
शत्रुघ्न-भरत केवल दशरथ के लाल नहीं
ये चारों भाई केवल राज मराल नहीं
घर-घर में उनकी माताएँ उनके भाई
देवी सीता क्या राजभवन में ही आईं?
था न कभी भी कहीं प्रेम-समरसता में
सुखमय आनन्द-तरल प्रीति-परवशता में
जन-जन को अवगत तरुण राम का गण-विचार
मानव मर्यादा पर आश्रित स्वामित्व-भार!
आ रहा राम का रथ अब पथ पर मन्द-मन्द
उच्चरित हो रहे शुभागमन के जयति-छन्द
अनुशासन में अब नहीं भीड़ टूटी कतार
उमड़ी जनता प्रत्येक ओर से एक बार
हो गए खड़े निज रथ पर रामचन्द्र सस्मित
प्रिय-दर्शन से परितृप्त नयन कितने पुलकित
चितवन में अंकित एक साथ चारों भाई
उर में प्रसन्नता ज्यों पूनम की परछाईं
प्रासाद-पथ की ओर नारियों का समूह
तरुणियाँ तोड़ती जाती प्रहरी-सैन्य-व्यूह
दुलहिन को देखे बिना नयन को चैन कहाँ?
डोलियाँ जहाँ, सुकुमार चरण भी वहाँ-वहाँ!
प्रासाद-द्वार पर तीनों ही रानियाँ खड़ी
गीतों में डूबीं राजरमणियाँ हर्ष-भरी
वैदिक पद्धति से वर-वधुओं का सुर-स्वागत
साकार लक्ष्मियाँ देख, प्रतीक्षित लोचन नत
विधि की अनुकम्पा से ही सुन्दरतर जोड़ी
सुकुमारी सीता चारु चन्द्रमा-सी गोरी!

आई जब से वैदेही तब से श्री-समृद्धि
सम्पूर्ण राज्य में हुई विविध ऐश्वर्य-वृद्धि
अनुकूल ऋतु-कृपा से विकसित भौतिक वैभव
सामूहिक श्रम से प्राप्त सम्पदाएँ नव-नव
नैतिक विवेक-विद्या से ज्योतित सदाचार
सर्वत्र सत्य-आचरण, शील-संस्कृत विचार
मानव-मर्यादा का प्रति दिन सम्यक् विकास
फैलने लगा अब स्वयम् राम का रवि-प्रकाश !
गृह-गृह में चारित्रिक महिमा का सहज बोध
बन्धुत्व सदा ही स्नेह-सवलित निर्विरोध
देवता-सदृश सम्मानित नित्य पिता-माता
पूजित शिष्यों से ऋषि-समान विद्या-दाता
सम्पृक्त प्रीति के कारण ही गृह-युद्ध नहीं
श्रद्धालु नारियाँ कभी असुर-सी क्रुद्ध नहीं
सात्विकता पर ही आधारित परिवार-धर्म
सज्जनता से संयमित सहज ही सभी कर्म
मन, कर्म, वचन में सत्य-सजग निष्कपट मेल
मानव-जीवन केवल रे केवल नहीं खेल !
निष्क्रिय न रहे कोई, स्वराष्ट्र का प्रथम ध्येय
प्रत्येक व्यक्ति-क्षमता से ही शासन अजेय
आई जब से जानकी, हो गया स्वर्ग भवन
शोभा की दीपशिखा ही तो वैदेही-तन
मणिकान्ति-किरण-सा जगमगजग उज्ज्वल शरीर
पति की प्रसन्नता में विभोर नित चित्त धीर
वह पद्मलोचना राम-प्रिया : सौन्दर्य-मूर्ति
पृथ्वीपुत्री : आनन्द-ज्योति की अतुल पूर्ति
आनन्द-सुधा से सिक्त देह की द्युति पवित्र
सुन्दरता के इतिहास-ग्रंथ की वह सुचित्र
पावनता का साम्राज्य व्याप्त अन्तरतर में
कल्याण-कमल प्रतिपल प्रफुल्ल कोमल कर में
वाणी से अमृत-मधुरता का झरता पराग
अनुराग-राग में ही मन का उज्ज्वल विराग

ऐसी मैथिली अलङ्कृत निज अन्तःपुर मे
मन की वासन्ती गीति शरद-सुरभित सुर मे
कमनीय परिस्थिति मे करुणामय कर्म-योग
प्रिय प्रकृति-पुरुष-सा महाभाव मे भव्य भोग
प्रेरणा राम को प्राप्त उचित कर्त्तव्य-हेतु
शासन, जनगण के बीच राम निज स्नेह-सेतु
सहयोगी भ्राता का अग्रज पर प्रेम-भक्ति
सुत-कर्मकुशलता निरख चतुर नृप मे विरक्ति
कैकेयी से बोले दशरथ— हे प्रिय रानी,
चारो पुत्रो मे कौन श्रेष्ठ शासन-ज्ञानी ?'
सुन्दरी प्रिया ने कहा—'राम से श्रेष्ठ कौन ?'
इतना ही वह कह, वह हँसनी-सी हुई मौन
पर, कौसल्या बोली कि 'भरत अति प्यारा है
अतिशय विनम्र वह लोक-नयन का तारा है'
झुक गई कमलिनी-सी कैकेयी यह सुन कर
मुसकाई मौन सुमित्रा शब्द-सुमन चुन कर।
इतने मे पिंजड़े का शुक बोला—राम-राम
राजा-रानी ने सुना विहग उच्चरित नाम
सुग्गे के निकट गई कैकेयी फल लेकर—
दोनो कोमल दृग मे प्रसन्नता-जल लेकर।
उस दिन प्रिय रथ पर राम-भरत निकले बाहर
सग मे सुमित्रानन्दन भी सानन्द मुखर
चलते-चलते सरयू-तट पर तीनो आए
उस समय गगन मे कुछ बादल-दल लहराए
वल्कल-वसना-सी सध्या सरयू पर छाई
उस पार वृक्ष-शिखरो पर गैरिक अरुणाई
तट पर हो गए खड़े कुछ क्षण तीनो भाई
वे खड़े रहे, जब तक न पूर्णिमा छितराई।
उस एक चाँद मे तीनो की सुरभित सुधियाँ
तीनो के उर मे क्षीर-तरगित अम्बुधियाँ
धो दिया सभी चरणों को तब तक सरि-जल ने
शीतलता को स्वीकार किया पग-उत्पल ने।

लौटे वे रघुकुल की प्रेरक चर्चा करते,—
अनुजों के अन्तर-घट में ऋचा-अमृत भरते
उर्मिला, माण्डवी, सीता उधर प्रतीक्षा-रत
आते ही निज-निज गृह में सरस प्रिया-स्वागत !
दीपिका ज्योति से स्नेह-सजग सुन्दर रजनी
आँखें अपनी आभा की उज्ज्वल लता घनी
आनन्द-मधुरिमा से रसमय दाम्पत्य-प्रीति
मधुमय वार्ता में कभी-कभी कुछ शास्त्र-नीति
सम्पूर्ण प्रेम पाकर पति से, सीता विभोर
गुण ही गुण के अनुरूप हृदय में शुचि हिलोर
अनुपम आकर्षण में मनमोहक दिव्य कान्ति
सर्वोत्तम सुन्दरता वह जिसमें सौम्य शान्ति !
वाणी-विहीन उर-भाव, नयन में अमृत-किरण
सर्वदा शील-सम्पन्न मुदित वैदेही-मन
अधरों पर पुष्पित शब्द, सरस संक्षिप्त वाक्य
नख-शिख तक निर्मलता, न कभी भी नारि-नाट्य !
मुख पर अविरल मुस्कान प्रात-सरसिज-समान
मन-कर्म-वचन से सदा रुचिर आनन्द-दान
नीलाम्बुज- सम श्री राम, हृदय-सीता पराग
सम्पृक्त समर्पण का स्वाभाविक आत्म-त्याग !
प्रत्येक परिस्थिति में प्रेमिल उर-दशा एक
इन्द्रिय-संयम की शोभा से शीतल विवेक
सेवा-श्रद्धा से पूर्ण मधुर दाम्पत्य-धर्म
सद्‌गुण से ही सम्प्राप्त परस्पर प्रेम-मर्म !
रवि-रश्मि-सदृश ही राम-जानकी एकदेह
शशि-सा घटता-बढ़ता-सा नहीं असीम स्नेह
आलोकित जीवन में सदैव कर्त्तव्य-ज्ञान
दो रूप किन्तु दोनों में ज्योतित एक प्राण !
सेवा-प्रसन्न माताएँ पुण्य-सफलता-सी,—
आनन्द-पूर्णिमा की शारद निर्मलता-सी
कुलवधुओं का कर्त्तव्य देख, दृग घन-मयूर
आत्मा की स्नेहिल किरण प्रेम से नहीं दूर !

सुत-कर्मकुशलता से दशरथ निश्चिन्त सदा
वर्षों से शासन पर न कभी कोई विपदा
हैं कहीं न कोई प्रजा दुखी, ऐसा प्रबन्ध
शासन-अधिकारी नहीं कहीं मद-मोह-अंध !
सुन सका न कोई उपालम्भ शंका न कहीं
शस्यों की सोने-चाँदी से भरपूर मही
पहले से बहुत अधिक सचमुच कृषि में सुधार
विद्या-वैभव के संग कलाकौशल-प्रसार
चारों पुत्रों ने उठा लिया शासन-प्रभार
फैलने लगा कोने-कोने तक यश अपार
हर ओर कर्मयोगी सुपुत्र का प्रिय प्रकाश
हो गया शक्ति को देख स्वयं ही शत्रु-ह्रास
दशरथ का राज्य नहीं, अब तो यह राम-राज्य
आत्मज-क्षमता को देख धर्मत मुकुट त्याज्य
रघुकुल में राम-सदृश कोई भी व्यक्ति नहीं
मिल सकी पूर्वजों को ऐसी रवि-शक्ति नहीं !
इक्ष्वाकु-वंश का आदि भूप वैवस्वत मनु
उस सूर्य-पुत्र का ज्ञान-किरण से भासित तनु
अपनी विवेक-वाणी से अर्जित शब्द-सिद्धि
राजर्षि-सदृश शुचि योग-भोगमय सुख-समृद्धि !
गिरि-गौरव-सा उत्तुंग चन्द्र-सुन्दर दिलीप
वीरता-विभूषित नीति-निपुण जन-प्रिय महीप
गो-सेवा का आदर्शपुरुष स्मरणीय सदा
झेली सभक्ति सन्तान-प्राप्ति-हित व्रत-विपदा !
नन्दिनी-परीक्षा में उत्तीर्ण दिलीप-दृष्टि
रानी सुदक्षिणा ने की इच्छित पुत्र-सृष्टि
उत्सर्ग-चकित शिव-सिंह अतुल सेवा-प्रसन्न
अभिलाषा पूर्ण कि ज्यों वसन्त में धरा-अन्न !
विख्यात अयोध्यापति रघु कुल-सम्राट् प्रथम
राज्याभिषेक के बाद दिग्विजययात्रा-क्रम
हिमगिरि से सागर तक स्वराज्य का जय-प्रसार
अनुपम सेना-संगठन, शौर्य-क्षमता अपार

उन्नत कोसल-साम्राज्य कि ऐसी सुख-समृद्धि
दुर्जन-विनाश से सज्जन-सुख की विमल वृद्धि
सक्षम शासन से ही सम्भव स्वर्णिम विकास
भारत के चारों ओर व्याप्त रघु का प्रकाश !
ऐश्वर्य-शिखर पर पितृ-पूज्य अज आलोकित
निरुपम मेरी जननी थी इन्दुमती गुण-स्मित
मैं दशरथ धर्म-प्रधान कर्म का विश्वासी —
संयमित शत्रुहन्ता, असुरत्व-शक्तिनाशी
देवत्व-सुरक्षा-हित रण-पथ में मन निर्भय
जीवन में करता रहा अनेकों जय पर जय
सम-भक्तिभाव से किया प्रजागण का पालन
समुचित प्रबन्ध से ही सम्भव सुखमय शासन
निर्मल विवेक-परिपूर्ण मन्त्रिगण शीलवान —
मित भाषी मधुर, चतुर, सज्जन, विद्या-प्रधान
निष्पक्ष न्याय करने में मन का स्पष्ट भाव
कर्त्तव्य-चेतना हित नित आलस से दुराव
प्रत्येक कर्मचारी सेवा-रत कर्म-कुशल
मन-वचन-कर्म से सकल्पित शासन-मंगल
सम्बद्ध केन्द्र सत्ता से संचालित विभाग
एकता-पद्म में ही अनेकता का पराग
पीडित न व्यथा से सम्प्रति कोई नगर-ग्राम
पाया जब से मैंने शरदिन्दु-समान राम !
सुख-शीतलता की सभी ओर चन्द्रिका-वृष्टि
है राम-सदृश ही भव्य भरत की प्रेम-दृष्टि
दोनों के सहयोगी शत्रुघ्न और लक्ष्मण
चारों को पाकर स्वर्ग-सुतृप्त पितृ-लोचन !
सब मेरे दृग के सूर्य-चन्द्र, सब हैं समान
है कौन नहीं मेरे प्राणों का ज्योति-प्राण ?
पर मेरे मन में राम-हेतु सुविशेष मोह
सह सकता कभी नहीं उसका दुस्सह विछोह !
इसलिए कि वह है बड़ा पुत्र ? यह नहीं बात
झरता है उसके तन से आभा का प्रपात

है नील पद्ममणि-सी प्रसन्न प्रिय राम-कान्ति
मिलती मयूर-नयनो को मेघानन्द-शान्ति !
है नही शौर्य-सज्जनता की ऐसी उपमा
साक्षात् विष्णु-सी कान्तिमान तन की सुषमा
लगता कि पूर्व जन्मो के तप-फल-सा सुपुत्र
भूलूँ कैसे शिवधनुष-भंग का कथा-सूत्र !
पृथिवीपुत्री सीता की अद्भुत जन्म-कथा
जब से वह आई, नही किसी को कभी व्यथा
कहती थी कौसल्या कि अलौकिक नारी वह
शोभाओं की शोभा अपूर्व अवतारी वह !
कहती थी कौसल्या कि जानकी ज्योतिर्मयी
उसकी सुदिव्य सुन्दरता प्रति दिन नित्य नयी
कहती थी मुझे सुमित्रा सीता प्रभा-शक्ति,—
उनके मुख-दर्शन से आँखो मे राम-भक्ति
रवि-कुल मे नूतन रवि, नव आशा-किरण आज
राम से सदा ही मुदित सकल मानव-समाज
हूँ पुत्र-कीर्ति मे सचमुच आज पराजित मैं
आपकी कृपा से हे प्रभु ! हूँ अति पुलकित मैं !
अब राम-राज्य के लिए प्रजा अति इच्छुक-सी
अनगिन आँखें कामना-तरंगित भिक्षुक-सी
मैं स्वयं भोर का दीपक प्रात-प्रतीक्षित-सा
अव्यक्त एक निर्णय मैं काल-परीक्षित-सा
मैं वृद्ध वृक्ष-सा दशरथ सब विधि संतोषी
कर्त्तव्य विमुखता का न कहाऊँ मैं दोषी
अब शक्ति-शिथिल प्रत्येक अंग, मन वैरागी
शिशिरावस्था मे हृदय राज-रुचि का त्यागी
पुत्रों के कारण टिका चक्रवर्ती-प्रकाश
मेरे पतझर मे स्वयं राम ही कुसुम-मास
वह अनासक्त कर्त्तव्य-पुरुष नित कर्म-लीन
पुरुषोत्तम-गुण-सम्पन्न राम मृदुता-प्रवीण
वह वीर धनुर्धर, उसका सदा अमोघ बाण
अन्याय-शमन के लिए अतुलित महाप्राण

ताडका-विनाशक असुर-तिमिरता के विरुद्ध
सग्राम-काल मे भी उसका मुख नही क्रुद्ध !
रण मे भी मन स्थिर, चिर प्रसन्न, अविकल लोचन
इन्द्रिय-मृणाल पर आत्म-सुवासित पद्म-वदन
मनु-कुल मे ऐसा कहाँ, कही देहात्म-बोध ?
अब तक न राम का कही हुआ कोई विरोध !
गुणसिन्धु-मथन से प्राप्त पुण्य-पुष्पित शरीर
जिस ओर राम, उस ओर मनुज की बहुत भीड
उच्चरित नहीं किस घर मे प्रेरक राम-नाम
उसके प्रताप से ही शासन का सुलभ काम !
मैं वयोवृद्ध दशरथ कबतक भूपाल रहूँ
किस समय गूँजती-सी मैं अपनी बात कहूँ
सुत को न समय पर देता जो नृप राज्य-भार,
छा जाता उसके निकट दोष का अन्धकार !
शोभित न श्वेतकेशी सिर पर किरीट मणिमय
दर्पण-प्रतिबिम्ब त्याग-हित करता नित्य विनय
छजता न वसन-भूषण सुन्दर, जर्जर तन पर,
पडता प्रतिकूल प्रभाव, अधिक रागी मन पर !
मर्यादा से ही तो रक्षित आदर्श-रूप
जन-भाव न समझे वह न कभी भी सफल भूप
होता न व्यर्थ सुविवेक-भरा सात्विक विचार
खोलती सत्य-चेतना धर्ममय कर्म-द्वार !
केवल अतीत की सुधा न पीता वर्तमान
सुन्दर भविष्य की चिन्ता करता महत् ज्ञान
रुकता न कभी भी काल-चेतना का प्रवाह
है सहज नही ससार-सिन्धु की सलिल-थाह !
ऊपर ही ऊपर नही विश्व, भीतर भी जग
मिथ्या न कभी भी ब्रह्म-विचुम्बित माया-मग
सत्कर्मो का दायित्व मनुज का महाध्येय
उत्तम कार्यों के लिए पुण्य को प्रथम श्रेय !
विपरीत बुद्धि से ही होता व्यक्तित्व-ह्रास
साक्षी इतिहास-पुराण कि कैसे, कहाँ नाश

मिट जाता धूमकेतु-सा सत्ता-अहंकार
सुनता न घमण्डी पुरुष चेतना की पुकार !
मैं दशरथ, गुण-अवगुण की लहरों से सचेत
मेरी उर-सरिता के तट पर भी पीत रेत
मेरे मन में भी हर्ष विषाद-भरी भाषा
जाने कब पूरी होगी मेरी अभिलाषा !

बीती अनेक सुखमय हेमन्त-वसन्त-शरद
आई न कभी कोई काली रजनी दुख-प्रद
नृप की इच्छा में आयोजित सुविशाल सभा
छाई हर ओर उमंग-भरी आनन्द-प्रभा
आमन्त्रित पंडित, प्रमुख नागरिक, ऋषि-मुनिवर
प्रत्येक उपस्थित जनगण का स्वागत सुन्दर
दशरथ-मुख से सम्मान-शब्द सुन सभी मुदित
शीतल वाक्यों की चन्द्र-सुधा से उर तिरपित
'कैसे मैं कहूँ कि कैसा मेरा राजधर्म,—
अपने पूर्वज-सा किया कहाँ तक नृपति-कर्म
सन्तान-समान प्रजा-पालन कर सका कहाँ !
घर-घर का दुख सचमुच दशरथ हर सका कहाँ !
मुझसे जितना बन सका, किया उतना ही तो
छिपती न छिपाए, छिपी हुई असफलता जो
शासन में कुछ त्रुटियाँ तो रह ही जाती हैं
मेरी आँखें चुपचाप बहुत सकुचाती हैं !
प्रभु-कृपा कि मेरे पुत्रों ने कुछ किए काम
कर्मों के कारण ही प्रसिद्धि पा सके राम
मैं स्वयं करूँ कैसे सुत के गुण का वर्णन
संभव है जान चुके होंगे सहृदय जनगण
श्री राम सुशिक्षित, शास्त्र-शस्त्र-विद्या-प्रवीण
वे नहीं चाहते कोई भू पर रहे दीन
है शील-पराक्रम का उनमें अद्भुत मिलान
समदर्शी आँखें रखती हैं सब ओर ध्यान

मैं वृद्ध पके फल सा, जाने कब गिर जाऊँ
ढीले शरीर से कितनी सेवा कर पाऊँ।
अन्तिम इच्छा मेरी कि बने युवराज राम,—
यो वही देखते वर्षो से सब काम-धाम
अनुमति दें सब कोई कि करूँ इच्छा पूरी
अब अधिक नही है मेरी सध्या की दूरी
अभिषेक-महोत्सव को देखूँ मैं भी सहर्ष
इस इच्छा को जनमे हो गए अनेक वर्ष
जानना चाहता मैं कि आपका क्या विचार
मेरी इच्छा तो उर-तत्री का एक तार
जन-मन की सहमति लिए बिना झकार कहाँ
रघुकुल मे प्रेम-रहित शासन-अधिकार कहाँ।"

•

आगत नरेश-ऋषि-सचिव, अन्य जन आनन्दित
सम्पूर्ण सभा सागर-तरग-सी हिन्दोलित
उत्सुक मुख से उच्चरित राम की गुण-गरिमा !
किसके न हृदय मे व्याप्त राम की रवि-महिमा !
ऊँची लहरो-सी उठी समर्थन की हिलोर
फैली प्रसन्नता की लतिकाएँ सभी ओर
जिसके नयनो मे रामचन्द्र की छटा नही !
कोई भी दृग मे प्रिय विरोध की घटा नही !
दशरथ प्रसन्न, दशरथ प्रसन्न, दशरथ प्रसन्न
ज्यो सफल किसान देख कर मुदित, अपार अन्न
जयजयकारो के बीच विसर्जित हुई सभा
आनन्द-लालिमा व्याप्त कि जैसे प्रात-प्रभा !
निर्णीत कि कल ही शुभ दिन—कल ही शुभ मुहूर्त
प्रिय चैत मास मे होने को कामना पूर्त
कुलगुरु वसिष्ठ-ऋषि ने निर्धारित किया समय
सुन राजकीय घोषणा, चतुर्दिक जय ही जय !
विश्वासी प्रिय मत्री सुमन्त सूचना-सफल,—
राजाज्ञा से वे मिले राम से द्रुत अविकल

कर प्राप्त पितृ-आदेश, उपस्थित पुन राम
सब कुछ कह कर ही दशरथ का वाणी-विराम !
सुन पितृ-कथन, श्रीदशरथनन्दन निस्तरग
पहले जैसा ही शान्त, न उद्वेलित उमग
ओठ पर सुमन-मुस्कान, सुमुख की कान्ति वही
तन मे, मन मे, नयनो मे शीतल शान्ति वही !
लज्जित स्वर मे यह अमृत-वाक्य : जो आज्ञा हो !
मन मे सहृदय यह प्रश्न कि भरत नही है जो !
वह तो ननिहाल गया है प्रिय शत्रुघ्न-सग
फीका क्या नही लगेगा उसके बिना रग ?
युवराज बनूँ औ' वह न रहें ! यह अनुचित-सा
कैसे प्रसन्न होऊँगा मैं उस पद को पा
भाई के उत्सव मे ही यदि भाई न रहे,
कैसे मन के वन मे आनन्द-समीर बहे !

निर्द्वन्द्व नृपति ने पास बिठाया प्रिय सुत को
नयनो ने अतिशय स्नेह दिया उस क्षण उनको
यद्यपि गुणनिधि श्री राम किन्तु उपदेश सदय
आशीर्वचनो को देकर गद्‌गद् पितृ-हृदय !
लौटे भावी युवराज भवन मे निज गति से
क्षरती भ्रातृत्व-किरण उनकी सुधिमय मति से
आए सुमन्त फिर ज्यो झोंके पर नव झोंका !
इस बार कदाचित किंचित् उज्ज्वल मन चौंका !
इस बार सुमन्त-दृगो पर कुछ क्षण राम-दृष्टि
साँवली घटा पर ज्यो शशि की चन्द्रिका-वृष्टि
'चिन्तित तो नही पिता मेरे ?'—बोले कुमार
इस बार चरण मे चचल गति ज्यो नव बयार !
इस बार राम के सुधि मय पथ पर भरत-रूप,—
उसके शुभागमन की आती-सी मधुर धूप
मन मे प्रसन्नता-लहर कि आएँगे भाई
छाएगी तभी सफल उत्सव की अरुणाई !

मोचते-मोचते पहुँचे राम पिता-सम्मुख
जिज्ञासित अन्तर में न कही भासित दुख-सुख
फिर किया उन्होंने पहले-सा ही चरण-स्पर्श
इस बार अयोध्यापति के मुख पर अधिक हर्ष !
दशरथ ने प्रिय सुत को छाती से लगा लिया
दृग ने ही दृग को शीतल चन्द्र-प्रकाश दिया
सरयू में गंगा-स्नान-सदृश आलिंगन सुख
आनन्द-पद्म-सा खिला खिला श्रीराम-सुमुख !
टूटी जब स्नेह-समाधि, तुरत बोले दशरथ
'हे पुत्र ! देखता अब मैं अपना सन्ध्या-पथ
इतना मैं वृद्ध कि घट सकती दुखमय घटना
मेरा वात्सल्य-मोह चिन्ता से आज घना !
केवल युवराज बनाना ही पर्याप्त नहीं
विधिवत अब स्वयं सम्हालो तुम प्रिय अवध मही
सिंहासन पर मैं तुम्हें देखना चाह रहा
कल ही शुभ दिन वह ! सब गुरु जन ने यही कहा
अन्तिम इच्छा को कल ही मैं साकार करूँ
हे राम ! तुम्हारे मस्तक पर निज मुकुट धरूँ
प्रिय वधू-सहित मंगल व्रत-पालन करो तात !
पूजा प्रारंभ करो अपनी आज ही रात
निर्विघ्न पुष्य-नक्षत्र बने मंगलदायक
प्रस्तुत हो जाओ हे भावी रघुकुल-नायक !
दुख है कि भरत-शत्रुघ्न अयोध्या में न आज
होंगे कुछ चिन्तित इस कारण परिजन, समाज
क्या करूँ किन्तु, वे बहुत दूर मामा के घर
सम्भव न शीघ्र उनका आना है पुत्र-प्रवर !
है नहीं अयोध्या को कोई पुष्पक विमान
शत्रुघ्न-भरत की ओर लगा है अभी ध्यान !
खलता है मंगल उत्सव में प्रिय का अभाव
पड़ता है प्राणों पर निश्चय विघटन-प्रभाव
क्या करूँ किन्तु, क्या करूँ किन्तु, मैं बना मौन
मुझसे बढ़ कर चिन्ताकुल है दूसरा कौन ?

मंगल मुहूर्त्त वर्षों तक ऐसा नहीं अन्य
सम्राट् राम से होगी निश्चय धरा धन्य
आएँगे असुर नहीं करने उत्पात यहाँ
भूमण्डल पर राम-सी दूसरी शक्ति कहाँ ?
है सत्य-सुरक्षा-हेतु बाण, मैं जान रहा
इनके भय से कोई भी राक्षस आ न रहा
सुनता हूँ, सागर-तट पर दानव का प्रकोप
ऋषि-कानन में भी सहज शान्ति का हुआ लोप !
जाओ हे राम ! करो अपना अब व्रत-पालन
इस क्षण में ही करता मैं उत्सव-उद्घोषण
मेरे निर्णय से तुरत उठेगा हर्ष-ज्वार,—
राम के लिए जन-मन में तो प्यार ही प्यार !'

आते-आते श्रीराम स्वयं रुक गए वहाँ,—
माता कौसल्या थी पूजा में लीन जहाँ
वह जान चुकी थी पहले ही नृप का निर्णय
देखने लगी वह निज सुत में मातृत्व-विजय !
आशीर्वचनों में गन्ध-सुगन्धित स्नेह मुखर
हर्षाकुल माता के दृग में शिशु-छवि सुन्दर
अपने कर से प्रिय सुत-मुख को मिष्टान्न-दान
ममता के कारण ही अब तक माता महान !
मुख-सजल राम-लोचन को लख, सीता विभोर,—
दिव्याधर पर अमृताभा की हँसती हिलोर
निज नन्दन के संग मुदित सुमित्रा दृश्य देख,
मन में उल्लास अपूर्व कि कल राज्याभिषेक !
राज्याभिषेक कल ही ! उच्छल गृह की दासी
नूतन वसन्त-सम पुलकित राजभवन-वासी
विद्युत-सा फैल गया सुख-सुरभित समाचार
राज्याभिषेक कल ही ! गुंजित मुख पर पुकार
बोले लक्ष्मण से राम वहीं : 'यह कठिन भार
मैं स्वयं अकेले कैसे पाऊँगा सँवार

अन्तर न तनिक मुझमें-तुझमें,—सब भाई में
हम सब हैं एक समान पितृ-परछाई में !
जो कुछ मेरा है बंधु ! तुम्हारा भी है वह
एकाकी राज्य-भार मेरे हित तो दुस्सह
खण्डित न कभी भ्रातृत्व-भाव, खण्डित न स्नेह
हम चारों भाई प्रेम-प्रसूनित एक देह !
दशरथनन्दन हम एक देह, हम एक-हृदय
माताएँ सारी एक-प्राण- एकात्म-निलय
आदर्श-सुरक्षा-हित अटूट भ्राता-नाता
जीवन भर देव-समान प्रणम्य पिता-माता !"
—इतना कह कर श्री राम प्रिया के संग-संग,—
निकले निज माता के प्रिय गृह से निस्तरंग
अति स्नेहमयी कैकेयी की छवि लोचन में
उनके दर्शन की सहज पिपासा अब मन में !
पथ पर ही यह संवाद कि 'आए गुरु वसिष्ठ
आपके भवन के सम्मुख ही वे रथ प्रतिष्ठ'
यह सुनते ही, कुछ दुविधा में पड़ गए राम
कुल-गुरु महर्षि उस ओर, इधर माता ललाम !
मुस्कुरा उठी जानकी कि ज्यों अधखिले फूल
सुधि-रत कुमार को प्राप्त मातृ-स्मृति-चरण-धूल
अविलम्ब लौटने लगे राम निज भवन-ओर
कैकेयी तक जा सका न निर्मल मन-मनोर !
राम ने उतारा रथ से गुरु को सप्रणाम
ले गए उन्हें भीतर सभक्ति देकर विराम
सङ्कल्पित व्रत-उपवास शास्त्र-नियमानुसार
उस क्षण से ही संयमित सुदम्पति निराहार !
लौटे वसिष्ठ जन-हर्षित पथ की भीड़ चीर
रामाभिषेक से पूर्व सुखद चर्चा अधीर
सब के मन में अनुकूल भाव-इच्छा-तरंग
उर की उत्सुकता में अपूर्व आशा-उमंग !
गृह-शोभा-सज्जा में संलग्न नगरवासी
शुभ दिन के लिए सभी आँखें कब से प्यासी

हर घर पर रंग-विरंगी सुषमा-लता व्याप्त
इतनी जल्दी, इतनी सामग्री कहाँ प्राप्त ?
सुन्दरित अयोध्या तोरण-वन्दनवारों से
गुंजित गृह-पथ गीतों की प्रिय झंकारों से
आमोद-प्रमोद-निमग्न नगर उल्लास-भरा
राज्याभिषेक का समय स्वयं मधुमास-भरा !
वन-वन का सुरभित पवन चतुर्दिक चलता-सा
पुष्पित ऋतुराज हृदय में स्वयं मचलता-सा
उड़ते धूलों में परिमल के कुंकुम-गुलाल
उत्सव का वातावरण चम्पई लाल-लाल
सातों रंगों में होड़ नारियों में हिलोर
इस ओर और उस ओर तरुणियाँ सभी ओर
बच्चे, बूढ़े, नवयुवक—सभी उत्साह भरे
रे, इतने सुख-सौरभ, कब और कहाँ बिखरे
सरयू में भी लहरें, झूलों पर हिलकोरें
समरसता का आनन्द भला किसको छोड़े ?
प्रत्येक व्यक्ति में, जड़-चेतन में एक भाव
ऐसा भी कोई जिसे राम से है दुराव ?

'क्या व्रत-पूजा प्रारंभ हो गई है गुरुवर !'
—नृप ने आतुरता से पूछा आनन्द-मुखर
आशानुरूप पाकर वसिष्ठ से प्रिय उत्तर,
निर्देश सचिव को स्वयं विविध सत्वर-सत्वर !
संतुष्ट वृद्ध दशरथ कि 'धर्मवत् सभी कार्य
रघुकुल में उत्तम कर्म-भाव ही शिरोधार्य
मुझसे जितना बन सका, हुई उतनी सेवा
मैं बना भाग्यशाली चारों पुत्रों को पा
जिस घर में राम-समान पुत्र, वह धन्य सदन
जिस घर में कटुता-द्वेष नहीं, वह स्वर्ग-भवन
शीतल स्वभाव के कारण ही सम्बन्ध मधुर
निष्कपट प्रेम से ही होता है निर्मल उर

ईश्वर हे ! यह अन्तिम दिन मेरे शासन का
सब रूप पूर्ण हो, विघ्न-रहित मेरे मन का
फल पूर्ण सफल हो जन-इच्छित राज्याभिषेक
भर दो—भर दो हे देव ! सभी उर मे विवेक
पूरी कर दो दशरथ की यह अन्तिम इच्छा
मैं माँग रहा हूँ प्रभु हे ! तुमसे यह भिक्षा
हो गई चूक यदि कही, उसे तुम क्षमा करो
निर्विघ्न राम के सिर पर शासन-मुकुट धरो !
शिवधनुष तोड कर पाई जिसने वैदेही,
वह राम सहज गुण के कारण जन मन-स्नेही
वह राम कि जिसने कहा कि 'सब भाई नरेश,—
मैं ही क्यो राजा ? सबका है यह अवध देश !'
वह राम कि जिसमे कभी न कोई अहकार
हो जाता जिसका बाण तिमिर के आर-पार
वह राम कि जिसने मुझसे कुछ माँगा न कभी
पालन करता जो रहा पितृ आदेश सभी !
करता होगा वह अभी वधू-सँग इष्ट-ध्यान
कर लेगा वह परिपूर्ण अनुष्ठित व्रत-विधान
कुश की शय्या पर काटेगा वह आज रात
वाद्यो की ध्वनि सुन, देखेगा कल वह प्रभात !'

सरयू मे स्नान हेतु जिसकी इच्छा प्यासी,—
कैकेयी की जो अति प्रिय मुँहलगू दासी,—
काली कुबडी मन्थरा गई सरिता-तट पर
बालू पर बैठ, देखती जलधारा सुन्दर !
उसके समीप आई सहसा नूतन युवती
दोनो ही एक समान भयकर रूपवती
आकृति-समानता के कारण क्षण मे मिलाप
भौंह चमका कर बातचीत बाप रे बाप !
आँखो मे चटक-मटक, ओठो पर इचक-बिचक
अनगढ दाँतो मे बिजुरी-जैसी चमक-दमक

बाँहों में लहर, तर्जनी में संकेत-बाण
अंगों की उछल-कूद से दोलित प्राण-प्राण !
इतरे-बिखरे-से बाल, गाल इचके-पिचके
कंधे से कंधा सटा शब्द-नाटक रस के
रेंगता कान में मुँह, ऐसी कानाफूसी
क्षण में हँसती, क्षण में ही वे रूठी-रूसी !
बातों-बातों में दिया मन्थरा ने परिचय
'मैं दूर देश केकय की नारी हूँ सहृदय
राजा दशरथ ने किया वही अन्तिम विवाह
उनके चौथेपन की मेरी स्वामिनी चाह !
रहते उन पर सम्राट कि ऐसी रानी वह
कैकेयी बूढ़े पति की प्रिय इन्द्राणी वह
पटरानी कौसल्या का कुछ चलता न कभी
उनका आचरण किसी को भी खलता न कभी
तो सुन, मैं चेरी उसी कुसुम-कैकेयी की
यदि वह न रहे तो मैं भी हो जाऊँ फीकी
उनके ही दिए हुए मेरे ये आभूषण
उनका ही दिया हुआ है सखि, यह नील वसन
हँसती क्यों है ? हूँ नहीं जन्म से मैं कुबड़ी
आँखें अतीत-दुर्घटना से है अश्रु-भरी
झटका मारा कौसल्या-सुत ने बचपन में
मैं गिरी उसी क्षण, क्षोभ अभी तक है मन में !
जो होना था सो हुआ, अभी जीवित तो हूँ
पहले से भी अब अधिक प्रसन्न-मुदित तो हूँ
चुपके से वर्षों बाद नदी-तट आई मैं
तुझसे मिल कर हूँ आज अधिक लहराई मैं !
अब तू कह अपनी बात कि कैसे तू कानी
चल, धूप लग रही, कुढ़ा रहा सरयू-पानी
आ इधर, उधर तो केवल कछुओं का समूह
चल वहाँ, जहाँ पर श्वेत-सजल बालुका-दूह'

यह कैसा जयजयकार ? मन्थरा चौंक पड़ी
मन पर प्रिय भरत-आगमन की आशा बिखरी
पर, स्नान-सहेली बोली व्यग्य लिए मुख पर :
'कैसी तू री मन्थरे ! कि अवगत नही लहर ?
अपने घर की बातें भी तू जानती नहीं
लगता कि महारानी तुझको मानती नही
दीपक के नीचे रहता जो, तू वह तम है
जो तथ्य नही जानता वही तो तू भ्रम है !
तू डींग हाँकती थी मुझसे कुछ पहले क्या ?
उँगलियाँ नचाती थी ऐसी-वैसी यो-या
पर, हँसी आ रही अब कि मन्थरे ! तू झूठी
लगता कि महारानी तुझसे निश्चय रूठी !
अन्यथा न आती आज अभी तू सरयू-तट
तू राजभवन मे वही उठाती मगल घट
सजती अपने को विविध वसन-आभूषण से
मागती आज कुछ तू भी दशरथ-नन्दन से ?
गाती तू मगल गीत, बजाती अभी ढोल
करती तू अन्य दासियो से रसमय ठिठोल
युवराज राम ही बने, इसी की सभा आज
तू नही जानती ? आज बहुत हर्षित समाज
यह जयजयकार उसी का गूँज रहा है अब
आती है उसकी ध्वनि इस तट पर भी जब-तब
पगडण्डी से ही क्या तू यहाँ चली आई ?
अपनी आँखो से जनपथ-भीड न लख पाई ?
रोती है तू इस पानी मे ? छि छि यह क्या ?
होने को अशुभ नही राजा का किया-धिया
मत फूंक साँस, आँखो मे मत अगार घोल,
अब जल्दी डुबकी लगा, गाँठ अब नही खोल,
सभव कि शीघ्रता मे आयोजित हुई सभा,—
अवगत अन्तःपुर को हो अब निर्णीत प्रभा
सभव कि राजनैतिक रहस्य गृह को न ज्ञात
कुछ बात हो गई होगी तय रात ही रात ।

'पूर्वाग्रह के कारण भी ऐसी सत्वरता
है स्वयं मुझे भी अखर रही नृप-निर्ममता
हो ही जाती है भूल-चूक प्रिय, कभी-कभी
चिन्ता में तू मत डूब चतुर मन्थरे! अभी
दासी! तू नहीं राजरानी, सीमा में रह
अच्छा हो यदि कैकेयी से भी कुछ मत कह
भाग्य के खेल भी बड़े निराले होते हैं
सब कुछ पाकर भी भाग्यहीन नर रोते हैं!
बुद्धि ही बुद्धि से नित षड्यन्त्र किया करती
भावुकता डरती किन्तु न चतुराई डरती
जो है अशक्त, उसको जग में पूछता कौन
मन्थरे! मन्थरे! व्यर्थ हुई तू करुण-मौन!
सरल मन होता दुखी पराई बातों से
होती हताश दुर्बलता ही आघातों से
तू मोह-पंक में फँसी मीन-सी तड़प रही
कुछ ही पहले तू मन-मृग-सी थी छड़प रही!
मैं परदेसी 'झलटा' न कर मुझको उदास
हूँ पहुँच गई मैं आज यहाँ पर अनायास
उस सभा-भीड़ में भटक गया मेरा भाई
ढूँढती-ढूँढती सरयू-तट पर मैं आई
मन्थरे! विहँस कर व्यर्थ यहाँ तू रोती है
री मूर्खे! तू किस कारण अश्रु संजोती है?
तू त्रिया-चरित में निपुण, दूर से आई है,—
विद्युत् चमका कर सघन मेघ-सी छाई है!
अब तो समाप्त कर तू अपना रोना-धोना
आता है तुझे स्वयं ही अग्नि-बीज बोना
झलटा भीतरी चमक-दमक को जान गई
कैकेयी की दासी को मैं पहचान गई
तेरे हित सचमुच हँसने की यह घड़ी नहीं
तेरी रानी कौशल्या से है बड़ी नहीं
तू कुबड़ी बनी हुई है अब तक हाय-हाय
तू स्वयं ढूँढ सकती चतुरे! अपना उपाय

मत काप नदी मे, चल बाहर, नव वसन पहन
कर रहा प्रतीक्षा तेरी, उत्सुक राजभवन
शनि-चक्र दृष्टि से देख कि क्या हो रहा वहाँ,—
बिखरी प्रसन्नता कैसी कैसी कहाँ-कहाँ !
तू नील आवरण मे सचमुच शनि के समान
फैला सकती तू कुशल कुटिलता का वितान
आ गले-गले मिल ले दीदी ! तू एक बार
तू मेरी भूल-चूक सहचरि ! देना बिसार
तू ऐसी शनि-मणि जिसको मैंने ही जाना
है नही निरर्थक तेरा सरि-तट पर आना
तो विदा मन्थरे ! रखना मेरी बात याद
चलने की बेला मत कर—मन कर तू विषाद
सुन-सुन कर नव जयकार सोच क्या करना है,—
कैकेयी-गृह मे कैसे अब पग धरना है
यदि स्वय जानती वह तो तुझसे कहती ही
तेरी विचार-धारा पर रानी बहती ही,—
इसलिए, कि तू ने उसे बुद्धि से लिया जीत
तू केवल दासी नही, बालपन से सुमीत
तू साथ-साथ खेली-कूदी, लगता ऐसा
हितचिन्तक उनका कौन आज तेरे जैसा ?
कुबडी जिस दिन तू बनी, नही रानी उदास ?
क्या दुख की घडियो मे न रही तू आस-पास ?
आए जो दुख मे काम, विश्व मे मित्र वही
मिलते हैं सच्चे मित्र जगत मे कही-कही !
अच्छा, तो जा तू इधर, उधर मैं चलती हूँ
तेरी चुप्पी से मन-ही-मन मैं जलती हूँ
है जैसी तू वाचाल, मौन भी तू वैसी
तुझमे सुन्दर गुण-गरिमाएँ कैसी-कैसी !
हे देवि ! तुझे करती हूँ मैं सविनय प्रणाम
चरितार्थ शीघ्र ही हो तेरा मन्थरा नाम
सुन सकूँ दूर से भी तेरी करतूत-कथा
कामना यही मेरी कि फूल-सी मिले व्यथा !

अब इधर कहाँ ? जा उधर, पकड़ अब नई राह
कब तक भीतर रख पाएगी तू ओह-आह ?
उर में जो कंकड़ पड़ा, उसे अब तू निकाल
मन्थरे ! फेंक अब अपना केवल एक जाल !"

आई अपने गृह में कैकेयी की दासी
उसका आन्दोलित मन न अवधपति-विश्वासी
सर-सर-सर सीढ़ी पर चढ़ कर अब वह छत पर
उस छत से भी ऊपर कुछ और अधिक ऊपर !
आँख अधीर देखती नगर में बहुत भीड़
पथ-पथ पर जन-उन्माद नरगायित शरीर
अविरल पानी-छिड़काव स्वच्छतर गलियों में
नारियाँ सुसज्जित, नव निखार ज्यों कलियों में !
गृह-गृह के शिखरों पर गौरव-ध्वज लहराते
गाजे-बाजे के तीव्र तुमुल स्वर छितराते
'क्या करूँ हाय, हो रहा आज कितना अनर्थ
इस राजभवन में मेरा आना हुआ व्यर्थ
चकराता मेरा सिर, उफनाती बुद्धि विकल
हो रहा असह, अब कपटी नृप का कल-बल-छल
चुपचाप राम को बना रहा युवराज हाय,
करना ही है कोई उपाय—कोई उपाय
कर रहा प्रतिज्ञा भंग अवध-सम्राट् चतुर
वह भूल गया अन्तिम विवाह का वचन मधुर :
'कैकेयी से उत्पन्न पुत्र होगा नरेश
रघुकुल में यद्यपि प्रथा नहीं पर, प्रण विशेष !'
उस प्रण के कारण ही कैकेयी से विवाह
जननी-मन में क्षोभ का नहीं कोई प्रवाह
सब कुछ मुझसे कह दिया विदाई से पहले
निर्णीत कि 'साक्षी-सजग साथ मन्थरा चले !—
देखे कि सुपुत्री रहे वहाँ पटरानी-सी
गूँजे उसकी गरिमा आनन्द-कहानी-सी

इन्द्राणी-सदन-समान मिले प्रासाद उसे
हो कभी न जीवन में कोई अवसाद उसे
भोगे कैकेयी मुग्ध हो सुख यह भी निर्णय
नृप से न निरादृत हो उसका मृदु कुसुम-हृदय
नित करे निरीक्षण वह उसके अन्तःपुर का
आनन्द उठाए परिणीता कोमल सुर का ।
देखे दशरथ कैकेयी मुग्ध मुख-दर्पण में
खो जाए अपने को आनन्द-समर्पण में
वय को बिसार कर करे मधुर अनुराग सदा
आने मत दे कैकेयी पर कोई विपदा ।
रख दे ऐश्वर्य सभी पग पर, इतना माने
कैकेयी की कोमलता को वह पहचाने
रण में भी जाए तो ले जाए उसे वहाँ
उसके समान रण-रमणी नारी अन्य कहाँ ।
सिखलाया उसे पिता ने ही तो रण-कौशल
उसकी कोमलता में शारीरिक यौवन-बल
वह पहन चुकी है बार-बार जय-युद्धवस्त्र
वह चला चुकी है समराङ्गण में अस्त्र शस्त्र ।
उस बार वीर दशरथ के रथ का चक्र भग्न
बैठी थी कैकेयी पति के ही संग-संग
करते थे शत्रु बाण वर्षा भीषण रण में
संगिनी काम आई उस दिन संकट-क्षण में ।—
उस ध्वस्त चक्र की धुरी सम्हाले रही वही
अति विकट परिस्थिति में ऐसी क्षमता न कहीं
बच गया वीर पत्नी के कारण पति महान्
उस विजय विभा का आज मुझे आ रहा ध्यान ।
कैकेयी को उस दिन नृप ने दो वचन दिए
कुम्हलाए क्या वरदान-सुमन जो वहाँ दिए ?
तब की वे बातें राजा को अब याद नहीं
मेरी रानी को भी कोई अवसाद नहीं ।
बुद्धि को मलिन कर देना अतिशय भोग-भाव
जाती है डूब विलास-भँवर में तृप्ति-नाव

वरदान, मोह के कारण ही अभिशाप बना
अति सुख के कारण प्राप्त पुण्य भी पाप बना !
उठती न उठाए अब कैकेयी शय्या से
अलसाती वह अब भी चैती पुरवैया से
सुख की मदिरा पीने वाली चुपचाप पड़ी,
नौ-छौ न जानती है मेरी सुन्दरी परी !
रानी ही जब निश्चिन्त, करे यह दासी क्या ?
सचमुच वह नहीं जानती राज-रहस्य नया
सब दिन सबका सौभाग्य नहीं रहता समान
कर देता मति को भ्रष्ट विधान-विलुब्ध ज्ञान !
वह कौसल्या जो सदा विराग-भरी नारी, —
जब देखो पूजा-पाठ कर रही बेचारी
उसका कोई भी दिन न निरर्थक कभी हुआ
अति तृष्णा का उसने न कदाचित् फूल छुआ
श्रद्धा की वह देवी कितनी है दयावान
उसकी आत्मा नित दानशीलता से महान
सब दिन सत्संग सुमित्रा से, सब व्रत-पालन
सब दिन गो-पूजा, धर्मनिष्ठ प्रायः हर क्षण !
क्या नहीं जानती वह कि भरत भू-अधिकारी ?
पूजा-निमग्न क्या न्यायमयी है वह नारी ?
नृप का तीसरा विवाह उसी की इच्छा से
अवगत क्या है वह नहीं सुपरिणय-भिक्षा से ?
धार्मिकता कहाँ गई उसकी ? क्यों चुप है वह ?
निज पति से प्रणय-सत्य को वह सकती थी कह
छिप जाती लोभ-तिमिर से उचित बात मन की
जिसमें न दीख पड़ती है दुर्बलता तन की !
जब भरत नहीं है यहाँ तभी यह आयोजन !
हैं घिरे हुए सब ओर घोर शंका के घन
बिजली-सी यह मन्थरा अकेली तड़प रही
अपनी ही सुधि के नभ में क्षण में कड़क रही !
लगता कि शिलाप्रासाद-शिखर हिल रहा अभी
मेरे मन को सङ्केत एक मिल रहा अभी

झंझा-सी मेरी बुद्धि, झकोरों-सा विचार
आँधी-सी मैं हूँ खड़ी, नयन मुझमें हजार !
मेरी ईर्ष्या में तर्क, क्रोध में सत्य मिला
जाने किसने सरयू-तट पर कुछ दिया खिला
मैं नहीं पूछ पाई कि सखी झझटा कौन ?
सुनते ही जयजयकार, हुई मैं चकित मौन !
अद्भुत नारी कुछ बात बता कर चली गई
सचमुच ही वह भी थी कोई मन्थरा नई
प्रतिरूप भाव-सी वह क्षण में साकार हुई
कामना दूध-पानी-सी एकाकार हुई !
कुबड़ी हूँ पर, सीढ़ी से विद्युत्-सी आई
मैं देख चुकी हूँ नगर-डगर की तरुणाई
किस से पूछूँ कुछ बात कि बुद्धि बटोरूँ मैं
अपनी बिजली को वहाँ, किस समय तोड़ूँ मैं !
नीचे चल अब मन्थरे ! चरण रख भूतल पर
रख एक अनल-कण आज किसी के शतदल पर
वह कौन आ रही इधर ? गूँजता नूपुर-स्वर
उतरूँ, उतरूँ अब जल्दी नीचे धड़ धड़-धड़
'एक री पटरानी की दासी ! कुछ पूछूँ मैं ?
कैसी है कैसी, आज नगर में नूतन जय ?'
सहचरी उछलती-सी बोली : 'निर्णीत आज,—
हो जाएँगे श्रीरामचन्द्र कल अवधराज !'

बस, एक वाक्य सुन कर मन्थरा बनी नागिन
क्रोधाग्नि-लपट मन-ही-मन बढ़ती-सी पल-छिन
'मुझसे छोटी दासी को भी सब तथ्य ज्ञात ?
की मुझसे उसने बहुत ऐंठ कर आज बात !
तो कल से क्या होगा ? क्या होगा अब कल से ?
चुपचाप हो रहे सभी काम केवल छल से !
लगता कि एक मछली हो रही अलग जल से
षड्यन्त्र कर चुकी कौसल्या निज नृप-बल से

वह बनी सफलता की लक्ष्मी चुपचाप यहाँ
कैकेयी उधर चपला की चाँदनी वहाँ
निश्चिन्त राम, निर्विघ्न राम क्या भाग्य मिला !
कैकेयी-तन-तरु का कोई पत्ता न हिला !
देखूँ कुछ इधर-उधर भी तब मिलने जाऊँ
कुछ ताक झाँक कर ही अपने घर में आऊँ
रे मन ! चल अब उस ओर जहाँ जानकीनाथ
देखूँ किस मुद्रा में व दोनों नाथ-साथ
चारों बहना का एक पेट, यह जान रही
है नहीं कहीं कुछ भेद-भाव, यह मान रही
सब में अटूट मैत्री मर्यादित मधुर स्नेह
मन एक किन्तु चारों की अविचल चार देह !
उस ओर पड़ेगा नहीं कुटिलता का प्रभाव
उनमें अब तक हो सका नहीं कोई दुराव
जैसी शिक्षा वैसी काया—वैसा ही मन
आचरण उच्च तो छल-प्रपंच का कभी न रण
मन्थरे ! निरर्थक उधर न जा, रख लक्ष्य एक
जाना-पहचाना कैकयी का वक्ष देख,
वह अपनी एक अकेली है जो व्यथा सुने,
दूसरा कौन, जो पीड़ित मन की कथा सुने ?
होने को है अब साँझ और कल राजतिलक !
मैं देख चुकी अपनी आँखों से दृश्य-झलक
हो जाएगा सब कुछ सम्पन्न, प्रात में ही
करना है मुझे सभी कुछ आज रात में ही !
आज ही रात—आज ही रात सब करना है
अन्यथा डूब कर सरयू में ही मरना है
दायित्व निभाना है इस चिन्तित दासी को
देना है तृष्णा नीर सिंहिनी प्यासी को !
उस ओर राम सीता-समेत पूजा-निमग्न
इस ओर मन्थरा देख रही नव स्वप्न-लग्न
उस ओर कर चुकी कौसल्या धन-धान्य दान
इस ओर मन्थरा करने को अब कुटिल ध्यान !'

यह कैकेयी का कक्ष : स्वर्ग-प्रासाद-खण्ड,—
सुख-सुरभित भोग-विलास-भरा ऐश्वर्य-दण्ड
लम्बे-लम्बे दर्पण-सुचित्र, सब कुछ सज्जित
इन्द्र भी भवन को देख तुरत होगा लज्जित !
दीवारों पर सोना-चाँदी, मणि-रत्न-कान्ति
हीरों से चकमक-चकमक मनमोहक प्रशान्ति
सर्वत्र सुगन्धित वायु, सुरभि ही सुरभि यहाँ
है अवधपुरी में सचमुच ऐसा भवन कहाँ ?
कौसल्या-सदन स्वच्छ, सादा, सात्विक केवल
सीता-गृह भी निर्मल जैसे नभ चन्द्र-धवल
गैरिक प्रकाश-सा सदा सुमित्रा-कक्ष शान्त,—
ज्यों सुन्दर गिरिशिखरों पर झिलमिलझिल दिनान्त !
पर, कैकेयी-गृह-छटा रुचिर इच्छानुकूल
हर कोने में, प्रतिदिन पात्रों में विविध फूल
ऊपर-नीचे—हर ओर नयन-रमणीय रूप
कैकेयी को सचमुच कितना मानते भूप !
आना पड़ता है यहाँ उन्हें प्रायः प्रति दिन
उनके कारण अब तक न कभी मुख हुआ मलिन
इन्द्राणी-सी कैकेयी की सुख-दशा सदा
दशरथ के रहते उसे भला कोई विपदा ?
अक्षययौवना सुभग नारी वह प्रिय रानी
बरसाती जुही-चमेली ही उसकी वाणी
लम्बे-लम्बे मृगलोचन में मदिरा चूती
काली-घुँघराली केशराशि भू को छूती !
नख से शिख तक मोहक शरीर मानन्द सदा
दशरथ के रहते उसे भला कोई विपदा ?
जादू है, जादू है उसकी दो बाँहों में
झर जाते स्वर्ग-कुसुम आलिंगित छाँहों में !
मिलती है कहीं-कहीं ही ऐसी वासन्ती
कोमल कैकेयी कितनी है रस-रूपवती !

पुण्यों से होती प्राप्त मोहिनी सुन्दरता
मिलती है किसी-किसी को ऐसी रूप-लता !
सुखमय शशिवदन देख कर नृपति-नयन शीतल
चाँदनी ओढ़ कर बहता मन का गंगाजल
सन्तान-सिद्धि के लिए प्राप्त परिणय-सुषमा
आँखें न खोज पाईं उसकी कोई उपमा !
जैसा उसका प्रिय रूप, भवन भी वैसा ही
भूषण-परिधान प्रसाधन तन के जैसा ही
सुन्दर शरीर पर ही शोभता वसन सुन्दर
पाकर अनुरूप अलकृति, जाता रूप निखर !
सौभाग्यवती कैकेयी सुख-अनुराग-भरी
उसकी पिक-बोली अब तक कभी न आग-भरी
लावण्य-ललित शोभा अपनी ही सीमा में
रानी की रूप-रास नृप-मन रहता थामे !

धीरे-धीरे, धीरे-धीरे-पग को सम्हाल,—
आँखों में आँसू लिए, झुका कर तनिक भाल,—
आई स्वामिनी-निकट मन्थरा सिसकती-सी,—
कर्कश करुणा से घिघियाती, कुछ बकती-सी !
लेटी-सी कैकेयी फूलों-सी शय्या पर
ऊँघी-ऊँघी आँखें निद्रा की नय्या पर !
सुन प्रिय दासी का रुदन स्वामिनी उठ बैठी
अँगड़ाई लेती सुरभित देह-लता ऐंठी
'क्या हुआ मन्थरे ! क्यों,—तू क्यों आई इस क्षण ?
किस कारण दुखी हुआ है तेरा कोमल मन ?
बोलती क्यों नहीं ? साँसें फूल रही हैं क्यों ?
अपनी आँखों को इतना रंग रही है क्यों ?
लक्ष्मण ने कुछ कह दिया ? बोल क्या हुआ आज ?
री बोल-बोल, तुझ पर कैसी गिर गई गाज ?
हे राम ! अशुभ तो नहीं कहो ? —बोली रानी
दासी के दृग से बहता अब झर-झर पानी !

साँसों में निया-नरग, तुरत हिचकी-ट्टचकी
हाथों की अगुल्यिाँ अब छाती पर चिपकी
भीगता लोर से चोली का ऊपरी भाग
प्रतिपल फुँफकार रहे दोना नासिका-नाग !
'प्यारी दासी ! इतनी पीडा तुझमें न कभी
आई है तू इस समय कहाँ से, बोल अभी ?
किससे झगडा हो गया आज ?'—बोली रानी,
निकली न किन्तु, निकली न किन्तु पीडित वाणी !
जब खडी हुई कैकेयी, आकर तनिक निकट,
तब लगी निकलने आकुल मन की शब्द-लपट .
'क्या होगा कल से—क्या होगा हे कल्याणी !
किस के बल पर अब गर्व करूँगी मैं रानी ?

हँस कर बोली कैकेयी 'यह क्या कहती है ?—
किसके बल पर मन्थरे ! सुखी तू रहती है ?
अब बोल कि किस शका से तू इतनी पीडित
तेरी आँखें किसके आँसू से हैं क्रोधित ?
सकुशल हूँ मैं तो तू क्यों चिन्ता करती है—
मेरे रहते किससे तू इतनी डरती है ?
नैहर से तू आने वाली मेरी दासी
तू सब दिन से शत प्रति शत अन्तर-विश्वासी !'
नयनों मे नूतन अश्रु लिए बोली कुबडी .
'पटरानी ! मेरे जीवन की यह कठिन घडी
क्या कहूँ और क्या नहीं कहूँ, ऐसी दुविधा
लगता समाप्त होने को है अब सुख-सुविधा !'
इतना कह कर मन्थरा लगी अकुलाने फिर—
लग गई अमिट शका-घन-सी मडराने फिर
इस बार स्वामिनी ने उसके दृग को देखा
भीतर-भीतर ही कौंधी बिजली-सी रेखा !
साँसों में लहर लिए बोली मन्थरा तभी
'आज्ञा हो तो हे देवि ! आज कुछ कहूँ अभी

इतिहास बदलने वाला है यह रे रानी !
अधरों पर आ-आकर छिप-छिप जाती वाणी
कट सकती मेरी जीभ अगर मैं सत्य कहूँ
मिट सकता मेरा धर्म अगर चुपचाप रहूँ
अच्छा होता यदि आप तनिक बाहर आतीं
तब मैं कुछ कहकर न निष्कंटक बच जाती !
आँखों से देखा हुआ दृश्य ही सच होता
अपना ही दृगदल अपने आँसू को ढोता
मैं कहूँ और सब सुनें आप यह उचित नहीं
केवल सुन कर ही नहीं निकलती बात सही !'

'क्यों इतना घुमा-फिरा कर बोल रही है तू ?
उत्सुकता में शंकाएँ घोल रही है तू
तेरी बातों पर किया न कब विश्वास भला ?
क्यों समझ रही अपने को तू इतनी अबला ?'
—बोली कैकेयी—'कह दे जो कुछ कहना है
कहना है मेरे संग तुझी को रहना है
मैं क्यों जाऊँ बाहर जब तू ने देख लिया
जल्दी अब कह कि कहाँ, किसने क्या काज किया ?'

ज्यों बिल से अपना फण निकालता है विषधर,
हो गई मौन दासी दो-चार वाक्य कह कर
सुन कर विनोद-वाणी, कैकेयी ने डाँटा
वह नहीं लगा पाई लेकिन कोई चाँटा
बोली कि 'राम से प्यारा कौन हमारा है ?
किसको आँखों का नहीं पुत्र वह तारा है ?
होने दे कल राज्याभिषेक यह उचित बात
शुभ समाचार सुन नींद न होगी आज रात !
है मुझसे अधिक प्रसन्न कौन ? ले कण्ठहार,
क्या कैकेयी ने किया राम को कम दुलार ?

खेला वह मेरी गोदी में प्रिय बचपन में,—
कौतूहल भरता रहा सदा मेरे मन में
तू नहीं जानती ? भरत-राम कितना अभिन्न
मेरे मुदित-पट पर दोनों के हैं चरण-चिह्न !
किसको कम प्यार किया मैंने, यह नहीं ज्ञात
मेरी आँखों में अंकित दोनों के प्रभात
जानता राम ही, मैं उसकी प्यारी माता
क्या कौस या से कम कैकेयी का नाता ?
मन्थरे ! सदा चेरी-जैसी ही बात न कर
अब मैं ऐसा अनुचित कोई आघात न कर !
करती हूँ क्षमा कि फिर ऐसी अब भूल न हो
दे तू ऐसा ही फूल कि जिसमें शूल न हो
आश्चर्य कि मेरी चेरी में प्रतिकूल भाव
वह सकती यह मन्थरे ! कि किस कारण दुराव ?'

'कहने से अब क्या लाभ ?'—मन्थरा उठी बोल—
मन-ही-मन सचित शब्दों को सहसा टटोल
'मैं नीच नारि, ऊँची बातें जानूँ कैसे
लेकिन असत्य को सत्य आज मानूँ कैसे !
कुबडी हूँ, कपटी हूँ, कुरूप हूँ, काली हूँ
दुष्टा, घर-फोडी, गरल छिपाए व्याली हूँ
सच ही बोलूँ तो कौन करे विश्वास यहाँ
रुकता, धरती ऊपर, नीचे आकाश यहाँ !
जानती सभी दासियाँ कि कल राज्याभिषेक
आए हैं दूर-दूर के भी राजा अनेक
आज ही प्रात में हुई एक मुनिराज सभा
सम्पूर्ण नगर में फैली है आनन्द प्रभा
पर, मेरी रानी कुछ भी नहीं जानती है !
इसलिए कि वह बेटे को बहुत मानती है
छोटी बात छोटी पटरानी हित केवल
पर, बड़ी बात में साम्राज्ञी ही सदा सरल !

बैठे कोई गद्दी पर, हानि हमारी क्या ?
दासी भी बन सकती है राजदुलारी क्या ?
मैं नही सोचती कुछ भी अपने लिए कभी
आई क्या अपने कारण मैं इस समय अभी ?
जानें भगवान कि आई मैं किस लिए यहाँ
राज्याभिषेक है यहां, भरत-शत्रुघ्न वहाँ ।
मैं नीच नारि, ऊँची बातें जानूँ कैसे ?
चाँदनी रात को स्वर्णिम दिन मानूँ कैसे ?
है अधिक बोलना भी दुर्गुण ही जीवन में
पर, कैसे कोई बात छिपा लूँ मैं मन में
कहती आई जब सब कुछ अपनी रानी को
तो कैसे आज छिपा लूँ कठिन कहानी को ।
इतनी जल्दी क्या थी कि तुरत राज्याभिषेक ?
किसने भर दिया नृपति के मन में यह विवेक ?
किस कुटिला की यह चाल कि दो भाई न यहाँ
दौडाऊँ अपनी दृष्टि आज मैं कहाँ-कहाँ ।
हे भरत-जननि ! मुझमे तो उतनी बुद्धि नही
कहने आई कुछ बात किन्तु मैं सही-सही
दासी हूँ, पूरी बात नहीं कह सकती मैं
टूटे-फूटे शब्दो मे ही कुछ बकती मैं
चाहता कौन यह नही कि राम बनें राजा
शका का कारण नही बधाई का बाजा
कुछ नही जानती आप, यही सदेह एक
कल से क्या होगा ? उठती शकाएँ अनेक ।

सदेह—स्पष्ट सदेह, यहाँ से वहाँ व्याप्त
सदेह—कुटिल सदेह वहाँ से यहाँ व्याप्त
किसकी यह कलुषित राजनीति ? बोलो रानी !
मेरी आँखो से व्यर्थ नही झरता पानी
खाकर नित नमक, रही मैं सब दिन सदा पास
लेता है नाम तुम्हारा ही प्रत्येक स्वास
आई नैहर से मैं अटूट विश्वास लिए,—
मानोगी मेरी उचित बात, यह आस लिए !"

इतना कह कर हो गई मन्थरा तनिक मौन
कैकेयी की पहली करुणा कुछ हुई गौण
देखी दासी ने उसकी मुख-मुद्रा नवीन
गंभीर नयन शंका-समाधि में हुए लीन!
रानी हो गई खड़ी कुछ क्षण, शय्या-समीप
सुधि-पथ पर केवल कौसल्या, केवल महीप.
मुझसे भी नृप ने किया भला विश्वासघात?
काटूँगी कैसे रे मन, अपनी आज रात!
करना था जो कुछ उन्हें, पूछ कर ही करते!
किसलिए—किसलिए वे मुझसे इतना डरते?
कब मुझसे विघ्न हुआ कोई कि तिरस्कृत मैं?
मंगल विचार-विनिमय से भी क्या वंचित मैं?
परिणय-प्रण की आ रही याद क्यों प्रथम बार?
था बन्द, प्रेम के कारण मेरा स्वार्थ-द्वार
माँगू कैसे अधिकार? वह विपरीत रीति
निष्कपट राम पर मेरी सदा अटूट प्रीति!
खोटा हो जाता कभी-कभी नारी-स्वभाव
लोभी मन ही करता अपनों से भी दुराव
बुनने लग जाती नारी जब-तब कपट-जाल
बन जाती ईर्ष्या के कारण वह कभी व्याल
बन्धुत्व बिखर जाता नारी के खटपट से
चूने लगता पानी गृह के फूटे घट से
बिखरा देता विद्वेष एकता की माला
कर देती कलुष कुटिलता ही मन को काला!
मैं कैकेयी क्या करूँ? वरूँ मैं किस पथ को?
दौड़ाऊँ मैं किस ओर आज अकल रथ को?
करना था जो कुछ उन्हें, पूछ कर ही करते!
किसलिए—किसलिए वे मुझसे इतना डरते?
आ जाता यदि प्रिय भरत भला तो क्या होता!
राज्य के लिए उसका मन कभी नहीं रोता,—

भाई के मुकुट-महोत्सव में रहता भाई
पड सकी न उस पर छल-प्रपंच की परछाईं
सन्देह भरत पर भी—मुझ पर भी प्रथम बार
है नहीं तर्क में हीन मन्थरा का विचार
षड्यन्त्र कौन का ही इसमें, लगता ऐसा
इस घडी न कोई दुखी कदाचित मुझ-जैसा!
सूचना राम ने भी न मुझे दी क्यों कोई?
किसने उसके निश्छल मन में ईर्ष्या बोई?
ईश्वर हे! इस जग में ऐसा भी छल-प्रपंच?
कैसा नाटक हो रहा कि अब हिल रहा मंच!
वह राम जिसे मैंने सुतसा ही किया प्यार,
अपनी माता के लिए दिया मुझको बिसार!
वह राम कि जिसके लोचन मेरे लोचन में
वह राम कि जिसका रूप सदा मेरे मन में,—
भूला कैसे, वह निज कैकेयी माता को!
क्या तोड दिया उसने ममत्वमय नाता को?
वह राम कि जिसका नाम भरत लेता प्रति पल,
क्या छोड दिया उसने प्रिय भाई का संबल?
भगवान! प्रेम का यह कैसा परिणाम आज!
रूठा है, रूठा है मुझ से भी राम आज!
लगता कि विधाता ही मुझसे हो गए खिन्न
मिटने को मेरे उर के अब वात्सल्य-चिह्न
कोसूँ किसको? कौशल्या को या प्रिय पति को?
धिक्कारूँ मैं इस समय भला किसकी मति को?
करना था जो कुछ उन्हें, पूछ कर ही करते
किसलिए—किसलिए वे मुझसे इतना डरते?'

रानी के दृग में अश्रु! मन्थरा ने देखा
आँखों में अंकित दुविधा की चंचल रेखा
बोली वह 'क्षमा करो रानी! दुख हुआ तुझे
तुझसे कुछ भी कम नहीं हुआ है क्लेश मुझे।

है समय बड़ा बलवान, प्रेम घटता, बढ़ता
नीचे जो आज, वही फिर कल ऊपर चढ़ता
चलती ही रहती कूटनीति सब के घर में
स्थिर रहती है सब दिन सत्ता किसके कर में ?
सुख-दुख का चक्का तो चलता ही रहता है
दुर्बल मन ही विश्वासघात को सहता है
दुर्दिन आने पर चुप रहना ही चतुराई
पतझर में कैसे लें लतिकाएँ अँगड़ाई !
देख, उत्सव में कब जाना होगा कि नहीं
यों ही जाने से बुरा मान लें नृपति कहीं !
अनुचित ही तो है बिना सूचना के जाना
संभव न कदाचित आज यहाँ नृप का आना !
लगता कि महारानी ने जादू फेर दिया
उसने ही उनके कोमल मन को चुरा लिया
अन्यथा अयोध्यापति इतने निर्मम न कभी
होते वे अपनी कैकेयी के पास अभी !
पर हाय ! राजमाता-पद-लोभी बुद्धि कुटिल
प्रौढ़ा कौसल्या का मानस इतना पंकिल ?
कर सकती वह बल से अनिष्ट भी हे रानी !
मेरी आँखों से व्यर्थ नहीं झरता पानी
हो सकता वही भरत कि ऐसी आशंका,
दुर्बुद्धि पीटती सदा कुटिलता का डंका
दुर्गति होगी कल से ही स्वयम् तुम्हारी भी
डाँटेगी तुम्हें यहाँ साधारण नारी भी
छा जाएगा इस घर में भय का अंधकार,—
तुम पा न सकोगी अब नृप-पति का नवल प्यार
नश्वर ऐश्वर्य बिखर जाएगा क्षण भर में
रह जाएगा कुछ भी न तुम्हारे इस कर में !
अन्तिम दिन की तुम हो रानी, यह याद रहे
चुप रहे मन्थरा कैसे इस क्षण बिना कहे
अन्तिम दिन भी अब कहाँ ? मात्र अब एक रात
सुनना चाहो तो सुन सकती हो एक बात !

बस, एक रात की रानी तुम, समझो रहस्य
हे शक्तिशालिनी ! इसी रात तक तुम नमस्य,—
पर सब, जब मेरी केवल दो ही बात सुनो
सुन कर कुछ करने के पहले तुम स्वयं गुनो !
रानी मत कहना मुझे कि धोखा दिया तुम्हें
कहना न कभी दिग्भ्रान्त कभी भी किया तुम्हें
कौशल्या की सेविका न बनने दूँगी मैं
सौतानी है मतिमान, नहीं यह लूँगी मैं !
कल होगी जो कुछ कर लूँगी स्वीकार उसे
देखूँगी विजयी दृग से बारम्बार उसे
यह अन्तिम रात तुम्हारी प्रबल परीक्षा की,—
रघुकुल की मर्यादा की उज्ज्वल शिक्षा की !"

कैकेयी विहँस उठी सहसा सुन, शेष वचन
उसकी प्रसन्न आकृति पर ही मन्थरा-नयन
'वह कौन बात तेरे मन में ?'—बोली रानी,
सुनने को आतुर कुसुम-वर्ण-कोमल वाणी !
'भय लगता है कि कहीं तुम कहना मानो ना—
अपने हित को भी रानी तुम पहचानो ना'
—बोली चतुरा मन्थरा उठा कर सिर ऊपर
वह खड़ी हो गई नागिन-सी अपने भू पर !
तब कैकेयी ने कहा 'बोल क्या कहना है—
अब इस घर में अथवा नैहर में रहना है ?
कौसल्या की दासी बन कर रहना न मुझे
है पराधीनता के दुख को सहना न मुझे !
सुत को बन्दी होने से मुझे बचाना है
कह री ! क्या मुझे यहाँ से जल्दी जाना है ?
दी तू ने आँखें खोल, बोल क्या करना है ?
कैकेयी की बिजली को कहाँ बिखरना है ?
जिस पर मैं टूटूँ ? बोल, बोल,—तू तुरत बोल ?
मन की आँधी से इच्छा-लतिका रही डोल

क्या लेना है प्रतिशोध ? मन्थरे ! तुरत बता,
मेरे मानस पर फैल चुकी अब अग्नि-लता !'

ले गई मन्थरा हाथ पकड़ कर कोने मे
थी कूटनीति कितनी उसके प्रिय रोने मे
दासी ने उसके कानो को विष पिला दिया
चतुराई ने चतुराई से ही काम किया !
उन बातो को सुन कर कैकेयी मुदित हुई
वह कुटिल कालिमा-धूमकेतु-सी उदित हुई !
दशरथ के दो वरदानो की सामयिक याद
खिल गया लाल पाटल-सा रस-गन्धित विषाद !
बन गए फूल, पत्थर उसकी कोमलता के
मिट गए माधवी चिह्न मधुर निर्मलता के
लुट गए भाव-वैभव उज्ज्वल निश्छलता के
उग आए अकुर अग्रिम स्वार्थ सफलता के !
नारी नागिन बन गई उपेक्षा के कारण
अनुचित प्रलोभ से हुआ अचानक दूषित मन
कटुता का गरल पिलाना कितना सरल काम
करती कैकेयी कुटिल मन्थरा को प्रणाम !

सम्पूर्ण अयोध्या मे अपूर्व उल्लास व्याप्त
राज्याभिषेक के सभी कार्य प्राय समाप्त
चिन्ता-विमुक्त नृप दशरथ थके-थके-से अब
मन मे उमग कब से कि 'प्रिया को देखूँ कब !
कब स्वय सुनाऊँ जाकर सब कुछ रानी को
कब सुनूँ अमृतमय उसकी कोमल वाणी को
मैं वही आज की रात बिताना चाह रहा
दुख है कि दो दिनो मे उससे कुछ भी न कहा !
ज्योतिष-विचार मे उलझा रहा तरगित मन
पर, मिला पुष्य नक्षत्र कि जिसमे हो पूजन

अब शीघ्र सुनाऊँ कैकेयी को सुखद बात
जाऊँ उसके आनन्द-भवन में आज रात।
उसकी रमणीय वाटिका में विचरूँ कुछ क्षण
देखूँ इन आँखों से वसन्त के खिले सुमन
बैठूँ उपवन के स्फटिक सरोवर के समीप
आज ही रात तक तो रघुकुल का मैं महीप।
घूमूँ रानी के संग-संग पुष्पित पथ पर
देखूँ चत्वर पर चढ़ कर सन्ध्या-दिनकर
सोने-सी लाली में देखूँ सुरभित मुखड़ा
कैकेयी का मुख अब तक पूनम का टुकड़ा
उसके घुँघराले केश कि जैसे मोर-पंख
उसकी लम्बी ग्रीवा जैसे श्वेताभ शंख
उसके नयनों में सुधा-यामिनी की राका
निकला प्रेमामृत ही, जब-जब उनमें ताका।
आ जाते उसके निकट हंस पंछी अनेक
उसकी सुन्दरता में अद्भुत शासन-विवेक
संकट में उसने सदा बँटाया कुशल हाथ
कैकेयी ने सब दिन दशरथ का दिया साथ।
होता स्वभाव-समता के कारण प्रेम मधुर
होता न कभी भी हृदय बुद्धि-सा स्वार्थ-चतुर
उर ही करता सब कुछ अर्पण, यह तन अकाट्य
करने लगती है चतुर बुद्धि ही कुटिल नाट्य।
श्रद्धा ही सर्वोत्तम गुण है प्रिय नारी का
है अमृत भरा हर फूल हृदय की क्यारी का।"
—सोचते-सोचते दशरथ बहुत दूर आए
आनन्दित मन में सुधियों के सपने छाए
लहराए स्नेह-समीर मुदित मन के भीतर
आत्मा के पट पर अंकित राम-रूप सुन्दर
स्मृति-सिंहासन पर सीताराम मुकुटधारी
जन-मन-मयंक की निखरी बिखरी उजियारी।
कौशल्या, कैकेयी—सब कोई अति प्रसन्न
सबकी आँखें राज्याभिषेक से प्रभाच्छन्न।

—सुधि मे निमग्न दशरथ पहुँचे अब द्वार-निकट
झुक गए सभी प्रहरी-दासी के मस्तक झट।
उत्सुक तन-मन का अब अन्त पुर मे प्रवेश
लम्बे दर्पण मे प्रतिबिम्बित कोसलनरेश
क्यो नही अभी तक मृदुल प्रिया का आलिंगन ?'
—अति व्यग्र-व्यग्र पल भर मे ही नृप-विकल नयन
सौरभ-सुरभित प्रासाद किन्तु प्रेयसी कहा ?
चाँदनी हर जगह किन्तु नहीं चन्द्रमा यहा
दो पुष्पहार है यहा, वहा पर प्रणय-पान
सब कुछ है, सब कुछ, लेकिन कहाँ चकोर-प्राण।
खाली है कनकासन, सूनी है प्रिय शय्या
जाने किस ओर प्रवाहित चंती पुरवैया
क्या अभी प्रसाधन-व्यस्त प्रिया ? देखूँ भीतर
पर, कहाँ ? यहाँ भी नहीं, वहाँ भी नहीं ठहर।
चचल सुलोचने। कहाँ छिपी, तू कहाँ लुकी
हेरते-हेरते आँखें मेरी थकी-झुकी
है थका आज हे प्रिय। वसन्त-परिहास न कर
छिप-छुप कर मेरे मन मे केलि-तरग न भर।

इतने मे नृप के निकट एक दासी आई
एक ही वाक्य कह कर वह सहसा सकुचाई
'हे महाराज। देवी तो कोपभवन मे है।'
आश्चर्य-चकित दशरथ कि आज क्या मन मे है ?
आए वे कोपभवन मे पहली बार यहाँ
बिखरे हैं आभूषण भूतल पर जहाँ-तहाँ
बिखरा है हीरकहार, उधर बिखरे मोती
कैकेयी की आँखें न अभी हँसती-रोती
हैं खुले केश, है मलिन वसन, मूर्च्छित-सा मन
पर, चमक रहा है पहले-सा ही चन्द्रवदन
सुन्दरता कैसी की कैसी भू पर लेटी
तारों के बादल मे किस पूनम की बेटी ?

आँखें नीचे ही गड़ी हुईं, फैली बाँहें
उठती-गिरती-सी साँसें भरती-सी आहें
अंगूरों-सी चरणांगुलि मछली-सी छटपट
मणि-मुख पर लटकी-सी अपनी ही नागिन-लट !
दोनों मुट्ठी में क्रोध, मुकुटि में कपट-लहर
जाने कैसा होगा जिह्वा का गुप्त जहर
किस हठ के स्मारक-सी इतनी रूठी नारी
छवि के प्रकाश से निकल रही अब अँधियारी !
आते ही कुछ भयभीत हुए भावुक दशरथ
सूझा न शुद्ध मन को कोई भी सत्य-पथ
'प्रियतमे ! न ऐसा कभी किया पहले तुमने,—
पल-तक तो हँस कर प्रीति निभाई है हमने !
—बोले चिन्तित नृप बैठ, तुरत भू पर सट कर,—
कैकेयी के कर-कमल प्रकम्पित कर में धर :
'तुम कभी नहीं इतनी रूठी भोली रानी !
क्यों नहीं निकलती है मुख से कोई वाणी ?
हे देवि ! कहो जल्दी कि तुम्हें क्या हुआ आज ?
किस कारण क्रोध में डूबी मन की मधुर लाज ?
अधखुले नयन खोलो, बोलो हे इन्द्राणी !
क्यों नहीं निकलती है मुख से कोई वाणी ?
देखो अब मेरी ओर कि कितने दुखी नयन
हो रहा असह कोमले ! तुम्हारा भूमि-शयन
किसने अपमान किया प्रिय हे ! मेरे रहते ?'
—हो गए मौन दो क्षण दशरथ कहते-कहते
तब तक तन-मन में बहुत व्याप्त मन्थरा-गरल
ईर्ष्या के कारण सुन्दर नारी क्रोध-विकल
अपनी ही ज्वाला से जलता अपना शरीर
अपनी ही पीड़ा से पीड़ित नारी अधीर !
अब नहीं नाटिकाएँ केवल तन में, मन में
प्रतिशोध-भावना तड़ित-चपल चिन्तन-रण में
काँपने लगी आक्रोश-भरी दामिनी-देह
मन-ही-मन क्रोधित प्रश्न कि 'झूठा नृपति-स्नेह !

शासक को क्या विश्वास कि कब क्या कर खेल
किसको कब किस गड्ढे में दे सहसा धकेल
मनमानी उसकी बात, हठी उसका मानस
वह दे वह दिन को रात, रात को दिव्य दिवस!
कब किसको दे वह छोड़, साथ दे कब किसका
कर लेता है वह संग कभी जिसका तिसका
वचनों को जाता भूल, अहम् में रहता वह
रहती न याद उसको कि कहाँ क्या कहता वह!

अति विकट परिस्थिति देख, अयोध्यापति विचलित
चितवन चिन्तित, आशा-उत्कंठाएँ चिन्तित
अंगुलियाँ सहलाती सी मसृण मयूर-कच
लोचन-जल में सुन्दरी प्रिया का मलिन वदन!
फिर तुरत गिड़गिड़ाए दशरथ दूँ किस दण्ड?
किसका मैं चूर करूँ रानी, किसका घमण्ड?
तुम स्वयं जानती, क्या होती सम्राट्-शक्ति
उस पर भी तुम पर मेरी कितनी स्नेह-भक्ति
प्रिय! उठो, कहो क्या करना है? आज्ञा दो अब
माँगना चाहती क्या मुझसे कोई वैभव?
बोलो क्या दूँ? क्या नहीं तुम्हारे पास प्रिये?
होता है मुझ पर क्या न आज विश्वास प्रिये?
दो वचन दिए थे कभी तुम्हें भीषण रण में,—
वे याद अभी तक हैं रूपसि, मेरे मन में!
मुझ पर जो प्रेम तुम्हारा वह किसको न ज्ञात,
प्रिय उठो, करो हँस कर मुझसे अब मधुर बात!
मेरे शासन की बची हुई है एक रात
माँगो, प्रिय माँगो कुछ मुझसे अब करो बात
सूरज ढलने की बेला यह, निकलो बाहर
मानिनि! देखो, बाहर कैसी आनन्द-लहर
बजते हैं वाद्यवृन्द, छाया उल्लास-हास
कोई भी पुर-वासी न कहीं किंचित् उदास

पथ-पथ पर चहल-पहल, जन-जन में हर्ष-नाद
कोई भी नहीं कदाचित् जिसमें कुछ विषाद
केवल तुम—केवल तुम प्रिय हे! अति व्यथित मौन
कह दो मुझसे कह दो मुझसे है व्यथा कौन
कल ही न तुम्हारे प्रिय सुत का राज्याभिषेक
माँगा था तुमने कभी अभीष्ट सुझाव नेक
कोरी थी तुम उस दिन कि राम से श्रेष्ठ कौन!
सुन मर्यादित प्रिय वचन, हुआ था हृदय मौन
कितना सुखकर था सहज तुम्हारा परामर्श
रक्षित तुमसे सब दिन रघुकुल का महादर्श!
मेरी रानी! तुमसे न कभी मैं खिन्न हुआ,—
पल भर न कभी भी तुमसे अन्तर भिन्न हुआ
कुछ मान घटा छोटा, नन्हा मान या की
प्रियतम! किन्तु साकार तुम्हारी सब झाँकी!
बाकी यदि कोई काम, उसे पूरा कर दूँ
इच्छा की झोली का सहर्ष क्षण में भर दूँ
बैठेगा राम तुम्हारा ही सिंहासन पर
माँगेगा तब तुमसे ही सब कुछ जीवन भर!—
तुम दोनों में अति स्नेह, तुम्हारा वह पूजक
वात्सल्य-विभूषित पुत्र सदा आज्ञापालक
हे भरतमातु! सचमुच में तुम्हीं राम-माता
निज जननी से भी तुमसे उसका प्रिय नाता
किस दिन न तुम्हारे चरणों पर उसका मस्तक!
तुमको भी चैन कहाँ आए न राम जब तक
संभव कि आज वह भी तुमसे हो मिला नहीं
हो नहीं मिला व्रत के कारण अवकाश कहीं
रानी! अब आँखें खोलो, मेरी व्यथा हरो
यदि कोई भूल हुई मुझसे तो क्षमा करो
मेरे शासन की बची हुई है एक रात
माँगो, प्रिय माँगो कुछ मुझसे, अब करो बात
दो वचन दिए थे कभी तुम्हें भीषण रण में,—
वे याद अभी तक हैं रूपसि! मेरे मन में

मुझमे न कभी भी छल प्रपंच, तुम जान रही
कैकेयी ! तुम तो दशरथ को पहचान रही !
कब हुई उपेक्षा प्रिय, मुझसे ? कब मैं नोचिन ?
देता ही आया तुम्हे प्रेममय आदर निन
कहने को तुम छोटी रानी पर, तुम्हा वडी
आई न किसी दिन तिरस्कार की कभी घडी
मेरे सम्मुख तुम प्रणय-पुष्प सी नित-नवीन
नीडित नयनो के शीतल जल मे नयन मीन
प्रिय ! उठो-उठो, अब उठो उठो, अब उठो आज'
—इतना कह कर चुप हुए निवेदित महाराज !

उठी कैकेयी के उर मे विपरीत भाव
मन की सरिता पर तिरती सी प्रतिशोध-नाव
पति की निष्कपट पुकार तरंगित कानो मे
सारी इच्छाएँ केन्द्रित दो वरदानो मे !
आस्था की दृढ दीवार अचानक हिलती-सी
मन के भीतर मन्थरा स्वप्न-सम मिलती-सी
'कैकेयी ! रहना सावधान चतुराई से
बचना राजा की प्यार भरी परछाई से !
सब कुछ कह कर भी उसने तुमसे कुछ न कहा
यों ही वह भावुकता की धारा पर न बहा
दो वचन अभी तक याद उसे ! पर सत्य कहाँ ?
अब भी क्यों दृष्टि नही पडती है भरत जहाँ ?
तेरे विवाह की शर्त्त उसे क्या स्मरण नहीं ?
ऐसे महत्व की बात कोय भूलता कहो ?
तेरे दोनो वरदान भरत-हित भाग्य-बाण
इनमे ही छुपा हुआ तेरे मन का निदान
मत भूल कि तू अन्तिम निशीथ की रानी है
तू कोप भवन की अन्तिम प्रणय-कहानी है
विश्वास आज पर कर, कल का न भरोसा है
खा ले, थाली मे जो कुछ आज परोसा है !

है तेरा अति प्रिय राम, भरत क्या पुत्र नहीं ?
तेरे अपने उर का वह अपना सूत्र नहीं ?
पाला है किसे उदर में ? तू यह जान रही
अपने के रहते तू किसको पहचान रही ?
कुछ कहना था राजा को तो पहले कहता
अनुमति पाकर ही वह अपनी गति पर बहता
सब कुछ करने के बाद अभी वह आया है
तेरे मन पर वह असमय घन-सा छाया है !
संकल्प तोड देने पर फिर अस्तित्व कहाँ ?
झुक जाने पर रह जाएगा व्यक्तित्व कहाँ ?
अपने को अपना मान, छोड अन्य का मोह
अपमानित नारी ही करती है उग्र द्रोह
उठ कर अब बैठ, विकल नृप-नयनों को निहार
सुन्दरता के सम्मुख उसका मन गया हार
तेरे चगुल मे फँसा हुआ सम्राट् आज
मत कर—मत कर चचले ! तनिक भी लोकलाज !

कैकेयी के मानस मे अब मन्थरा-गरल
ऐसा प्रलोभ-मद कभी-कभी विश्वास-विरल
रह-रह कर बुद्धि-विकल मन मे विस्फोट घोर
अब आत्म-नाटिका अनल-अश्रु से नरवोर !
मस्तिष्क-पटल पर विविध दृश्य आते-जाते
भीतर ही भीतर प्राण बहुत ही अकुलाते
लगता कि अयोध्या मे राक्षस-सेना आई
अन्तःपुर तक उद्भ्रान्त असुरता छितराई !—
इस स्वप्निल चिन्ता-क्षण मे सक्षम राम-बाण
पुरुषोत्तम वीर पुत्र सचमुच कितना महान
—कैकेयी की आँखों मे अनगिन स्वप्न-चित्र,
निश्चय ही रामचन्द्र जन-मन का महामित्र !

मन्थरा-गरल अब अधिक तीव्र, अब अधिक लाल
डँसने को व्याकुल भूपति को अब कपट-व्याल
फैला दशरथ-दृग में प्रिय का मुक्तमणि-प्रकाश
आसन पर अब दोनों, अधरों पर मधुर हास।
विद्युत् की लता-चढ़ी-सी तन-तरु-बाँहों पर
बिखरे-बिखरे-से फूल रूप की छाहों पर
कामना-सपेरी तुम्बी तुरत बजाती-सी—
मोहिनी माधुरी तन-मन पर बिसराती-सी।
कलिका-सी हँसती कैकेयी ने कहा—'नाथ।
निष्ठापूर्वक क्या रही न मैं आपके साथ ?
कल आ न सके क्यों ? रही प्रतीक्षा करती मैं
जाने क्यों कुछ कहने में हूँ अब डरती मैं।
नृप के रहते मैं नहीं किसी से अपमानित
होती आई हूँ हर प्रकार मैं सम्मानित
एक ही रात की अब रानी—पटरानी हूँ
कल ही कुम्हला जाए वह कुसुम-कहानी हूँ!
दो दिए गए वचनों की याद दिला दी क्यों ?
सुधि की मदिरा आपने सहर्ष पिला दी क्यों ?
इच्छा पूरी कर दें तो कुछ मैं आज कहूँ
या यों ही अबतक-सा केवल चुपचाप रहूँ।
आज्ञा हो तो कुछ बोलूँ मैं हे प्रिय नरेश।
वचनों को पूरा करते क्या होगा न क्लेश ?
कुछ माँगूँ लेकिन मिले नहीं तो दुख होगा
आवश्यक नहीं कि देकर केवल सुख होगा
कहिए तो मैं कुछ कहूँ अन्यथा नहीं कहूँ
वरदान प्राप्त कर भी पत्थर-सी मौन रहूँ
कुछ लेने को ही कोपभवन में आई मैं
करती हूँ अपने लिए आज निठुराई मैं।

निश्छल दशरथ आह्लादित प्रिया-निवेदन से,
बोले वे रूप-मंत्र-मोहित प्रमुदित मन से—
'कहता हूँ राम-शपथ लेकर, मांगो मुझसे,—
छल किया कभी भी हे रानी ! मैंने तुमसे ?
वीरता तुम्हारी याद अभी तक है रण की
भूलूँ कैसे अनुपम सेवाएँ उन क्षण की
मेरे घायल तन से निकाल कर बाणों को—
हे देवि ! बचाया था तुमने ही प्राणों को !
तुमने ही फूटे सिर मे पट्टी बाँधी थी,—
मेरे रण-रथ पर तुम साहस की आंधी थी
यदि तुम न वहां होती तो मिलती नहीं विजय
वह केवल भीषण युद्ध नही, था समर-प्रलय !
मिट जाता मैं, यदि तुम न वहां रथ पर होती
गिर जाता मैं यदि तुम न खडी पथ पर होती
होना है अभी उऋण, मुझसे मांगो ही अब
तुम आज नही मांगोगी तो मांगोगी कब ?
सम्राट् आज भर ही हूँ मैं, मांगो प्रिय हे !
मांगो इस क्षण ही, आगे समय रहे न रहे
है यही उचित अवसर कि चुका दूँ ऋण अपना
बनने मत दूँ मैं सत्य-वचन को अब सपना !
खाता न राम की शपथ, अगर कपटी होता
देता न वचन, यदि मन कोई भी छल ढोता
उपकार भूल जाता केवल कलुषित मानव
जो छली-प्रपंची, वह भी तो भू का दानव
मांगो, प्रिय मांगो, निकलो कोपभवन से अब
उद्यानकुञ्ज मे चलो, सुनो नूतन कलरव
गमगमा उठे हैं चारो ओर वसन्त-फूल
वाटिका-वीथि पर उडते सौरभ के दुकूल
'रघुकुल की रीति यही कि प्राण से श्रेष्ठ वचन
मांगो, मांगो हे देवि ! अभी इस क्षण, इस क्षण !'
—सुन कर सुखकर पति-कथन, वज्र-मन अति कठोर
निर्ममता की लहरो का कोई नही छोर

अति निठुर नयन, अति निठुर प्राण, अति निठुर देह
पत्थर बन जाने पर उर मे क्यो रहे स्नेह !
आग्नेय कंठ मे विष ही विष का विषम कोप
सुन नृप अवाक्-निर्वाक्, गरलमय शब्द-घोप
'सम्राट् ! स्थगित हो स्थगित, राम-राज्याभिषेक
बैठे गद्दी पर पुत्र भरत, यह माँग एक !!
दूसरी माँग यह है रघुवंशी विश्वासी !
चौदह वर्षों तक राम बने अब वनवासी !!!
दण्डकारण्य मे रहे राम, इच्छा मेरी
जाने मे नही करे वह ममतावश देरी
त्यागे वह सुन्दर राजवस्त्र, पहने वल्कल
गंगा-तट तक ही रथ-यात्रा, बाकी पैदल !'

सुन अग्नि-नाद, दशरथ के दोनो कान सन्न
केवल शरीर ही नही, प्रकम्पित प्राण सन्न !
उच्चरित मात्र 'हे राम !' काँपते होठो पर,
तन थर-थर-थर, मन थर-थर-थर, आत्मा थर-थर !
"क्या कहा मुझे—क्या कहा मुझे कैकेयी ने ?
उसने क्या अपने मुँह से कहा जहर पीने ?
भगवान ! सही क्या सुना ? मुझे विश्वास नही !
कैकेयी धरती छू सकती, आकाश नही !
हे राम ! तुम्हारी माता कितनी क्रूर-क्रूर
यह भेज रही है तुम्हे यहाँ से दूर-दूर
कैकेयी ! निज निर्णय पर कर तू फिर विचार
अपनी आँखो से फेंक न इतना अन्धकार !
किसने तुझमे भर दिया गरल ? वह कौन ? कहाँ ?
क्या अपने दशरथ के समीप तू खड़ी यहाँ ?
किसने तेरे मन मे भर दी कुत्सित माया ?
तेरे उर मे किस कटुता की कलुषित छाया ?
बाघिन ! तू ने किसके मृग पर पंजा मारा ?
तेरी आँखों मे कब से इतना अँधियारा ?

किस कारण सारा खेल बिगाड रही है तू ?
निज कर से ही उद्यान उजाड रही है तू ?
छि छि कैकेयी ! तू क्या विषधर को बेटी ?
थी गरल छिपाए कोपभवन मे तू लेटी ?
कपटी होती है अति आकर्षक नारी क्या ?
साँप को छिपा कर रखती है फुलवारी क्या ?
तेरे कारण रघुकुल-मर्यादा हुई भग
तेरी साँसो मे कब से जहरीली तरग ?
मैंने तो शुद्ध हृदय से तुझको किया प्यार
झकझोर दिया पर, तूने उर को एक बार !
कर फिर विचार कर फिर विचार, कर फिर विचार
तू ने इस क्षण क्या कहा, सोच तू बार-बार
अपनी गलती को समझ और फिर कर निर्णय
सुन अपने आत्म-व्यथित पति का एकान्त विनय
आघात न कर ऐसा कि निकलने लगे प्राण
मत चला हृदय पर अपना अनुचित वाक्य-बाण
तू रघुकुल की रानी, है दशरथ-भार्या तू
कायरता नही जानती जो वह आर्या तू
इतिहास हँसेगा तुझ पर, गाली देंगे सब
इस विषम घडी मे कर तू स्वयम् सत्य-अनुभव
नैतिक अपराध नही कर तू मेरे रहते
तेरे कारण ही दृग से अब आँसू बहते !
आया कैसे तेरे मन मे कुत्सित विचार
उत्पन्न हुआ मानस मे क्या ऐसा विकार ?
ऐसी कुबुद्धि क्यो हुई कि इतनी मलिन दृष्टि
निठुरे ! तेरी आँखो से ऐसी पाप-वृष्टि ?
जगल मे राम रहे ! कैसे यह कहा हाय,
किसने बतलाया तझे अनैतिक यह उपाय ?
किस कारण तू दे रही राम को क्रूर दण्ड ?
दण्डकारण्य मे रहते हिंसक जन्तु वण्ड !
भय की आशका होती प्रतिपल उस वन मे
चिन्ता ही चिन्ता नित घिरती रहती मन मे

कब कौन जानवर आकर किसको खा जाए
कब कौन सर्प सोए मे जीभ मटा जाए !
कब कौन ऋक्ष पी ले शोणित, कब दौड़े गज
कब किस कोने से सिंह-सिंहिनी उठे गरज
आए वाराह-झुण्ड कब दन्त-कृपाण लिए
कब घेरे विपिन-व्याध हाथो मे बाण लिए !
सोचा तूने वन का दारुण परिणाम कभी ?
जगल में जी सकता है मेरा राम कभी ?
उसकी कोई निन्दा न किसी ने अबतक की,
मेरे सहृदय सुत ने तो सब की सुधियाँ ली
कैकेयी ! तेरे प्रति तो उसकी अतुल भक्ति
सेवा के कारण ही उसमे नेतृत्व-शक्ति
सुर-मुनि-ऋषि-सा वह तेजवन्त नित स्नेहशील
है दर्शनीय उसका मुखमण्डल शुभ्र नील !
वह सत्य-शौर्य-प्रतिरूप, विनय-विद्या-प्रतिनिधि
गुणगान करूँ उसका कितना, कैसे, किस विधि
हूँ पिता, स्वय अपने मुख से क्या कह पाऊँ ?
गुण ही गुण जिसमे, उसका क्या-कह बतलाऊँ ?
कैकेयी ! मेरी मनोदशा दयनीय अभी
दुख का ऐसा अनुभव जीवन मे नही कभी
जाने मत दे तू मुझे अधर्म-सरणि पर हे !
चढने मत दे तू कभी अनीति-तरणि पर हे !
मत बन पिशाचिनी प्रिय पत्नी, मत बन निर्मम
तू स्वय समझ कर विषम भाव को बना सुगम
ले अब विवेक से काम, मर्म पहचान आज
मेरी मर्यादित बात भामिनी ! मान आज
है राम-भक्त निष्कपट भरत की जननी तू
है नही कपट-कालिमा-कलकित रजनी तू
हूँ साक्षी मैं तेरे सब सुन्दर कर्मो का
पारखी रहा हूँ मैं तेरे गुण-मर्मो का
निकली कैसे तेरे मुख से निष्ठुर वाणी
उतरा कैसे तेरी इन आँखो का पानी

नारी ! तू कैसे बनी आग की चिनगारी ?
किस कारण तेरी शीतल बुद्धि गई मारी
आई थी स्वर्ग बसाने तू इस पृथ्वी पर
नारी के बिना अधूरा ही रह जाता नर
मृदुता-ममता का अमृत मिला है तुझे नारि !
तेरी आँखो मे करुणा का आनन्द-वारि
तू पुलक प्रेम की मूर्त्ति, स्नेह-श्रद्धा की छवि
तेरी गुण-गरिमा का वर्णन करता है कवि
कैसी निर्ममता आज कि ऐसी आग बनी ?
किसके कहने पर अब तू गरल-पराग बनी ?
घर को उजाड कर चैन भला पाएगी तू ?
अपनी मर्यादा से बाहर जाएगी तू ?
किस चाटुकार ने तेरे मन को मोह लिया ?
किसकी विष-वाणी पी, तू ने विद्रोह किया ?
चुगली से बढ कर पाप नही कोई चचल
भीतर ही भीतर भर देती है यह हल्चल
दूषित हो जाता मन, चकराने लगता सिर
उठने लगता है क्रोध, उच्चता जाती गिर !
रह सावधान ऐसी विषमय नर-नारी से
बच कर रहना तू चुगली की चिनगारी से
दुष्टता नही ऐसी कोई, यह याद रहे
विश्वास न करना, कोई जब खल-वाक्य कहे !
मदिरा-सी मीठी होती चुगली की वाणी
निन्दा की ध्वनि होती न कभी भी कल्याणी
चढ जाती उसकी मादकता मन के ऊपर
अंगराने लगती है ईर्ष्या की लपट-लहर !
नारी मे जब दुर्गुण, समाज मे विषम व्यथा
मत बन कैकेयी ! तू अवगुण की आत्मकथा
निन्दा का शब्द-जाल ही पातक होता है !
सहसा अगियाया मन अति घातक होता है !
कैकेयी ! इतनी क्रूर न बन—तू क्रूर न बन
शीतल विवेक से स्थिर कर, स्थिर कर चचल मन

मत भेज राम को वन, रहने दे उसे यहाँ
उसके जाने पर देखेगी तू मुझे कहाँ !
बस, जान कि दशरथ राम-रहित होगा न कभी
प्राणों का पंछी उड़ सकता है अभी-अभी
तू नहीं समझ पाती कि दशा क्या है मेरी
मैं देख रहा हूँ अश्रु लिए आँखें तेरी
रह पाएगी सीता क्या अपने राम बिना ?
सम्भव न अकेले ही उसका भू पर जीना
मर जाएगी कौसल्या छाती पीट-पीट,
रोएगी उसके बिना भवन की ईंट ईंट
सूना हो जाएगा सब कुछ, सब कुछ सूना
तब होगा ही तुझको भी मुझसे दुख दूना
जीवित न रहेगा भरत, बचेंगे बन्धु नहीं
उस घोर विपद से मर जाए तब तू न कहीं !
कैकेयी हे ! मैं तेरा चरण पकड़ता हूँ
उठने वाली दुख की झंझा से डरता हूँ
घर के दीपक से घर में आग लगा न कभी
अनुचित अन्याय-अनल-कण को सुलगा न कभी !
अपने वरदानों को न आज अभिशाप बना
तू प्राप्त पुण्य को स्वयम् न दुस्सह पाप बना
अपने हाथों से अपने को विध्वस्त न कर
उगते-से अपने दिनमणि को तू अस्त न कर !'

यह कहते-कहते दशरथ का तन-मन कम्पित
बोली कैकेयी तत्क्षण ही 'राजन्, धिक्-धिक् !
उल्टी-सीधी बातों पर अब विश्वास नहीं
मेरे समीप धरती, सुदूर आकाश नहीं !
नर भी तो नारी-सा अकुलाता कभी-कभी
क्या-क्या न सुना मैंने पति मुख से आज अभी
उत्तम कुल का व्यक्तित्व लोभ-प्लावित क्यों ?
मोह में फँसा मानव इतना करुणायित क्यों ?

समराङ्गण मे माँगे न वचन, वे स्वयम् मिले
खिलने की वेला ही झञ्झा मे फूल हिले,—
झोंको से कोमल पखुडियाँ झरती जाती
अपनी ही आँखो से अब आँखें अकुलाती !
धिक् ! राम-शपथ खाकर भी यह आनाकानी
झूठी होने को है क्या अब रघुकुल-वाणी ?
अपनी वातो से हाय, नृपति अब मुकर रहे
अपने ही कारण अब वे मुझ पर बिगड रहे !
अब अपनी वस्तु नहीं कोई क्या इस जग में ?
जलधार समझ कर भटका मन-मृग मरु-मग मे !
मर्यादा टूट रही कि वचन का मूल्य नहीं
लगता कि आज रघुकुल रविकुल के तुल्य नही
देकर भी पश्चात्ताप और लेकर भी दुख !
कितना विचित्र होता जीवन का मिथ्या सुख
सत्यमय वचन का शिवि ने था निर्वाह किया,—
याचक को तन का मांस काट कर तुरत दिया !
आखें निकाल कर दी अलर्क ने वचन-हेतु
मन-कर्म-वचन-पालन से ही दृढ धर्म-सेतु
मत करें वचन को भग, प्रतापी महाराज,—
अन्यथा गरल पी लूँगी मैं इस समय आज !
विषपान न मुझसे दूर, मृत्यु मेरे समक्ष
बन जाएगा स्मारक मेरा यह कोप-कक्ष
देखेगा मेरे शव को कौसल्या-कुमार
खुल जाएगा सहसा रहस्य का बन्द द्वार
मैं झूठ नही कहती हूँ हे चिन्तित राजन्,
करना होगा अब मुझे मरण का अभय वरण
खाती हूँ भरत-शपथ मैं भी यह करने को
कैकेयी अब तैयार वचन-हित मरने को !
प्रिय पति को नही कलकित होने दूँगी मैं
पी लूँगी मैं—अब कालकूट पी लूँगी मैं
पालूँगी मैं इक्ष्वाकु-वश का वचन-धर्म
होगा उद्घाटित निश्चय ही वरदान-मर्म !

कहिए राजन् ! इच्छा पूरी करते कि नही ?—
सत्-पथ पर अपने पग को अब धरते कि नही ?
मैं सोच-समझ कर माँग रही अन्तिम उत्तर
जो कहना है, वह कहिए अभी मुझे सत्वर'

दशरथ के चिन्ता-सागर मे अति व्यथा-ज्वार
दुख ही दुख केवल दीख रहा है आर-पार
'अति हठी त्रिया की जिह्वा मे विष-क्रोध-अनल
प्रतिशोध-रोग से त्रसित चचल मन दुर्बल !
क्रोधित नारी मे नही स्नेह-सतुलन-भाव
अति स्वार्थ-सबल अन्तर मे ही कपटी दुराव
सोचा न कभी था, वर इतना निर्मम होगा,—
देने के पूर्व कभी दाता को भ्रम होगा !
लोभी मन ही तो अनुचित लाभ उठाता है
सज्जन मनुष्य ही जग मे बहुत ठगाता है
कैकेयी को अब कैसे, कितना समझाऊँ
कुछ करने के पहले अब मैं ही मर जाऊँ !
होता है सुखकर नही जगत मे बहु विवाह
उसके कारण ही आज हृदय मे ओह-आह !
रघुकुल-रक्षा-हित ऐसा करना पडा मुझे,—
मन-ही-मन इस युवती से डरना पडा मुझे !
फल मिला रूप-पूजा का अब कितना खोटा !
सम्राट् चक्रवर्ती लगता कितना छोटा !
दयनीय दशा मेरी है कितनी दुखदाई
मैं देख रहा हूँ स्वय मृत्यु की परछाईं !
क्या कहूँ और क्या नही कहूँ, ऐसी उलझन
कैसे मैं छोड सकूँगा अपना सत्य-वचन !
पर हाय, राम-वनवास ! इसे टालूँ कैसे ?
किंचित् करुणा कैकेयी से पा लूँ कैसे ?
कह दूँ कि भरत ही होगा राजा, राम नही !
पर, वन-निष्कासन तो है अच्छा काम नही'

बोले दशरथ : 'अर्द्धाङ्गिनि ! मेरी बात मान
मत मुझे—मुझे मत देवि ! पराया पुरुष जान
कर एक बार तू दया, दिखा अपनी ममता
तू देख सभी पुत्रो मे प्रेममयी समता
क्या राजा बनना चाहेगा अति नम्र भरत ?
क्या नही जानती है तू उसका बान्धव-व्रत ?
उसमे न तनिक भी कही राज-मद है रानी,
वह सदा बोलता सुमधुर साधु-सरल वाणी
तू अपनी इच्छा से उस पर आघात न कर
उसके आचरण-विरुद्ध आज तू बात न कर
जानता पिता भी अपने पुत्रो का स्वभाव
है नही किसी से मुझे लेश भर भी दुराव
साक्षी है मेरा धर्म अचानक निर्णय मे
है छिपा भरत-कल्याण राम की ही जय मे !
निर्णय मेरा ही नही, प्रजा का अभिमत भी
गुरु, ज्ञानी, ऋषि-मुनि का निर्णीत विमर्श यही
मनमाना नही किया, तुझसे सच कहता हूँ
प्रत्येक कार्य मे धर्म-मार्ग पर रहता हूँ !
तू माँग दूसरी वस्तु, उसे दूँगा निश्चय
पर, रहने दे ज्यो का त्यो सामूहिक निर्णय
राजा हूँ लेकिन मन मे है जनतन-भाव
है देश-देश मे व्याप्त सहज रघुकुल-प्रभाव
यो ही न चक्रवर्ती हूँ, है दायित्व अधिक
सहृदय प्रभुता के कारण शासन निर्बाधित
सीमित मेरा सुख-भोग, सुनिश्चित नृप-साधन
जनयुक्त जनार्दन का करता मैं आराधन
सात्विक सदैव आचरण, सभी कुछ रहते भी
मन मे मिठास, कटु सत्य वाक्य को कहते भी
कैकेयी ! तू मेरा अपना अब धर्म बचा,—
तू निष्ठुर हठ को छोड, तुरत अपने मे आ !
कर क्षमा कि मैने कुछ कडवी-सी बात कही
मेरे मन मे कोई भी कही कुभाव नही

तू स्वय जानती दशरथ को, पति, भूपति को
जानती सदा से तू मेरी निश्छल मति को।
मैं क्षमा शत्रु को भी करता, तू जान रही
कैकेयी! तू तो रोम-रोम पहचान रही
तुझसे छल कभी किया मैंने? री, बोल-बोल
सारे जीवन की तू अपनी सुधियाँ टटोल
छल किया कभी मैंने तुझसे? पटरानी हे!
अब नही उतरने दे आँखो का पानी हे!
राज्याभिषेक की सारी तैयारी समाप्त
होने दे अपने रामचन्द्र को तिलक प्राप्त।
वह देख, उधर वातायन पर हँस रही भोर
आती है चैती प्रात-पवन की अब हिलोर
कुछ घडियो मे ही होगा उत्सव-शुभारम्भ
सच कहता हूँ, कुछ भी न राम मे राजदम्भ।
सच कहता हूँ, कौसल्या ने भी कुछ न कहा
उसका निष्पक्ष हृदय अपने मे सदा रहा
प्रभु-इच्छा से ही मेरी इच्छा हुई ध्वनित
मत हो—मत हो निर्णय से तू आश्चर्यचकित
लगता, सरयू-तट चले गए अब साधु-सन्त
गूँजता स्नान-मन्त्रो से किंचित् दिग्दिगन्त
हो रहे मलिन उज्ज्वल तारे, हँसता अम्बर
अब गूँज रहे होगे मगल वाद्यो के स्वर।
पूजा पर बैठा होगा विधिवत् अभी राम
दीपक से चमक रही होगी मुख-छवि ललाम
देवी सीता भी होगी इस क्षण ध्यान मग्न
आ रहा प्रसन्न मुहूर्त्त,—पुण्य नक्षत्र-लग्न
कैकेयी! तुझे शपथ मेरी, तू मान बात
कट गई तुझे समझाने मे सम्पूर्ण रात
नयनो मे केवल राम, हृदय मे सिर्फ राम
अधरो पर उसका नाम, श्वास मे राम-नाम
रानी! आँखो मे बादल अब, तू बात मान
तू बचा प्राण, तू बचा प्राण, तू बचा प्राण

होने दे सुख का सूर्योदय हे कल्याणी,
मेरी रानी ! मेरी रानी—मेरी रानी !'

रानी पत्थर-सी अडिग रही, वह अटल रही
फुंफकार-भरी विष-साँसें विह्वल चपल रहीं
टकराता ही रह गया प्रकम्पित क्षोभ-ज्वार
मूर्छित राजा के मन में अब नूतन विचार :
'अब एक मार्ग ही बचा राम विद्रोह करें
मेरे विरुद्ध वह राजमुकुट-हित स्वयं लड़ें
उस घटना से कितना प्रसन्न होऊँगा मैं
तब नहीं मरूँगा, नहीं कभी रोऊँगा मैं
सारी जनता देगी ही उसका साथ अक्षय
पाएगा मेरा राम अवश्य अभीष्ट विजय
पर कर न सकेगा वह कोई भी घृणित काम
जो पितृवचन पाले सदैव वह पुत्र राम !
क्या करूँ ? करूँ क्या ? अब तो मैं सब विधि निराश !
सब विधि निराश—सब विधि निराश, हतप्रभ, हताश
चल रहा मृत्यु-वातास ! हो रहा सर्वनाश
हिलती मन की धरती, हिलता उर-दिगाकाश !
किस पाप-कर्म का फल मुझको मिल रहा अभी
आ रही याद, मैंने भी की थी भूल कभी :
सन्ध्या में लौट रहा था मैं वन से, रथ पर
सहसा कानों में पड़ा किसी मृग का पग-स्वर
क्षण में ही नदी-ओर मेरा शर सर-सर-सर
सुन कर नर-आर्त्तनाद, आकुल मन थर-थर-थर
किसकी हत्या हो गई ? तपस्वी क्या कोई ?
तम-घिरे पुलिन पर साधु मनस्वी क्या कोई ?
दौड़ा मैं रथ को छोड़, उधर—उस ओर तुरत
हा ! बाण-विद्ध ऋषि-पुत्र रक्त से था लथपथ !
था अंध पिता-माता का इकलौता सुत वह
कितना मार्मिक था उस दिन का वह दुख दुस्सह !

मैं उसे उठा, ले गया अक्‌ दम्पती निकट
उस घटना के साक्षी हैं अब तक पीपल-वट
वह घायल श्रवणकुमार वहीं पर मृत्यु-लीन
असहाय पिता-माता जैसे जलहीन मीन।
छटपट-छटपटछट जीर्ण-शीर्ण जर्जर शरीर
अंधी आंखों से अविरल वाहित अश्रु नीर
अविराम तड़पते प्राण, रुदन-चीत्कार करुण
कम्पित मेरा अन्तरतर दारुण स्वर सुन सुन
'हिंसक राजा! अपराध जघन्य तुम्हारा है
अब कोई नहीं हमारा यहां सहारा है
भीतर-बाहर हर ओर व्याप्त अंधियारा है
मर जाने के अतिरिक्त न कोई चारा है
तीर्थाटन करा रहा था हमें सुपुत्र सबल
वह एक मात्र था दुखद बुढ़ापे का सम्बल
अब कौन कि इतनी सेवा करे हमारी अब
सोचते यही हम भी कि प्राण को छोड़ें कब?
पापी दशरथ! यह कहकर ही मरते हैं हम
सुत के कारण होगा तुमको भी दुःख विषम
हम से भी बहुत अधिक तड़पोगे तुम राजन्,
दुस्सह दुख से—दुस्सह दुख से कांपेगा मन!'

क्या उसी पाप का फल मुझको मिल रहा अभी?
साकार हो रहे उस ऋषि के दुख वाक्य सभी।
कुछ समझ नहीं पाता कि अभी क्या करना है।
मरना है, मुझको भी इस क्षण ही मरना है
कितना दुस्सह दुख! कितनी भीषण आत्म-व्यथा
पीड़ा ही पीड़ा पहुँचाती यह कोप-कथा
है असह शोक-संतप्त हृदय, परितप्त प्राण
शोकित वेला में साथ न देता कभी ज्ञान!
अब क्या निदान? अब क्या निदान? अब क्या निदान?
मैं कर न सका कलुषित दावा का समाधान

राजा से सम्भव नहीं प्रजा-इच्छा-पालन
परिवार-प्रश्न से लोभ-ग्रसित नृप-राजभवन !
सम्भव न सत्यगत न्याय व्यक्तिगत कारण से
हो रहा घोर अन्याय वचन-निर्धारण से
क्या करूँ, सूझता नहीं अभी कोई उपाय
पत्नी के कारण गृह-विभेद उत्पन्न हाय !
सुखमय-स्नेहिल भ्रातृत्व मलिन होने को है
पुत्रत्व-प्रेम-गरिमा सारी खोने को है
भौतिकता का यह लोभ-लाभ कितना दूषित
कैकेयी के कारण जन-जन आश्चर्यचकित !
होगा क्या घर-घर में कैकेयी का निवास ?
होगा क्या इस कारण स्वदेश का सर्वनाश ?
जैसा गृह-चरित, ठीक वैसा ही राष्ट्र चित्र
गृह ही स्वदेश का चारित्रिक उत्थान-मित्र !
यदि गृह-विभेद-पीड़ित शासक तो रुग्ण प्रगति
जैसा शासन-आदर्श, ठीक वैसी जन-मति
सूरज पर यदि बादल तो भू पर भी प्रभाव
भँवरों में भटक रही है मेरी बुद्धि-नाव !
निरुपाय व्यथित दशरथ में उतनी शक्ति नहीं ?
कर सकूँ सत्य-रक्षा, अब मैं वह व्यक्ति नहीं !
लाचार हो गया मैं अपनी ही करनी से
मैं हार गया निज कैकेयी शशिवर्णी से !
पूर्णिमा-प्रताप नहीं उसमें, वह गरल-कलश
उसके कारण रघुकुल को आज मिला अपयश,—
ऐसा यह त्रिया-चरित कि कुटी-सी कीर्ति-ध्वजा
कोसेगी मुझे युगों तक नित निष्पक्ष प्रजा !
होने को अब प्राणान्त, अमिट आघात असह
क्या कहूँ क्रुद्ध कैकेयी को ? रे मन, कुछ कह,
'वनवास' शब्द मैं स्वयं निकालूँ किस मुख से ?
पीड़ित हूँ, पीड़ित हूँ अब मैं दुख ही दुख से
हूँ चिन्तित मैं, हूँ विचलित मैं, हूँ जर्जर मैं
ढह गया आज जिसका वैभव, वह खँडहर मैं

बुझने को जिसकी शिखा, वही मैं करुण दीप
लुट गया सभी कुछ जिसका, मैं हूँ वह महीप !
'कैकेयी ! कर ले स्वयं, तुझे जो करना है
तेरे ही विष से अब दशरथ को मरना है !"
—इतना कह कर व्याकुल सम्राट् हुए मूर्च्छित,
इतना सुनकर, कैकेयी हुई अधिक हर्षित !—
हर्षित इतनी कि नयन दोनों फड़फड़ा उठे
संवेग-प्राप्त मन-प्राण तुरत धड़फड़ा उठे
खिलखिला उठी निज कोपभवन में वह नारी
कामना बन गई तुरत कल्पना-फुलवारी !
हो गई विजय ! लो धन्यवाद मेरे स्वामी !
तुम सचमुच मेरी सुन्दरता के अनुगामी
अब बैठ सकेगा मेरा सुत सिंहासन पर
मेरे दृग में राज्याभिषेक की स्वप्न-लहर !
है कौन प्रसन्न अधिक मुझसे इस समय कहीं
दोनों आँखें देखती अभी सम्पूर्ण मही
बन गई राजमाता अब मैं, अब मैं अब मैं
इस कोपभवन में हुई त्रिया की त्रिविध विजय !
वातायन से लालिमा निकल आई नूतन
भेजूँ नैहर निज चतुर दूत को अब इस क्षण
कितनी प्रसन्न होगी माता सुन कर बातें
काटूँगी मैं कैसे तबतक सुखमय रातें !
उछलेगा भरत क्या सुन कर नानी-समीप
उसके नाना का नाती भी होगा महीप !
केवल महीप ही नहीं, चक्रवर्ती भी तो
भावी सम्राट् भरत ! तुम युग-युग जिओ-जियो !
तेरे कारण ही तेरी जननी जीत गई
कैकेयी विजय-वसन्त प्राप्त कर हुई नई
हो गया पराजित हठी पिता तेरे कारण
तेरे कारण ही आज सुरक्षित तन-मन-धन !
चतुराई की तलवार विजयिनी हुई यहाँ
जान यह चमकी कब-कब, कितनी कहाँ-कहाँ

यौवन में जय करने की क्षमता हुई सफल
हो गया विफल कौशल्या का षड्यन्त्र सकल
चुप हुए स्वयं सम्राट् कि मिथ्या तर्क सभी
पालेंगी पराधीनता का न प्रमाद कभी
लादूँगी स्वत्व सभी को अनुचित कर्मों पर
विश्वास करूँगी मोह सनातन-धर्मों पर
पूछूँगी सदा मन्थरा से नव-नव उपाय
कु कुमन्त्री बनेगी कुबड़ी वह कृष्णकाय
वह नीति निपुण नारी प्रणाम के योग्य नित्य
मिलता है कभी-कभी ही उसका सुखद कृत्य

पर, यह सब कथा मैं सोच रही उस समय यहाँ
युवराज अब अपने पति को जो पता कहाँ
कर सकता है विद्रोह राम मेरे विरुद्ध
हो सकता है वह पूज्य पिता पर आज क्रुद्ध!
सरयू-जल पर जगमगजग नूतन सूर्यकिरण
चचल समीर से रोमिल लहरों में कम्पन
अलसय बादल का टुकड़ा नभ की थाली पर
उस कनक-कालिमा से भी प्रात-प्रभा सुन्दर!
ले स्वर्णकलश आपूरित पुण्य सरित-जल से,—
पथ पर चलने से जो न कभी किंचित् छलके,
आ रहे राजगुरु ऋषि वसिष्ठ निज शिष्य-गण
शोभायात्रा से राजमार्ग पर जन-तरंग
सज्जित हाथी, सज्जित घोड़े, सज्जित रथ-पथ
मधु, दही, छत्र, घी, पूर्ण कुंभ—सामग्री सब
मंगल मुहूर्त्त में वाद्य वृन्द की ध्वनि मंगल
आनन्द-तरंगित जनसमूह से प्रिय हलचल!
आते-आते आए वसिष्ठ प्रासाद-निकट
सम्मुख सुमन्त को देख, स्वयं वे बोले झट :
'राजा को सूचित कर दें अब कि विलम्ब न हो
ज्योतिष-निर्णीत कार्य-क्षण किंचित् भग न हो!'

सम्राट्-शयनगृह-द्वार-निकट आए सुमन्त
बोले वे निज वाणी मे भर शाब्दिक वसन्त
'हे इन्द्र-तुल्य राजाधिराज ! *शय्या त्याग,—*
कर रहे प्रतीक्षा सभी, कृपा कर अब जागें
राज्याभिषेक की तैयारी हो गई सभी
इतनी प्रसन्नता जन मन मे पहले न कभी
आकर दर्शन दें ताकि कार्य हो सचालित
—इतना ही कह कर, मत्री मौन प्रसन्न नमित !
भीतर से रानी कैकेयी ही बोली झट
'भेजिए राम को स्वय यही पर अभी तुरत
अस्वस्थ नृपति गहरी निद्रा मे हैं इस क्षण
वे अधिक रात तक करते रहे विविध चिन्तन !'

मत्री के सँग चल पडे राम आज्ञानुसार
यह देख, अनेक व्यक्तियो म विस्मय प्रसार
पर, साहस किसमे कहाँ कि कुछ पूछे कोई
जिज्ञासा की लहरें जिज्ञासा म सोई !
है राजभवन के बाहर भी अब खडी भीड
आते है अब भी लोग भीड को चीर-चीर
तट पर ज्यो सागर-ज्वार, उपस्थित जन-तरग
आई न कभी, आई न कभी ऐसी उमग !
जनता के नयनों के नूतन भगवान राम
अपने सत्कर्मों के कारण ही वे महान्
दर्शन से ही दृग-तृप्ति, बात से मुदित हृदय
उनके सम्मुख जान पर नही किसी को भय
जो रमण कर रहे जन-मन मे, हैं वही राम
सुख-शान्ति भरे जो लोचन मे, हैं वही राम
कल्याण करें सबका प्रति दिन, है वही राम
सम्मान करें सबका प्रति दिन, है वही राम

आगत असंख्य नर-नारी मे चर्चा-प्रसंग
आई न कभी, आई न कभी ऐसी उमंग
है महालोक-नायक मे सद्गुण ही सद्गुण
उनमे पर-पीडा हरने की है पावन धुन
अभिषेक-कार्य मे क्यो विलम्ब ? यह प्रश्न-लहर
जन ही जन से है भरी खचाखच नगर-डगर
है कहाँ राम ? ऊँची स्वर-लहरी जाती-सी
जिज्ञासा की शाब्दिक तरंग टकराती-सी।
छत के ऊपर से मौन मन्थरा देख रही
पर, उसका कपट-प्रधान ध्यान अन्यत्र कही
'क्या कैकेयी असफल ? कर लूँ क्या हत्या मैं ?
जिसमे न बुद्धि-बल, क्या ऐसी हूँ भृत्या मैं ?
बुद्धू रानी ! तू नही जानती कुटिल कला
तू केवल सुख-सौन्दर्यमयी नारी अबला
धिक् ! मैंने इतना व्यर्थ तुझे समझाया क्यों ?—
उस बुझे दीप को फिर से स्वयम् जलाया क्यो ?
रमणी, तू केवल रमण-राग ही जान रही
तू नही मन्थरा को कुछ भी पहचान रही
मैं गुप्तचरी रावण की ! साधारण न कभी
पर असफलता को देख, दुखी हूँ बहुत अभी
था हुआ जनकपुर मे रावण-अपमान घोर,
जब शिव पिनाक को दिया राम ने तुरत तोड
सीता के लिए विकल था कितना लकापति
मैं जान चुकी हूँ गुप्त रीति से उसकी गति।
कैकेयी ! तूने मेरा खेल बिगाड दिया
क्या तेरे राजा ने प्रपच को समझ लिया ?
फँस गई मोहिनी ! तू उनके ही चगुल मे ?
शनि की अगूठी व्यर्थ बीच की अगुल मे।
इतना हितचिन्तक रामचन्द्र का तेरा मन ?
है सर्प-रहित तेरे यौवन का सुन्दर वन ?
ईर्ष्या का गरल नही तुझ मे ? तू स्वच्छ सदा ?
तू नही समझ पाई अपनी अग्रिम विपदा ?

तू समझ गई थी किन्तु उसे समझा न सकी
अपनी चिनगारी से तू आग लगा न सकी
अपने मे तू शायद खुल खिल कर आ न सकी
अकुला न सकी इसलिए वज्र बरसा न सकी !
तू कोपभवन मे त्रिया-चरित्र दिखा न सकी
तू रुठ-रूठ कर पति को खूब लुभा न सकी
आँखो को तू भरमा न सकी, तडपा न सकी
कोमल कलिका-सी तू खिल कर सकुचा न सकी !
तू निर्मम नाट्य दिखा न सकी, गरमा न सकी
तू अधिक फनफना कर निज को नरमा न सकी
अपने हाथो से अपना जहर पिला न सकी
उनके मन मे तू अपनी लहर उठा न सकी !
कैकेयी ! तू अपनी भी प्रभुता पा न सकी ?
बेटे के लिए उचित कर्त्तव्य निभा न सकी ?
पाए को भी तू पा न सकी, मुसका न सकी ?
अब तक भी अपने घर से बाहर आ न सकी ?
तू मुझसे भी कुछ कह न सकी ! कुछ सुन न सकी
उलझन की वेला मे विप-कलिका चुन न सकी
तू सीधी की सीधी रानी, टेढी न तनिक
तू नही राजमाता के योग्य कभी धिक्-धिक् !
सिंहिनी नही तू यह कि झपट्टा भी मारे
इतनी कठोर तू नही कि दाव नही हारे
सोई की सोई तू अबतक, अबतक, अबतक
तबतक बाहर उल्लास-हास, चकमक-चकमक !
तू नही रोक पाई रानी ! राज्याभिषेक
भर दिया चतुर नृप ने कोई नूतन विवेक
जागती रही मन्थरा रात भर चिन्तित-सी
आँखे मेरी सन्देह-रहित सुधि-चित्रित-सी ।
जो होना होता है, वह तो होता ही है
दुख सहने वाला हृदय दुःख ढोता ही है
झझटा प्रतीक्षा मे होगी, मैं बहुत विकल
नीचे अपार जन ही जन, जन ही जन केवल !

कितने प्रसन्न हैं सभी ! सभी क्या राम-भक्त ?
दे सकते हैं ये लोग मुकुट के लिए रक्त ?
भोली-भाली जनता उत्सव में आई है
आँखों मे तडक भडक की ही परछाई है !—
हाथी-घो -रथ-वाद्यवृन्द, सैनिक-सजधज
सगीत-नृत्य, मडप-तोरण, लहराते ध्वज,—
ये ही आकर्षण मुख्य आज, कोई न अन्य
वे इन्हे देख कर ही सचमुच हो रहे धन्य !
यह भीड राम के लिए नही, मैं जान रही
मन्थरा अयोध्यावासी को पहचान रही
अभिषेक भरत का भी होता तो ये आते
वे इसी तरह ही तब भी प्रतिपल लहराते !
होती है अधी राजभक्ति भय के कारण
भय के कारण ही शासक का जय-उच्चारण
भय के कारण ही जनता प्रीत दिखाती है
मूरख जनता तरग-सी दौडी आती है !
स्वर्गिक सुखभोगी शासक प्रभुसत्ता-स्वामी,—
साधारण प्रजा सदा सीमित सुख का कामी !
मन्थरा और कैकेयी एक समान नही
स्वार्थी शासक चतुराई मे नादान नही !
रावण की लका सोने की ! सुनती हूँ मैं
कैसे सभव यह ? अपना सिर धुनती हूँ मैं
जा पाती मैं भी वहाँ, जीतती यदि रानी
होती साकार शूर्पणखा की प्रिय प्रण-वाणी !
सयोग एक,उस दिन उसका मुझसे मिलना
उन बातों को होठो पर लाना अभी मना
राम का वन-गमन होता तो मन्थरा मुदित
उस घटना से हो जाता मेरा भाग्य उदित
सोने की लका मे रह पाती मैं कुटिला,—
विखरानी रावण के महलो मे कपट-कला
पर हाय, मन्थरे ! तू चेरी की चेरी ही
तेरे पैरो मे परवशता की वेडी ही !

राम का वनगमन रानी को स्वीकार न था
उसके मन मे कुछ भी ईर्ष्या-अगार न था
मैं भी यह नहीं चाहती थी, पर क्या करती।
राक्षसी झंझटा से तो अब मैं भी डरती
राजा-रानी मे जाने क्या-क्या बात हुई
किससे पूछूँ सफला या विफला रात हुई।
अबतक देखूँ जन-ज्वार ? न देखा जाता यह
इतनी ईर्ष्या मन मे कि पराई कीर्ति असह !
यदि भरत आज होता तो मैं दिखला देती
कैकेयी को कुछ और बात बतला देती
वह भी तो बुद्धि-चतुर पर, उसका हृदय साफ
कर सकती है वह किसी चूक के लिए माफ
उसका स्वामी यों ही न उसे है मान रहा
उसके हर गुण को वह अवश्य पहचान रहा
कैकेयी को है राजनीति का प्रखर ज्ञान।
वह जटिल समस्या का करती झट समाधान
वह कोपभवन मे गई बुद्धि के बल पर ही
रूठी होगी वह राजनीति के छल पर ही
पर, नहीं सफलता मिली उसे, मैं हुई विफल
अबतक देखूँ मैं राजमार्ग की चहलपहल।
मैं विफल बन्दरी-सी ऊपर-नीचे करती
मेरी चिन्ता मन से कल्पना-कलश भरती
है उधर बहुत कोलाहल क्यो ? क्या हुआ वहाँ ?
भगदड़ ही भगदड़, पागल हाथी जहाँ-जहाँ ?
रह-रह कर गूँज रहे नारे, अब इधर-उधर ?
अभिषेक-हेतु राम ही आ रहा क्या रथ पर ?
रथ पर तो राम नहीं, कोई दूसरा व्यक्ति
ईर्ष्या के कारण मलिन दृष्टि की ज्योति-शक्ति।
पगली-सी मैं मन्थरा अभी नोचती बाल
चुनचुना रहा है चिन्ताओं से चपल भाल
आता है मुझे क्रोध अपने पर बार-बार
छा जाता आँखो मे रह-रह कर अंधकार।

अब चलूँ किसी कोने मे नीचे सो जाऊँ
असफलता के कारण इतना क्यो पछताऊँ ?
उकसा कर अपने को अब क्यो जाऊँ आगे ?
मैं कैकेयी से कहूँ कि वह अब गृह त्यागे
मुझको भी नहा सुहाता अब यह राजभवन
अब होगा शीघ्र अयोध्या का साम्राज्य-पतन
पर, राम बडा ही प्रबल,—बडा ही नीति-कुशल
वह धीर, वीर गभीर सदा ही सत्य-अटल ।
इस घर मे वास कहाँ मेरा ! वह गुण-ज्ञानी
वह सुन न सकेगा कभी कुटिलता की वाणी
बन्दी न बना सकता है वह निज भाई को
छू सकता कभी न वह कटुता-परछाई को !
मन्थरा कहाँ फेके पासा ? क्या खेल करे ?
किसको बिगाड कर किससे-किससे मेल करे ?
जो नही चैन से रह सकती, मन्थरा वही
जो कुटिल बात ही कह सकती, मन्थरा वही !
नित खटपट होता रहे, नित्य कुछ अनबन भी
कुछ भेद-भाव, रगडा-झगडा, कुछ उलझन भी
तब जीवन का आनन्द मुझे मिल पाता है
ईर्ष्या का रस ईर्ष्या से ही टकराता है !
लटपट-खटपट खल-खल-प्रधान नर-नारी मे
उठती चिनगारी चुगली की अधियारी मे
राम के राज्य मे पूछ न कुटिल सियारो की
मर्यादा केवल उज्ज्वल उच्च विचारो की !'

अपनी गति से आए सुमन्त के सग राम
अब अन्तःपुर की ओर पद्म-पग प्रिय ललाम
धीरे-धीरे नृप-शयनकक्ष मे नव प्रवेश
दर्पण ही केवल देख रहा अभिषेक-भेष ।
कैकेयी ने देखा कौसल्यानन्दन को—
देखा, ललाट पर शोभित पूजा-चन्दन को

पीताम्बरधारी राम विष्णु-सा दर्शनीय
मोहक मुखमण्डल पर न दर्प-द्युति राजकीय !
निर्मल नीरजनयनो मे अमृतप्रभा केवल
अधरो पर प्रिय मुस्कान प्रात मे ज्यो उत्पल !—
देखा कैकेयी ने छिप कर ही राम-रूप
क्या यही व्यक्ति होने वाला है अवध-भूप ?
ममता का पहला स्नेह हृदय मे आया-सा
वह राम सुधि-मुधा घन कर दृग मे छाया सा !
क्या यही पुन प्रतिदिन करता था चरण-स्पर्श ?
बिखराता था क्या यही प्राण पर नित्य हर्ष ?
—कैकेयी के भीतर कैकेयी चिन्तित-सी
मन के मर्मस्थल पर प्राणात्मा नन्दित-सी
कर देती है सकुचित, बुद्धि को लोभ-दृष्टि
निर्ममता के कारण ही दृग से अनल-वृष्टि !
आए सुन्दर श्रीराम पितृ-शय्या-समीप
लगता कि शोक मे डूबे हैं विचलित महीप !
कर चरण-प्रणाम पिता-माता का, पुत्र मौन
पग-ध्वनि ही सुन, भूपति-मुख से उच्चरित—कौन ?
हे राम !—कहा दशरथ ने इतना ही केवल !
नैनो से अश्रु-प्रवाह आह, अविरल-अविरल
दुस्सह दुख से अति म्लान मुखाकृति कान्तिहीन
दयनीय दशा अत्यन्त दीन—अत्यन्त दीन !
मन-ही-मन पिता-व्यथा से तत्क्षण चकित राम
माता कैकेयी के सम्मुख है नमित राम
'क्या हुआ इन्हे माँ ? क्यो ये इतने विचलित-से ?
किस कारण पितृदेव हैं इतने चिन्तित-से ?
अपराध हो गया मुझसे क्या कोई ऐसा ?
तब तो इस भूतल पर न अधम मेरे जैसा !
क्या कष्ट हुआ मुझसे कि पिता बोलते नही ?
इस क्षण अपनी आँखो को भी खोलते नहीं !
ऐसा न कभी भी हुआ कि मुझसे हुए व्यथित
वे करते मुझको बहुत प्यार, यह सर्व विदित

क्या उन्हे किसी ने असह व्यथा पहुँचाई है ?
किसलिए—किसलिए माँ ! आँखें अकुलाई हैं ?'

'हे राम !' कहा कैकेयी ने—'तो तुम सुन लो
उनकी आज्ञा का सत्य,-वचन सत्वर गुन लो
अवधेश भरत होगा, यह नृप का कहना है
दण्डकारण्य मे तुम्हे राम हे रहना है,—
रहना है वहा चतुर्दश वर्षो तक केवल
जाना है तुम्हे पहन कर तपसी-सा वल्कल
पालन करना है प्रतिदिन तापस धर्म वहाँ
करना न तुम्हे है भरत-विरोधी कर्म वहाँ !
पालन करना है तुम्हे सहर्ष पितृ-निर्णय
हे आज्ञाकारी पुत्र ! सदा से तुम सहृदय
विश्वास पिता को है कि वचन तुम मानोगे,—
इस निर्णय से तुम किंचित् कुपित नहीं होगे !'

सुन कर, प्रसन्नता व्याप्त राम-मुखमण्डल पर
ज्यो प्रात-पद्म प्रस्फुटित शरद्-निर्मल जल पर
कुछ और दिव्यता व्याप्त, दिव्य प्रिय लोचन मे !
तन से प्रफुल्लता अधिक राम के रवि-मन मे
बोले वे : 'आज्ञा शिरोधार्य, इसमे न तर्क
माँ ! मुझमे और भरत मे कोई नही फर्क
भाई भूपति हो, इससे अच्छी बात नही
इस भू पर भरत-समान नम्रतर तात नही !
गुण ही गुण जिसमे वही भरत मेरा भाई
उसकी सज्जनता मेरे प्राणो पर छाई
वह सब प्रकार से सदा न्याय करने वाला
उसके नयनो मे कहीं न किंचित् अँधियाला
है भरत प्रेम-करुणा की मंगल मूर्त्ति मृदुल
उसके प्रकाश से आलोकित होगा रघुकुल

माँ ! इस निर्णय से मैं प्रसन्न—मैं अधिक मुदित
पर, ऐसा क्या कारण कि पिता हो गए व्यथित ?
क्या व्यथित इसलिए वे कि रहूँगा मैं वन मे ?
वन मे रहने की मेरी भी इच्छा मन म
कौशिक के आश्रम मे ही यह इच्छा जागी
जगल मे अनायास मिलते ऋषि, मुनि, त्यागी
सेवा करने का अवसर पाऊँगा प्रतिदिन
देखूँगा हरे-भरे दृश्यो को मैं पल छिन
चौदह वर्षों का समय वस्तुत अधिक नही
सुन्दर फल खाऊँगा, जाऊँगा जहाँ कही !
जाऊँगा माँ ! आज ही विपिन मे जाऊँगा
पूरी निष्ठा से अपना धर्म निबाहूँगा
दें आशीर्वाद पिता कि सफल हो मेरा व्रत
सिंहासन पर बैठे जल्दी अब बन्धु भरत
माँ ! भेजो जल्दी दूत कि आए अनुज यहाँ
दौडाओ अश्वारोही को तुम तुरत वहाँ
शुभ कार्यों मे विलम्ब करना है ठीक नही
तब तक मेरे भी पग पा लेंगे वन्य-मही !'

पाकर प्रसन्न श्रीराम पितृपग-रज पावन
पर, दशरथ के व्याकुल लोचन मे सावन-घन
पाकर प्रसन्न श्रीराम मातृपग-रज पवित्र
पर, कैकेयी की छवि अद्भुत मुख से विचित्र !
निकला दशरथ-मुख से केवल 'हे राम !' अभी
ऐसी दयनीय दशा जीवन मे नही कभी !
वे रोते-रोते क्रन्दन करने लगे हाय,
दुख की ममाग्नि का अभी नही कोई उपाय !
सूने-सूने-से प्राण राम के जाने पर
अकुलाहट बढती गई और अकुलाने पर
आँसू ही आँसू ! क्रन्दन ही क्रन्दन केवल
विह्वल तन, विह्वल मन, प्राणात्मा भी विह्वल !

मूच्छित दशरथ को रही देखती वह रानी
उसकी आँखों मे नही बिन्दु भर भी पानी
साँसो को फुला-फुला कर वह मुस्काती-सी
अपने पर ही वह अपना तीर चलाती-सी
राजा ने देखा उसे कि उजली नागिन को ?—
जो विष की रात बना देती है शुभ दिन को !
दुख-सुख-सगम की घटना एक अनूठी-सी
रानी अपने राजा से आज न रुठी-सी !
'मन्थरा कहाँ ?'—यह उत्सुकता उसके मन मे
'जाएगा राम आज ही वन अब कुछ क्षण में
हो जाए पहले यही काम तब करू अन्य
तेरे कारण मन्थरे ! हुई मैं धन्य-धन्य
मुझमे न भ्रान्त भावुकता अब, मैं बुद्धिमती
इतना पा लेने पर भी हूँ सौभाग्यवती
कितना सुशील है राम कि आज्ञा मान रहा
सब कुछ पाने वाला ही अब कुछ पा न रहा !
उसकी कोई निन्दा करना भी महा पाप
है वह महान अपने ही गुण से स्वय आप
उसकी महानता आज दिखाई पडी मुझे
उसकी उर-वाणी अभी सुनाई पडी मुझे ;
क्षण में ही उसने राजमुकुट को त्याग दिया,—
सिंहासन के बदले मे कठिन विराग लिया
उसके मुख पर कोई न क्षोभ-छाया देखी
उसके भीतर कोई न कनक-माया देखी !
वह मानव है या देव, समझना बडा जटिल
पर हाय, लालची कैकेयी तो बडी कुटिल,—
पिघली न तनिक भी मैं उसकी निश्छलता से
बन गया क्रूर यह मन अपनी ही खलता से !
लेकिन यह सब क्या सोच रही ? भावुकता क्यों ?
मेरा मन अंटसंट रह-रह कर बकता क्यो ?
आगे आकर पीछे जाना है ठीक नही
कुछ कर लेने पर पछताना है ठीक नही !

है किसका कौन यहाँ ? दो दिन का नाता है
कुछ किए बिना कोई न कभी कुछ पाता है
माया न अगर फैलाती तो क्या पानी में ?
यह मुकुट भरत के लिए कहाँ से लाती मैं ?
पड़ता ही मुझ पर कौसल्या का नित दवाव
पड़ता अपने भाई का भाई पर प्रभाव
यह नहीं प्रेम का अर्थ कि हो दासत्व-ग्रहण
अपनी स्वतन्त्रता नहीं चाहता किसका मन ?
निर्णय के ही अनुसार काम को करना है
कटुता की खाई को हिलमिल कर भरना है
सबका विश्वास प्राप्त करना है खेल नहीं
प्रेम के बिना सभव न किसी से मेल कहीं।

श्रीरामचन्द्र निकले कैकेयी-गृह से जब
शुभ कलश देख कर किसी व्यक्ति से बोले तब
'होगा अभिषेक भरत का अब कुछ दिन में ही
वन में सेवा करने की आज्ञा मुझे मिली
इस छत्र-चँवर को आप लोग लें हटा अभी
प्रिय भाई के हित रखें सुरक्षित स्नेह सभी
नव निर्णय से ही मगल होगा जनगण का
होगा सब विधि उत्थान भरत से शासन का'
राम के वचन को सुन कर सन्न सभी तत्क्षण
मन-ही-मन क्रोधित—उत्तेजित भाई लक्ष्मण
'किसने षड्यन्त्र किया ऐसा ? यह प्रश्न ज्वलित'
आग्नेय सुमित्रानन्दन अति आश्चर्यचकित,—
'अपमान—घोर अपमान हुआ क्यों भाई का ?
पड़ गया प्रभाव तुरत किसकी निठुराई का ?
मेरे कानों में कैकेयी के क्रूर वचन
था सुना दूर से मैंने सहमा पितृ-रुदन !'

माता कौसल्या के समीप आए रघुवर
इस समय क्रोध से लक्ष्मण का तन थर-थर-थर
रेशमी वसन में जननी पूजन-हवन-व्यस्त
मिल गए राम को देख, तुरत तन-मन नमस्त
मूँघ कर पुत्र-कुन्तल सहसा स्नेहालिंगन
अनुरोध कि 'ग्रहण करो भावी भूपति ! आनन'
पर कहा राम ने 'अनुचित आसन-ग्रहण अभी
वन-पथ की ओर जननि ! बढ़ने को चरण अभी
दण्डकारण्य जाने की आज्ञा शिरोधार्य
चौदह वर्षों तक कर पाऊँगा विपिन-कार्य
माँ ! आशीर्वाद मुझे दो, वन जाऊँ सहर्ष
होंगे व्यतीत जल्दी मेरे वनवास-वर्ष !'

कौसल्या सुत-संवाद श्रवण कर तथ्य-चकित
इस वज्रपात से सहृदय माता मौन-ग्रसित
कुछ क्षण सुधि-सिंचित राम-जन्म-घटना अद्भुत
आँखों में लगी चमकने ममता की विद्युत् !
'शैशव की कौतुक-किलकारी भूलूँ कैसे ?
वात्सल्य-विचुम्बित फुलवारी भूलूँ कैसे ?
माँ हूँ—मैं माँ हूँ, जाने दूँ सुत को वन में ?
वात्सल्य नहीं क्या अब कौसल्या के मन में ?
क्या नहीं पिता-आज्ञा निर्मम ? क्यों जाने दूँ ?
अपने रहते आत्मज पर संकट आने दूँ ?
मेरा भी तो अधिकार अर्ध, मैं क्रूर नहीं
राम के हृदय से कौसल्या है दूर नहीं !
पाला है, पोसा है मैंने, अब वन भेजूँ ?
अपने मुँह से वन जाने की मैं बात कहूँ ?
भगवान ! कौन-सा पाप किया कि दुखित हूँ मैं
किसको मैं कहूँ कि कितनी आज व्यथित हूँ मैं !
जाऊँ क्या स्वामी से मिलने ? कुछ कहूँ बात ?
किसने भर दी भूपति के दृग में अशुभ रात ?

सपना हो गया सत्य, केवल दो ही क्षण मे
ऐसी विचित्र घटना न घटी इस जीवन मे !
क्या से क्या कर देता है निष्ठुर, क्रूर काल
हो गया क्षणो मे छिन्न भिन्न उत्सव विशाल
निश्चय इसमे कुछ बात, रहस्य छिपा इनमे
है क्रूर काल से बढ कर शक्ति कहाँ, किसमे ?
मेरा बेटा है वीर धनुर्धर, पराक्रमी
उसमे अपूर्व सुर-शक्ति, असुरता नही कही
होगा जगल मे भी मगल, विश्वास मुझे
दिखलाई पडता है सुधि का आकाश मुझे !
क्या सोच-समझ कर ही नृप ने दी आज्ञा यह ?
उनके विरुद्ध कौसल्ये ! कोई बात न कह !
तू वह नारी जिसने पति सेवा ही जानी
तेरी आँखो मे सदा प्रेम घन कल्याणी
मन-वचन-कर्म से तू ने अहित किया न कभी
तू ने ईर्ष्या का आसव तनिक पिया न कभी
तू ने न कपट-कालिमा कभी देखी मन मे
तू ने न दभ उत्पन्न किया कोई तन मे
तू सदाचार-व्रत-पालन मे तल्लीन सदा
कहते है पति तुझको, प्रसन्न गृहिणी शुभदा
तुझमे न लोभ का लेश, सदा सतोषी तू
क्यो बनना चाह रही सुत के हित दोषी तू ?
जाने दे वन, जाने दे वन, जाने दे वन !
पति के विरुद्ध मत कर कुछ भी कोई चिन्तन
विश्वासहीन नारी मे ही सन्देह-भाव
उत्पन्न लोभ के कारण ही कोई दुराव
वन-आज्ञा पति की, कैकेयी की—दोनो की
रह गया शेष क्या अब ? सम्मिलित विचार सही
है भरत मुझे कितना प्रिय यह मै ही जानूँ
उसकी जननी का निर्णय भला नही मानूँ ?
मुझसे वह गुण मे बडी, बुद्धि उसकी तीखी,
मैने उससे ही बडी-बडी बाते सीखी

कितना प्रिय उसको राम, सभी यह जान रहे
सद्गुण के कारण उसे अधिक नृप मान रहे
गुण के अनुसार प्रतिष्ठा सबको मिलती है
खिलने वाली कलियाँ ही हँस कर खिलती हैं
आँखें ईर्ष्या करतीं अभाव के कारण भी
करता है करण क्रोध विषमय उच्चारण भी !
निन्दा से होती है अपनी ही हानि सदा
बढ़-चढ़ कर बात करने से आती विपदा
धीरज धारण करने में होता कष्ट दूर
पर-सुख में ही नाचता शुद्ध मानस-मयूर
मैं भी जाती दण्डकारण्य में संग-संग
एकाकी सुत में भरती मैं साहस-उमंग
पर, पुत्रवधू के साथ रहेगी वहाँ कौन ?
रह सकती कभी अकेली प्रिय जानकी मौन ?
चौदह वर्षों की दीर्घ प्रतीक्षा युवती की !
हो जाएगी उसकी कामना बहुत फीकी
मुझसे भी बढ़ कर उसे कष्ट होगा प्रतिदिन
काटेगी कैसे रात उँगलियों पर गिन-गिन ?
उसके उर पर तो वज्रपात ही हुआ हाय,
यौवन को सुखी बनाने का अब क्या उपाय ?
विरहिणी वधू कबतक झेलेगी दुस्सह दुख
चौदह वर्षों के बाद मिलेगा क्या वह सुख ?
नारी की अपनी एक अवस्था होती है—
जब वह फूलों के सपनों में ही सोती है !
पर हाय, मैथिली ! तुझ पर अशनि-प्रहार हुआ
आनन्द नहीं, आँसू ही तेरा हार हुआ !
माना तो सह लेगी सब कुछ पर, वधू नहीं
सम्भव है, प्राण-विहग उसका उड़ जाय कहीं
हे राम ! तुम्हारे बिना न सीता जी सकती
तबतक वह केवल व्यथा-अश्रु को पी सकती !
वनवास-दण्ड से विचलित होंगे जनक नहीं ?—
काँपेगी भला न क्या मिथिला की सरस मही ?

तडपेगी सीता-माता भी निर्णय सुन कर
रोएँगी आँखें सुधि-शेफाली चुन-चुन कर !"

कौसल्या चिन्तित मौन किन्तु लक्ष्मण रोषित
उनके मन में उच्चरित 'क्रूर कैकेयी धिक् !
तू माता नहीं, प्रेतिनी है—तू बाघिन है
नारी-स्वरूप में तू जहरीली नागिन है !
तेरे कुकर्म की उपमा कोई नहीं यहाँ
विष ही उगलेगी, जाएगी तू जहाँ-जहाँ
तेरी चुटकी न मसल दिया अच्छाई को
अपनाया कैसे तूने विषम बुराई को ?
सह लिया राम ने सब कुछ, यह भी अचरज है !
कैकेयी ! तेरा हृदय पीज से बजबज है
तेरी कुबुद्धि के रग रहे कलुषित कीड़े
निकलेंगे पिल्लू ही यदि कोई उर चीरे !
जी करता है, अब अपना तीर चला दूँ मैं—
आज ही तुझे सुरधाम स्वयं पहुँचा दूँ मैं
पर हाय ! भरत की माता तू—नृप-रानी तू—
रघुकुल के गौरव की जीवन्त कहानी तू
अन्यथा आज, निश्चय कुछ तो हो ही जाता
लक्ष्मण जघन्य अन्याय न इस क्षण सह पाता
पर, क्षमाशील हैं राम कि तू भी जीवित है
इस घर में आग लगा कर भी तू पूजित है !'

कौसल्या ने कह दिया राम से 'जाना है,—
वन जाकर ही अब अपना धर्म बचाना है
प्रिय, माता और पिता की शुभ आज्ञा मानो
उनके वचनों में ही मेरी सहमति जानो !"
'जाऊँगा माँ ! मैं भी—मैं भी,—बोले लक्ष्मण,—
'है जहाँ राम बस, वहीं सुमित्रानन्दन-तन !

भाई की सेवा ही मेरा उद्देश्य प्रमुख
इसमें ही मिलता मुझे असीम तपस्या-सुख !
माँ ! कहो अलग क्या रह सकता मैं भाई से ?
हो सकता है नखि दूर कभी अरुणाई से ?
जाना ही है माँ ! मुझे विपिन में जाना है
सेवा का अवसर मुझे वहाँ भी पाना है !
जीवित न रहेगा राम-विना लक्ष्मण जग मे
जाऊँगा मैं भी लग-मग उनके मग मे
जो बन्धुहीन वह क्या जाने भ्रातृत्व-भाव
जो स्नेहहीन, उसमे ही तो परिजन-दुराव !
भाई हूँ मैं—छोटा भाई, जाऊँगा ही
भाई की सेवा का अवसर पाऊँगा ही
मैं नही रुकूँगा उनके कुछ समझाने से
क्या उन्हे मिलेगा माँ ! मेरे मर जाने से ?
अर्पित जिसका मन राम-चरण मे वह लक्ष्मण
जिसका तन रक्षित राम-शरण मे वह लक्ष्मण
जो दास राम का, पास राम के, वह लक्ष्मण
श्रीराम स्वय मेरे प्राणो के तन-मन-धन !
आज्ञा दो माँ ! हो रही देर, आज्ञा दो अब
बन्धुत्व भाव मे ही मेरा जीवन-वैभव
है अमृत बंधु का प्रेम, स्नेह उनका शीतल
भाई का उज्ज्वल प्यार हृदय का गगाजल
वह नर अनाथ जिसको न मिला कोई भाई
बन्धुत्व-विमलता पर मातृत्व-प्रभा छाई
वह अनुज धन्य जिस पर अग्रज का सहज स्नेह
भाई अनेक पर उनका आत्मिक एक देह !'

उत्फुल्ल सुमित्रा बोली : 'मैं क्यो रोकूँगी
प्रिय सुत को पुण्य-पथ पर क्यो मैं टोकूँगी ?
अब तक तुम साथ रहे तो साथ रहो अब भी
यदि घोर विपद भी आए तो जाओ तब भी

हे पुत्र ! राम को तुमने तो पहचान लिया,—
वास्तविक प्रीतिवश वन जाने को ठान लिया
गौरव करती माता तुम-जैसे आत्मज पर
है दृष्टि तुम्हारी अग्रज के पद-पकज पर !
प्राणो से श्रेष्ठ समझना सेवा को लक्ष्मण !
तुम सफल बनाना सेवा से ही निज जीवन
चेतन प्रहरी-सा जाग्रत रहना तुम हर क्षण
करना चरितार्थ नाम को तुम मेरे लक्ष्मण !'

स्वीकृति पाकर सतुष्ट सुमित्रानन्दन अब
पर, कैकयी-नृप पर क्रोधित अन्तर जब-तब
कह दिया राम से भी कुछ उत्तेजित होकर
क्रोधित दृग से भी आज अश्रुधारा झर-झर !
पर, कहा राम ने 'भाई, तुम मत हो अधीर
मैं समझ रहा हूँ सरल क्रोध की तरल पीर
सोचो कि पिता की है कितनी दयनीय दशा
पहुँचाओ मत हे तात, उन्हें अब और व्यथा !
वे सत्य-मार्ग पर अटल सदा, यह रहे ध्यान
हम करें न कोई दुख देकर दुख का निदान
माता की कोई निन्दा करना भी अधर्म
आज्ञानुसार ही करना है अब उचित कर्म !
होता ही रहता है जीवन मे उलटफेर
लेता है बडे-बडो को भी दुर्भाग्य घेर
उसके आगे सकल्प टूट जाता नर का
बुझ जाता काल-प्रभजन से दीपक घर का !
होनी को टाल सका कोई ? प्रिय, धैर्य धरो
करना है जो कर्तव्य, उसे चुपचाप करो
ऊँचा रखना है हमें मनोरथ दुख मे भी
उत्तेजित होना है न कभी अति सुख मे भी !
दैवी निर्णय का स्वागत करना है मन से
लाना है सत्य-प्रकाश स्वय दण्डक-वन से

दुख है कि भरत से होगी इस क्षण भेंट नहीं
अकुलाएँगी आँखें सुधि में हे बन्धु, वहीं !
रहना यदि भरत यहाँ, हो जाता राजतिलक
देखता उसे सिंहासन पर मैं भी अपलक
देकर अपना आशीष उसे, जाता वन में
कितनी प्रसन्नता छा जाती उसके मन में !
उसके सुदिव्य मन का करता आलिंगन मैं
चलने की बेला करता स्नेह-समर्पण मैं
उनके नयनों का अमृत लिए जाता पथ पर
दो क्षण दो बातें करके ही चढ़ता रथ पर
पर, हे लक्ष्मण ! इस समय दूर हैं दो भाई
मेरे प्राणों पर उनकी सुधि की परछाईं
मेरे अभाव में उनको कोई कष्ट न हो
वे जब आएँ तो निश्चय इतना उन्हें कहो :
'मिलने न दिया उस निठुर काल ने भाई से
पूछे न कभी कारण वह अपनी माई से !'
—बस, इतना ही कहना लक्ष्मण ! कह देना तुम
कहने के पहले भरत-चरण छू लेना तुम !
करना न कभी तुम क्रोध, प्रेम से तुम रहना
कटु वचन कभी भी तुम भाई को मत कहना
सब कुछ सम्हाल लेना कि शान्ति नित बनी रहे
अनबन है इस घर में, यह कोई नहीं कहे !
सबकी सेवा करना लक्ष्मण, भूलना नहीं
हो नहीं पिता-माता को कोई कष्ट कभी
अर्पित करना तुम उन्हें नित्य मेरा प्रणाम
भूलना नहीं—भूलना नहीं यह राम-नाम !
जनगण को होगी व्यथा लौट कर जाने में
लग जाएँगे कुछ दिन अनुजों के आने में
सर्वोत्तम विधि से हो अभिषेक भरत का अब
लक्ष्मण ! मेरी बातों से क्यों होते हत-प्रभ ?
आओ, अनुचित आँसू को पोछूँ मैं कर से
रोते हो तुम इस समय हाय, किसके डर से ?

प्रिय, भरत बहुत कोमल, अतिशय वह है उदार
उसका उज्ज्वल अन्तर हे लक्ष्मण ! निर्विकार
जग मे अच्छा भाई मिलना कितना दुर्लभ
तुम क्यो हत-प्रभ ? तुम क्या हत-प्रभ ? तुम क्यो हत-प्रभ ?
जाओगे जितना निकट, स्नेह-रस पाओग
मन-मन्दिर मे जाकर न लौट कर आओगे ।
तुम मुझे भूल जाओगे, ऐसे उसमे गुण
जन-सेवा की मुझ से बढ कर है उसमे धुन
अवगुण अनेक मुझमे, उसमे तो गुण केवल
है वही नही उसम कोई भी हिंसक बल !
मैंने तो किया ताडका वध, तुम जान रहे
तोडा पविन शिव धनु को, यह भी ध्यान रहे
मैथिली-स्वयवर मे अनगिन नृप हुए व्यथित
देखा ही तुमने, रावण था कितना बाधित !
मृदुता ही मुझ मे नहो, भरी निर्दयता भी
थोडी रसमयता, अधिक वाण-विस्मयता भी
जन हित जयता ही नहो, अडिग निर्भयता भी
निश्चित प्रण के अनुमार कठोर हृदयता भी ।
पर, भरत-भाव मे सदा शील, निर्मल प्रवाह
उसका विशाल अन्तर सागर-सा है अथाह
साकार प्रेम की मूर्त्ति भरत, यह याद रहे
है भरत वही जो सत्य-वचन ही सदा कहे !
माता कैकेयी का निर्णय अनुचित न कभी
जाना है वैदेही से मिलने मुझे अभी
लक्ष्मण ! मेरी बातो पर अब विश्वास करो
अपनी शका मे आस्था की नव शक्ति भरो !"

झुक गए सुमित्रानन्दन अग्रज के पग पर
मुख को कुछ ऊपर उठा, तुरत वे हुए मुखर :
"हे नाथ ! मुझे भी वन जाना है सग-सग
रोकें न आप मेरे अन्तर्मन की उमग

माता से भी अनुमोदित मेरी अभिलाषा
पूरी होने दें पूज्य बन्धु ! मेरी आशा
आपके बिना मैं यहाँ नही रह पाऊँगा
हे राम ! दण्डकारण्य साथ ही जाऊँगा !'

निर्वाक् राम कुछ क्षण, भाई के इस हठ पर
गभीर कठ से निकला सहसा स्नेहिल स्वर :
'भाता न मुझे हे तात, तुम्हारा वन जाना
मेरे कारण मत करो आज तुम मनमाना
वनवास मुझे है मिला, मुझे ही जाना है
चौदह वर्षों के बाद फिर यही आना है
तुम इसी अयोध्या मे सेवा का करो कार्य
मेरे सम्मुख हठ करो नही हे अनुज आर्य !
जाना न तुम्हारा उचित पितृवचनानुसार
रोको अपनी उमग को प्रिय हे ! एक बार
भावुकता मे इतना न वहो कि उठे सशय
होगा अरण्य मे मुझे नही कोई भी भय !'

आ गए सुमित्रानन्दन कैकेयी-समीप
मूच्छित-से थे उस समय वृद्ध दशरथ महीप
लक्ष्मण की विनती को माता ने मान लिया
कुछ सोच-समझ कर ही उसने आदेश दिया !
लौटे हर्षित लक्ष्मण निज तन-मन को उछाल,
था चमक रहा उनका सुन्दर सुविशाल भाल
गृह-पथ पर ही लग गया मन्थरा को धक्का
गिरते ही उसका मन सहसा हक्का-वक्का !
ढूँढा लक्ष्मण ने भाई को पर, वे न यहाँ !
तो गए कहाँ ? वे गए कहाँ—वे गए कहाँ ?
वैदेही-गृह का स्मरण तुरत उत्सुक मन मे
तवतक घटना का तथ्य व्याप्त प्रिय परिजन मे !

पुरजन में भी बिजली-सी बातें हुई व्याप्त
जन-मन को भी संशय का व्यथा-प्रवाह प्राप्त
उठती-गिरती लहरें सौ-सौ शंकाओं की
आँखों में काली घटा घोर विपदाओं की !
थी भीड़ खड़ी की खड़ी, राम के दर्शन-हित
नयनों में शोकित उत्सुकता आश्चर्यचकित
कोलाहल में कुछ कमी किन्तु करुणार्द्रित
मुरझाया-मुरझाया-सा मन सब ओर व्यथित !
नगरी उदास, डगरी उदास, प्रहरी उदास
पैंती समीर की बहती-सी लहरी उदास
मण्डप उदास, मानव उदास, गृह-पथ उदास
होने वाले नूतन नृप का वह रथ उदास !
इस समय राम हैं यहीं किन्तु जन-मन उदास
बादल में घिरा हुआ-सा अब दिनमणि प्रकाश
वे तोरण-वन्दनवार—सभी फीके-फीके
वे सजेधजे घर-द्वार—सभी फीके-फीके
कदली के पत्तों में कम्पन, ध्वज में कम्पन
हो गया बन्द, हो गया बन्द गायन-गुंजन
अनगिन आँखें रीती,-रीती, रीती-रीती
मन में आती-जाती बातें बीती—बीती !
दु:खान्त नाटिका-सी सुधियाँ चकराती-सी
पथ-पथ पर नव नारियाँ बहुत घबराती-सी
मग-मग में पण्डित-प्रश्न कि रघुकुल में अनर्थ
ग्रामीण-हृदय जानता नहीं गंभीर अर्थ
कानों में कुछ कानाफूसी, गुपचुप वाणी
कुछ नयनों में ममता का करुण-करुण पानी
वृद्धाओं में हिचकी-हुचकी, आकुल रोदन
उस एक राम के लिए व्याप्त इतना क्रन्दन !
तदनन्तर लक्ष्मण-उर्मिला-मिलन की विरल घड़ी
उस कमलकोमला पत्नी-दृग में प्रणय-झड़ी :
'एकाकी ही रहना होगा हे देव ! यहाँ ?
मिलने भी जा न सकूँगी क्या मैं कभी वहाँ ?

क्या कहूँ, और मैं क्या न कहूँ ! चुप रह जाऊँ !
इस क्षण इस घोर व्यथा मे कितनी अकुलाऊँ !
चौदह वर्षो की दीर्घ प्रतीक्षा असह-असह
रे मन ! तू इनमे इस वेला कुछ भी मत कह !
कट सकती तो काटूँगी बड़ी प्रतीक्षा की
आई है कठिन अवधि उर्मिला-परीक्षा की
मैं प्रबल वीर की पत्नी हूँ, सह लूँगी सब
अपनी बाते अपने को ही कह दूँगी सब
शय्या पर रख दूँगी प्रसून हर रात स्वयम्
पूछूँगी अपने दर्पण से ही बात स्वयम्
गमकेगी चौदह वर्षो तक सुधि की कलियाँ
भीगेंगी विरह-झडी से ही मन की गलियाँ !
चमकूँगी बिजली बन कर प्रिय हे ! पावस मे
मैं वास करूँगी वन के फूलो के रस मे
पर, विघ्न न दूँगी कभी, सहर्ष पुकारूँगी
उत्तम सेवा के लिए सदा ललकारूँगी !
चौदह वर्षो का विरह-सिन्धु कितना अपार
उर्मिला तरगो को लेगी निश्चय सँवार,—
खुलने न अधिक देगी मन की पखडियों को
रोकेगी आँखें ही आँखों की झडियो को !
वासन्ती झोके आ-आ कर लौटेंगे ही
विह्वलता के विद्युत-मृग कुछ चौकेंगे ही
मन का मयूर देखेगा नही सघन घन को
सौरभ-समीर छू पाएगा न कभी तन को !
हे देव ! करूँगी मै भी तप मन के वन में
भर लूँगी हिम-सी शीतलता निज यौवन में
गृह की तपस्विनी नित सिन्दूर लगाएगी,—
अपने हाथों से नित्य प्रदीप जलाएगी
स्मृति के मन्दिर मे ही होगी पूजा प्रतिदिन
विरहिणी उर्मिला का मुख होगा नही मलिन
चौदह वर्षो तक विरह-तपस्या करनी है
सुधि की सरयू मे नित निज गागर भरनी है !

कैसे कितना क्या कहूँ ! नयन भर-भर आते
जाने क्यों मेरे प्राण अभी ही अकुलाते !
भर गया अचानक क्यों कम्पन मेरे उर में ?
छा रही उदासी क्यों मेरे अन्त पुर में ?
क्या विदा-काल में करुणा यों ही घिर जाती ?
क्या सबको इसी प्रकार वेदना अकुलाती ?
सकल्प ले चुकी मैं तो फिर यह कम्पन क्यों ?
साँसों में आत्म-व्यथित रह-रह कर सिहरन क्यों ?
विश्वास करो हे देव ! क्षणिक यह अकुलाहट
करती ही है नारी नव दुख में छटपटछट
पर मुझे विरह-घट को सयम से भरना है
पति के शुभ के ही लिए प्रेम-तप करना है !
जा सकती हूँ मैं नहीं साथ, भ्राता जो हैं !
लज्जा-मर्यादा का उनसे नाता जो है
अन्यथा अरण्यों में भी सुख पहुँचाती मैं
जाती मैं—दण्डक-वन में निश्चय जाती मैं !
सीता दीदी जाने को बहुत विकल कब से
जलहीन मीन-सी वह, दुखमय घटना जब से !
सुनती हूँ माता ने कह दिया कि 'तुम जाओ,—
सोए नृप के सम्मुख इतना मत अकुलाओ !'—
पर, देव ! परिस्थितिवश मैं ही लाचार हुई
उर्मिला स्वयम् उर्मिल सागर-जलधार हुई
दुर्भाग्य-व्यूह में फँसी अचानक नारी मैं
बन गई स्वय ही तो अपनी अँधियारी में !
अर्द्धाङ्गिनि मैं अधिकारहीन—आधारहीन
मेरी यौवन-नौका डगमग पतवार-हीन
मेरे स्वामी को बन्धु-सग जाना है
सकट में सेवा का अवसर पाना ही है
रक्षा करना है तन-मन से निज भ्रातृधर्म
मेरे स्वामी को अवगत है बन्धुत्व-मर्म
वनवास-दण्ड में वचन-धर्म की कीर्ति-ध्वजा,
देखेगी उसे एक दिन प्रेम-अधीर प्रजा !

वनवास-योग में त्याग-शक्ति की सार्थकता
फैलेगी उससे रविकुल की नव कीर्ति-लता !
कुछ तो यश होगा प्राप्त प्राणपति को उससे
इस कारण भी तो अश्रु-भरे ये दृग विहँसे !
पर, यह भी एक अधर्म कि यश-कामना करूँ
निष्काम कर्म की ही उर में भावना भरूँ
उत्तम सेवा वह, जिसमें सेवक अनासक्त
जो नहीं चाहता लौकिक फल, वह सफल भक्त !
हे देव ! हो रहा अब विलम्ब, जाना भी है
भ्राता से अन्तिम स्वीकृति को पाना भी है
मेरी अनुचित बातों पर ध्यान नहीं जाए
कामना यही, आने तक चरण न थक पाए !'

कुलगुरु से पाकर शुभाशीष, उत्फुल्ल राम,—
सीता-समक्ष आए वह वन-यात्री अवाम
एकान्त कक्ष में स्पष्ट परस्पर बातचीत
निर्णीत नहीं दो इच्छाओं की हार-जीत !
'काँटे ही काँटे वहाँ, नहीं प्रिय जाओ तुम'—
—बोले रघुवर : 'इतना न अधिक अकुलाओ तुम
वन की भीषणता तुम्हें नहीं कुछ भी अवगत
मत करो भंग मेरा सुदीर्घ आरण्यक व्रत
हे कुसुमकोमले ! नवनीते ! हठ करो नहीं
चौदह वर्षों की विरह-व्यथा से डरो नहीं .
तुम योगिराज की सुता, राम-पत्नी गंभीर
बह रहे तुम्हारे नयनों से क्यों अश्रु-नीर
क्या इसलिए शिवचाप उठाया था तुमने ?—
हे प्रिये ! स्वयंवर-हार पिन्हाया था तुमने
संयोग सुखद देखा, वियोग-दुख भी देखो
अब मुझे मात्र सुधि में दृग-सम्मुख भी देखो
पार्वती-तपस्या-कथा तुम्हें तो ज्ञात प्रिये !
सह सकती क्या तुम नहीं विरह-आघात प्रिये !

कर्तव्य-निकट निर्मोही होना पडता है
दुर्बल तन-मन ही बिछुडन-दुख से डरता है।
यदि साथ तुम्हे ले जाऊँ तो नृप-वचन-भग
एकाकी जाऊँ तो उज्ज्वल सुधि सग-सग
स्वीकृति ले ली माता से तुमने क्यो सहर्ष ?
तुम काट न सकती सात और फिर सात वर्ष ?
है विमल वियोग, तपस्या ही, यह याद रहे
जीवन मे एक समान प्रमोद-विषाद रहे
आँसू उतना ही बहे कि आँखेंविहँसें भी
उर-कमल खिले उतना कि गध कुछ गमके भी !
मृदुले ! वन-पथ पर कष्ट, क्लेश, दुख, विपद, व्यथा !
जानती नहीं तुम आरण्यक कटकित कथा
पग-पग पर हिंसक पशुओं के उत्पात वहाँ
कटती न चैन से कभी किसी दिन रात वहाँ !
मारते झपट्टे व्याघ्र, सिंह गर्जन करते
खूँखार ऋक्ष को देख, प्राण तत्क्षण डरते
जगल-झाडी मे विषधर सर्प ससरते हैं
वन के वाराहो से वन-यात्री डरते है !
भय लगता है सूनेपन मे, दिन रहते भी
काँपता अभी यह मेरा मन कुछ कहते भी
ले जाते वहाँ चुरा कर नारी को निशिचर
हिल जाते उनके भय से सबल-सबल तरुवर
आँधी-अधड के झोंके उठते हैं वन मे
आशका घिरी हुई रहती प्रतिपल मन मे
हो जाती असह कष्टकर ऋतुओ की लीला
झर जाता पल्लवदल भू पर पीला-पीला !
मिलता है कही-कही ही पानी जगल मे
कीडे लग जाते कभी-कभी मीठे फल मे
पत्तो पर ही सोना पडता अँधियाली मे
लिपटा रहता है व्याल विटप की डाली मे !
हे जनकनन्दिनी ! हठ न करो, रोको मन को
मेरे कहने से प्रिये ! सम्हालो निज तन को

दण्डकारण्य में दुख ही दुख, सुख नही वहाँ
तुम राजभवन में ही अर्द्धाङ्गिनि ! रहो यहाँ
मैं पुरुष, विपद सहने का है अभ्यास मुझे
हँस-हँस कर व्यथा झेलने में विश्वास मुझे
मैं मना कर चुका लक्ष्मण को भी जाने से
कुछ भी न लाभ, कुछ भी न लाभ अकुलाने से !
मत जाओ प्रिय, तुम मत जाओ, तुम रहो यहीं
संभव कि राम वन-पथ से फिर लौटें न कहीं !
होते हैं सुख-दुख-भरे भविष्यत् के सपने
सरणी पर जाते छूट कभी साथी अपने !
पथ में रुक जाए कौन किधर, यह कौन कहे ?—
कर्त्तव्य-मार्ग पर कबतक किसका साथ रहे !
आना-जाना, तो लगा हुआ है जीवन में
कितनी इच्छाएँ तो रह जाती हैं मन में !
यह उचित नहीं कि तुम्हें दुख-पथ पर ले जाऊँ
तुम करो कामना यही कि धर्म निभा पाऊँ
आरण्यक पथिक तुम्हें कैसे प्रिय, बनने दूँ ?
भोगो तुम सुख केवल, मैं केवल दुख ही लूँ !
दुख मिले राम को सदा, यही मैं चाह रहा
सुखमय दुख से पर-दुख-सागर को थाह रहा
समझो, समझो हे वैदेही ! वनवास-मर्म
बचने दो मेरा विरह-विमल तापसी धर्म !
रहना है मुझे अकेले ही सुख को बिसार,
हे प्रिये ! रहेंगे बन्द सभी आनन्द-द्वार
वनवास-सत्य को समझो बुद्धि-विवेकपूर्ण
उठने मत दो मन में लहरों को घूर्ण-घूर्ण !
यौवन-पंकज को सब विधि मुझे बचाना है
जाना है, वन में एकाकी ही जाना है
तुम यहीं विछोह-धर्म का नव निर्वाह करो
हे प्रिये ! राम की तनिक नहीं परवाह करो !'

एकान्त कक्ष में स्पष्ट परस्पर बातचीत
निर्णीत नहीं दो इच्छाओं की हार-जीत
सीता मन-ही-मन क्रुद्ध कि 'कैसी बात हुई
दिन के रहते क्यों शकाओं की रात हुई !
इतनी दुर्बला जनकतनया ? क्या सुना हाय !
मैं साथ नहीं जाऊँ, इसका क्या यह उपाय ?
योगी हैं मेरे पिता योग कुछ मुझमें भी
नारी हूँ मैं भी एक, भोग कुछ मुझमें भी !
है वन न कभी भी राजभवन यह जान रही
सीता अपनी मर्यादा को पहचान रही
देखेगा ही संसार कि मैं रहती कैसे
पाला न अभी तक कोई व्रत जैसे-तैसे
क्या भूल गए भगवान कि वैदेही कैसी
क्यों उठी आज शका मन में सचमुच वैसी ?
अत्यधिक प्रेम के कारण ही इतनी ममता
सच है, नारी में नहीं पुरुष-बल की क्षमता
पर, वह अपनी सीमा में प्रिय पूरक तो है
उसके सुकुमार हृदय में एक चमक तो है
चेतनाहीन नारी न कभी, वह कर्ममयी
कोमल काया भी कठिन मानवी धर्ममयी !"
—बोली ज्योतित जानकी करुण स्वर में सहर्ष :
'हे प्राणनाथ ! काटूँगी मैं भी विरह-वर्ष
दें मुझे एक अवसर कि करूँ वन में विचरण
मत करें अभी प्रतिकूल व्यथा-चिन्ता-चिन्तन
वन-व्रत पूरा होगा न कभी यदि मैं न चलूँ
वनवास-विरह उज्जवल न कभी यदि मैं न जलूँ
सम्मिलित ज्योति की शिखा कृपा कर उठने दें
अपने वन में मुझको भी प्रभु हे ! चलने दें
सीता न अकेली रह सकती, विश्वास करें
मेरी कर्त्तव्य-दृष्टि में भी निज शक्ति भरें
बनने दें कोमलता को भी थोडा कठोर
सुनने दें इन कानों को वन-वातास-रोर !

मेरे हित सूना राजभवन, यदि नहीं आप
मेरे हित सूना स्वर्ग-सदन, यदि नहीं आप
मैं केवल सुख-संगिनी नहीं हे प्राणनाथ,
चलने दें सीता को भी वन में साथ-साथ
काटेंगे हम हँसते-हँसते ही कठिन काल
हटते जाएँगे वन-पथ से सब विपद्-व्याल
कोई भी कष्ट न दूँगी मैं उस कानन में
संगिनी रहेगी संग सदा निर्वासन में !
वन में भीषणता भी, निसर्ग-सुन्दरता भी
पतझर ही केवल नहीं, सुगन्ध-मधुरता भी
काँटे ही केवल नहीं, फूल भी खिलते हैं
हिंसक पशुओं से अधिक वहाँ मृग मिलते हैं !
देखूँगी पर्वत पर छितराए बादल को
देखूँगी नृत्य-विभोर मयूरों के दल को
सरसिज-सम्पन्न तडाग मिलेंगे कहीं-कहीं
पथ-पथ में कुसुम-पराग उड़ेंगे कहीं-कहीं
पक्षी का कलरव तो हर जगह मिलेगा ही
सरिता के तट पर शीतल चन्द्र खिलेगा ही
निर्झर-निनाद सुन कर प्रसन्न होगा प्रिय, मन
कैसे कहते हैं आप कि केवल भीषण वन !
खाने को कन्द-मूल-फल वहाँ मिलेंगे ही
हर ऋतु में तरु हम दोनों को कुछ देंगे ही
समझूँगी पर्णकुटी को ही मैं राजभवन
बीतेंगे सुखपूर्वक ही दुखमय जीवन-क्षण !
बचपन से ही वन विचरण की अभिलाषा है
हे नाथ ! आपसे अब अनुमति की आशा है
मत करें देह से कभी दूर वैदेही को
ले चलें साथ अपने दुख-सुख की स्नेही को !
भय नहीं कभी मुझको, जबतक ये धनुष-बाण
किसमें दुस्साहस यह कि करे वह भंग मान
हो जहाँ आप, द्युति-हरण वहाँ होगा कैसे ?
हो जहाँ आप, तम-चरण वहाँ होगा कैसे ?

हो रही देर, आज्ञा मे अधिक विलम्ब न हो
इस कारण भी फिर कुपित कहीं वह अम्ब न हो !
वन-पथ मे ही सेवा का अवसर पा लूँगी
प्रभु-पग की चुभी कटकी स्वय निकालूँगी
पानी तो ला सकती मैं वहाँ सरोवर से
पत्ते बटोर सकती शय्या-हित निज कर से
रहने के स्थानो को तो स्वच्छ बनाऊँगी !
कम से कम कुटी-निकट वाटिका लगाऊँगी !
नारी के बिना कही भी नर का वास कहाँ ?
उसके अभाव मे जीवन मे मधुमास कहाँ !
जगल मे भी मगल नारी ही ला सकती
निर्जन अरण्य को भी वह स्वर्ग बना सकती
संकट-पथ मे ही कठिन परीक्षा नारी की
चिन्ता न करें कुछ भी उस जगल-झाडी की
कहता है मेरा धर्म कि मुझको जाना है
दण्डकारण्य मे निज कर्त्तव्य निभाना है !"

एकान्त कक्ष मे पति-पत्नी की बातचीत
उत्कट इच्छा की हृदयग्राहिणी हुई जीत
लक्ष्मण ने भी निज भ्रातृदेव को मना लिया
तीनो को वृद्ध पिता दशरथ ने विदा किया !
रोती-रोती आँखो ने उनको विदा किया
कैकेयी ने सीता को भी वन-वसन दिया !
बांधा हाथो से स्वयम् राम ने वल्कल को,—
कोमल अगुलियो से पोछा नृप-दृगजल को !
मूर्च्छित होकर गिर पडी माण्डवी—भरत-प्रिया
फट गई—फट गई उसकी कोमल-करुण हिया
सीता के चरणो पर उसके आँसू पवित्र
किसके लोचन-जल मे न माण्डवी-सजल चित्र !
उर्मिला विकल, श्रुतिकीर्ति विकल, सब विकल-विकल
सबकी आँखो मे मानो सरयू-गगाजल

सीता की कोमल कमल-देह पर भी वल्कल !
किसके कारण, किस लिए आज यह कल-बल-छल ?
इतनी निर्ममता—निर्दयता—निष्ठुरता क्यों ?
रघुकुल की सहृदयता मे ऐसी जड़ता क्यो ?
अन्त पुर की सब स्त्रियाँ भभक कर रोतीं अब
प्राणो की असह्य व्यथा आँखें ही ढोती अब !
ढँक लिया नृपति ने हाथो से अपने मुख को
पी लिया प्राण ने जीवन के अन्तिम दुख को
हाहाकारो के बीच धैर्य का धर्म धवल
श्रीराम-जानकी-लक्ष्मण-मुख ज्यों ज्योति-कमल !
नख मे शिख तक आलोकित त्याग-प्रभा उज्ज्वल
माया के महा महल मे भी मुस्कान विमल
तापसी वेश, तापसी केश, तापसी भाव
मन मे न किसी मे कोई भी किंचित् दुराव !
सीता से कहा माण्डवी ने कातर स्वर मे ·
'मुझसे न रहा जाता दीदी ! अब इस घर मे
अग्रज के साथ अनुज भी जाते कानन मे
तो बहन-संग क्यों बहन नही जाए वन मे ?
तेरी सेवा तो मैं ही केवल कर सकती
मैं ही वन-पथ की कटक-पीडा हर सकती
पति रहते तो निश्चय ही जाते बन्धु-संग
चढ पाता नहीं अयोध्या पर दूसरा रंग !
पर हाय, क्षणो मे ही हो गया खेल कैसा !
देखा न कभी भी दृश्य आज के दिन जैसा
इस घर मे ऐसी फूट ! बहन, मैं चकित-चकित
इस निर्मम घटना के आगे मैं लाज-नमित !'
माण्डवी हुई चुप सुन, सीता के मधुर कथन
पर, नीरविहीन हुए न करुण कज्जल लोचन
पोंछती रही कौसल्या नयनो के जल को
गभीर सुमित्रा रही बढाती उर-बल को !
चलने की वेला छुआ राम ने पितृचरण
स्वीकार किया माताओ ने सुत-मौन नमन

छा गया भवन मे सहसा क्रन्दन ही क्रन्दन
इस ओर रुदन, उस ओर रुदन, हर ओर रुदन !
आँसू ही आँसू ओह-आह की घडियो मे
कैकेयी घिरी-घिरी आँसू की झडियो मे
राजाज्ञा से सुमन्त ने रथ को मँगा लिया !
रानी आँखो न आज राम को विदा किया !
उठ सके न दशरथ उठ कर भी इतना अचेत
निकले बाहर श्रीराम अनुज-सीता-समेत
भीतर ही हाहाकार नही, अब बाहर भी
सब ओर शोक-विह्वल असख्य नारी-नर भी !
हाँका सुमन्त ने रथ ! पथ पर व्याकुल जन-गण
उस राजभवन से सौ-सौ गुना अधिक क्रन्दन
दर्शन के लिए हजारो आँखें हैं प्यासी
विह्वल—अति विह्वल आज अयोध्या के वासी।
'रोक सुमन्त ! रथ को, दर्शन तो करने दें
राम के सामने आँसू आज बिखरने दें
अश्वो को जाने दें धीरे-धीरे इस क्षण
हैं तडप रहे उनके दर्शन बिन हम जन-गण !'
'सबको प्रणाम, सबको प्रणाम, सबको प्रणाम'
—बोले रथ पर ही खडे-खडे निष्काम राम
'चौदह वर्षों के बाद पुन आना ही है
प्रिय जन सेवा का अवसर फिर पाना ही है
हँस कर ही विदा करें कि सफल हो निर्वासन
हो जगल मे भी मगलमय ही जन-जीवन'
—कुछ कह, सुन कर अपने रथ से चल पड राम,
थामी सुमन्त ने कस कर घोडे की लगाम !
पर, भीड बहुत आगे, पीछे ! अब क्या उपाय ?
हर ओर करुण चीत्कार, हृदय मे हाय-हाय !
ड्योढी पर दशरथ खडे विकल रानी-समेत
सूखा-सूखा अन्तर जैसे जलहीन रेत !
लोचन-सम्मुख पथ धूल, ओठ पर एक नाम
प्राणो के भीतर व्याप्त मात्र राम ही राम

सब कुछ उदास हो गया एक के जाने से
रुक सके न राम अयोध्या के अकुलाने से !
यह कहते-कहते गए कि 'अब तो धैर्य धरें
इस अतुल स्नेह से मुझे अधिक लज्जित न करें
यह प्रेम सुरक्षित रहे भरत के लिए सदा
घेरे न बन्धु को कभी यहाँ कोई विपदा !'
—यह सुन कर नयन-नयन में नूतन जल-प्रवाह
अवरुद्ध कंठ में ममता-मूर्च्छित शोक-आह
शोकाकुल राजभवन, शोकाकुल ग्राम-नगर
आहारहीन, आनन्दहीन सब नारी-नर !
सुनसान पथ पर म्लान-म्लान उर-प्राण सभी
रे, आज अयोध्या के वासी निष्प्राण अभी
सन्नाटे में चीखती वेदना ही केवल
सूखता जा रहा अब अनगिन नयनों का जल !
पंछी का कलरव भी न कहीं, आकाश सघन
है रुका-रुका-सा प्रकृति-व्यथित मधुमास-पवन
आज ही यहाँ उल्लास, आज ही महाशोक
दुस्सह दुख से है व्याप्त मनुज का मर्त्यलोक !
कितना उदास सब कुछ, कितना नीरस तन-मन
रह-रह कर आँखों में अंकित निर्वासन-क्षण
गिर गए भूमि पर दशरथ ! असह विरह-वर्छा
चिल्लायी कौसल्या, विलोक कर पति-मूर्च्छा !
कर गए नगर-सीमा को पार जानकीपति
रथ के पीछे अनगिन पुरवासी की पग-गति
वापस का आग्रह इनका-उनका—दोनों का
आता-जाता रह-रह कर विनती का झोंका !
उतरे रथ से नीचे भी रघुवर वार-वार,—
सुन कर करुणा से भरी वृद्ध जन की पुकार :
'इतना निर्मम क्यों हे सुमन्त ! रथ लौटाओ
घोड़े को अब इस ओर, इधर जल्दी लाओ !
चलते-चलते श्रीराम सुदूर निकल आए
हैं बादल-दल अम्बर में छाए के छाए

जैसी रथ-गति वैसी जन-गति, ऐसी ममता
मानो आ रही दौड़ती विह्वल हृदय-लता !
दोपहरी कब न समाप्त, दिवस ढलने को है
आकुल जनगण के चरण सिर्फ चलने को हैं
सब गाँव-गाँव मे घटना-चकित उदासी-सी
त्यागी कुमार-दर्शन-हित आख प्यासी-सी !
घिर गए राम सहसा पुरवासी से पथ पर
बैठे न रहे वे तीनो अब अपने रथ पर
सीता भी पैदल चली राम के सग-सग
भीतर ही भीतर मन मे वनदर्शन-उमग
आते-आते तमसा का प्रिय तट दीख पडा
जलधारा पर सध्या प्रकाश सहसा बिखरा
घोडे को खोल दिया सुमन्त ने चरन को
मन-ही-मन उत्सुक प्रिय लक्ष्मण कुछ करने को
तमसा के तट पर सबका नित-सध्यावन्दन
तरु पर लख ज्योति-प्रपात, मुदित सीता का मन
वनवास काल की प्रथम रात आई-सी है
झुरमुट पर सूरज की लाली छाई-सी है
चहचहा रहे पछी, तट पर कुलकुल निनाद
मन को इस क्षण किसकी-किसकी आ रही याद
उपवास राम की इच्छा से पहली निशि में
छिटकी-सी शीतल चन्द्र-प्रभा पूरब-दिशि मे !
ले आए लक्ष्मण घास तुरत ही, शय्या हित
सीसम के नीचे जनकनन्दिनी बहुत मुदित
कुछ दूर अयोध्यावासी का चर्चित पड़ाव
'लौटें श्रीराम यहीं से'—मन मे यही भाव
सो गए सभी पर, लक्ष्मण का चेतन पहरा
चाँदनी रात मे चचल पुरवैया-लहरा
निशि भर सुमन्त-सीतापति मे वार्ता अटूट
अनुनय की कोई बात न मन मे गई छूट
दशरथ की इच्छा व्यक्त किन्तु सकल्प अटल
जब-तब श्रीराम-नयन मे वाहिती श्रद्धा-जल

सब विधि से सुखी रहे प्रिय भरत, यही आशा
पूरी हो स्नेहमयी माता की अभिलाषा !
कर्त्तव्य-हेतु उर मे दृढता का शक्ति-उदय
पुरवासी की हो सकी नही प्रार्थना-विजय
तीनो रथ से चल पडे दूर, सबको तज कर
था पीला-पीला उस वेला नभ मे हिमकर !
सब उठे प्रात मे किन्तु नयन-मन चकित हुए
पाकर न राम को वहाँ, प्रजागण व्यथित हुए
पथ पर रथ-चिह्नो को निहार, आँखें पुलकित
'लौटे श्रीराम अयोध्या ही'—यह अनुमानित !
धिक् ! इतनी देर रहे क्यो सोए हम कैसे ?
—चल पडे उधर ही पुरवासी जैसे-तैसे
पर, राम दूर, अब बहुत दूर ममता-पथ से
नदियो को पार किया, आगे निकले रथ से
चलते-चलते दक्षिण कोसल-सीमा आई
राम के हृदय पर पडी मातृभू-परछाई
रथ को रुकवा कर उतरे वे सीमा-स्थल पर
बोले निष्ठापूर्वक पवित्र माटी छूकर
"हे मातृभूमि ! अर्पित मेरा सादर प्रणाम
दो आशीर्वाद कि पूर्ण करे वनवास राम
अक्षुण्ण रहे अनि दुख मे भी भू-भक्ति-भाव
डूबे न कभी तम-सागर मे विश्वास-नाव
हे जन्मभूमि ! तुम विश्व-श्रेष्ठ माता मेरी
कर मे न तुम्हारे पडे कभी कोई बेडी
आए न कभी भी पराधीनता का सकट
झझा से ध्वस्त न हो स्वधर्म का अक्षय वट
आसिन्धु-हिमालय विश्व-पुरातन अरुण देश
शिव मे ही विष्णु-प्रभा, सुविष्णु मे ही महेश
हरिहर-मानस मे ब्रह्म-ज्योति-विस्तार एक
अक्षुण्ण रहे हे राष्ट्रभूमि ! शाश्वत विवेक !
विजयी हो तम-तन्द्रा पर ऊर्जित सत्य-प्राण
मेरी यात्रा से हो भास्वरता का विहान

काटूँ मैं क्षोभ-रहित अपना वनवास-काल
झुकने न कभी दूँ देश ! तुम्हारा विश्व-भाल !
दो आशीर्वाद जननि, कि भरत हो कार्य-सफल
सूखे न कभी भी सहृदयता का सरयू-जल
लौटे लक्ष्मण निर्विघ्न, जानकी कुशल रहे,—
दुख की घड़ियों में भी प्रसन्न मन अचल रहे !'

राम के प्रार्थना शब्द श्रवण कर, नत सुमन्त
सम्मुख मंजरित विटप-श्रेणी पर नव वसन्त
दोलित समीर से प्रिय रसाल की डाल-डाल
उड़ती-सी इधर-उधर रस-पीती मधुप-माल
मँहमँह सुगन्ध से सीता का मन-वन पवित्र
सुधिमय चितवन में मिथिला का उद्यान-चित्र
मन्दिर में प्रथम मिलन की स्मृति आलोकित-सी
आते-आते अब गंगा-धार प्रवाहित-सी !
उज्ज्वल कछार, उज्ज्वल पानी, उज्ज्वल प्रवाह
गंगा से सटी-सटी ही अब वन-विजन राह
वृक्षों के पके फलों को देख, रुके घोड़े
अनुमति पाकर लक्ष्मण ने तोड़ लिए थोड़े !
सेमल के लाल-लाल फूलों की लाल छटा
लगता कि गगन में छितराई-सी कुसुम-घटा
लम्बे-लम्बे तृण पर क्रीडित सुरसरि-समीर
तट पथ ऐसा कि बिछा है मानो हरित चीर
चकमक सिकता पर चमचमचम सारस-बगुले
रथ के चक्के तरु-छाया-पथ पर खूब चले
रमणीय, और रमणीय, और रमणीय स्थान,
खिल गए नयन, खिल गए हृदय, खिल गए प्राण !
रघुवर की इच्छा से सुमन्त ने रोका रथ
कितना सुन्दर अब विटप-पुष्पमय गंगा-पथ
पीकर हिनहिना उठे घोड़े ठंढा पानी
निकली सीतापति-मुख से यह इच्छित वाणी :

'अच्छा रहता यदि यहीं करें हम निशि-पड़ाव
नयनों पर पड़ा मनोहर दृश्यों का प्रभाव
इच्छा होती कि प्रकृति-शोभा देखें कुछ क्षण
सुखकर अतीव प्रिय सुरसरि-तट का सान्ध्य भ्रमण'
दौड़ते हुए कुछ केवट इतने में आए
देख कर उन्हें, लक्ष्मण दो क्षण तक अकुलाए
पर, कहा एक ने—'हे अति प्रियदर्शी कुमार !
स्वीकारें सभी निषादों का उर-नमस्कार
आ रहे हमारे भूपति गुह भी दर्शन-हित
निर्वासन-घटना को सुन कर वे बहुत चकित
कुछ ही पहले तो उन्हें करुण सवाद मिला
पूरी बातें सुनते ही उनका हृदय हिला !'

राम ने स्वय आते देखा केवट पति को—
देखा उत्सुक चल चरणों की विह्वल गति को
देखा प्रेमाकुल मुख को—सजल विलोचन को
देखा आह्लादित तन को—श्रद्धामय मन को !
आ रहा निषाद-नरेश सकल परिवार-सहित
श्यामल बादल-सा व्यक्ति झुण्ड आनन्द-हरित
उठ गए राम-लक्ष्मण अधिपति के आते ही
छल्की दोनों की आँखें गले लगाते ही !
गुह-पत्नी ने भी सीता का सत्कार किया,—
मीठी वाणी से त्याग-हेतु जयकार किया
आँसू निकाल कर किया स्नेह से आलिगन
हर लिया प्रेम ने स्वय प्रेम का पावन मन !
बोला निषादपति 'आप न भिन्न मुझे जानें
हे राम ! दीन गुह को बस, अपना ही मानें
अपना ही समझें इस प्रदेश को हे कुमार,
बस, यही प्रार्थना मैं करता हूँ बार-बार
यह भूमि आपकी ही है, यहाँ निवास करें
हे प्रभु ! चौदह वर्षों तक यहीं प्रवास करें

खिलने दें।मन-प्राणों को नित निज दर्शन से
जाएँ न आप अन्यत्र कहीं इस उपवन से
पूर्व के पुण्य का प्राप्त अतुल परिणाम आज
परिवार-सहित मैं धन्य हुआ हे राम ! आज
चौदह वर्षों तक वनें यहीं पर वनवासी,—
सिंहासन-त्यागी। हे जन-मन के विश्वासी !
इस भू पर रहने मे होगा कोई न क्लेश
चरणों पर अर्पित है समस्त यह गुह-प्रदेश
सेवा मे कमी नहीं होगी, करता हूँ प्रण
सार्थक होने दें राम ! आज से गुह-जीवन
हो रहे प्रथम दर्शन से ही ये प्राण धन्य
आपकी कृपा से आज मिलन-वरदान धन्य
स्वीकारें प्रभु ! आतिथ्य, करें जी भर भोजन
इस वेला केवल इतना ही मेरा वन्दन,—
देकर निज उर में स्थान, भक्ति को तृप्त करें
मेरे मन को अपने प्रकाश मे लिप्त करें
आपकी अलौकिक ख्याति कहाँ फैली न यहाँ
ज्योति ही ज्योति है वहाँ, आपकी कृपा जहाँ !'

गुह के वचनों से हर्ष-चकित दोनों भाई
सीता के नयनों में प्रसन्न आभा छाई
इतने मे पकवानों का लेकर चार भार—
आ गए वहाँ पर गुह-गृह से चारों कहार
श्रद्धा-विभोर श्रीराम, देखकर स्नेह अमित
मानो प्रिय भक्त-समक्ष स्वयं भगवान नमित
नीरज-नयनों मे उज्ज्वल रस, उर-प्रेम-भरा
मुख पर सुदिव्य आनन्द-प्रकाश स्वतः बिखरा !
—देखा निषादपति ने जल-उज्ज्वल लोचन से,
मिल गया एक मन आज एक ज्योतित मन से
निःस्वार्थ प्रेम को दर्शन-फल मिल गया आज
उस ज्योति-कमल से हृदय-कमल खिल गया आज

बोले रघुवर 'हे मित्र ! तुम्हें मैं जान गया,—
कितना पवित्र है प्रेम, इसे पहचान गया
ऐसा मत समझो गुह, कि भक्ति से भिन्न नाम
छिपती न छिपाए कभी गुरु श्रद्धा अकाम
स्वीकार किया हमने सानिध्य तुम्हारा प्रिय,
भा गया हमें गंगा का स्वच्छ किनारा प्रिय !
जान ही रहे तुम, अब मेरा वनवास-धर्म
करना है हमें अभी से ही तापसी कर्म
पा लेंगे हम कुछ कन्द-मूल फल यहीं आज
मिल गए यहां तुम तो जाएँगे कहां आज
हम लोगों को कल प्रात ही चल देना है
दैनिक पूजन इस तट पर ही कर लेना है
दोनों तुरग हैं पितृदेव के अति प्यारे
इनके हित भी कर दो प्रबन्ध समुचित चारे
गुह के पकवानों को सुमन्त ही खा सकते
मिष्टान्न-स्वाद को यही हमें बतला सकते !'

बरगद के नीचे तृण-शय्या पर निशा-शयन
गंगा-प्रवाह की ओर राम के कमल-नयन
बोले लक्ष्मण से गुह कि 'आप सो जाएँ अब
हो गई रात आधी, आखिर सोएँगे कब ?
शय्या है बिछी नई, अब जाएँ सोने को
कुछ ही घड़ियों में बन्धु ! भोर है होने को
मैं जगा हुआ हूँ आप तनिक चिन्ता न करें
अपलक आँखों में हे कुमार, अब नींद भरें
मेरे अनेक प्रहरी सतर्क हैं यहाँ-वहाँ
आ सकता कोई विघ्न नहीं, श्रीराम जहाँ
देखिए, युगल छवि पर कैसी आभा छाई
लगता कि काल-फणि ने ज्योतित मणि बिखराई !
लक्ष्मण ने उत्तर दिया कि दृग में नींद कहाँ ?
मैं सोऊँ कैसे सोए मेरे बन्धु जहाँ

रोते होंगे इस समय अयोध्या के वासी
रोती होंगी रानियाँ, समस्त दास-दासी
करते होंगे अति दुखी पिता दारुण विलाप
अत्यन्त कष्टकर होगा उनका विरह-ताप
होना था क्या पर, हुआ वही जो होना है
अनगिन नयनों को राम-विरह में रोना है !
लक्ष्मण तो अब भी क्रोधित किन्तु विवश है मन
आँसू पीकर रह गया हाय, मेरा यौवन
सुख नहीं ला सका बन्धु-हेतु तो दुख टालूँ
कम से कम सेवा का ही तो मैं व्रत पालूँ
कर दूँ न्योछावर अपने को, लालसा यही
फिर देखूँ या देखूँ न कभी प्रिय अवध-मही !
परिणीता के साहस ने भी छल दिया मुझे,—
चलने की वेला उसने दृग-जल दिया मुझे
हे गुह ! सोने का मुझसे मत अनुरोध करो
तुम राजा हो, अब निज नयनों में नींद भरो
कह दो अपने सेवक से, वे भी सो जाएँ
लक्ष्मण के रहते कोई नहीं कष्ट पाए
मुझसे सेवा के सिवा न कोई करो बात
सोए हैं मिट्टी पर मेरे अति पूज्य तात !
वे एक चक्रवर्ती नरेश के सुत उत्तम
है राज्य-त्याग का उनके मन में तनिक न गम
भाई हूँ उनका मैं, कर्त्तव्य निभाने दो
जागरण-रात तक दृग को मुझे जगाने दो
मेरे कर में है धनुष-बाण, चिन्ता न करो
बीती अब आधी रात, नयन में नींद भरो !
गुह के लोचन छलछला उठे, बातें सुन कर,—
हो गया द्रवित अतिशय भावुक वह भक्तप्रवर
उर-पट पर अंकित रामचन्द्र सान्त्वना-सजग
चन्द्रिका-समान जानकी प्रतिबिम्बित जगमग
कर रही रात अब गंगा को शशि-नमस्कार
शीतल समीर से आह्लादित है नदी-धार

उस पार प्रात की प्रभा नीलिमा से निकली
पीयूष-कलश को लिए उधर यामिनी चली !
तबतक श्रीराम और सीता सब विधि तत्पर
गगा-तट पर वे दोनो सहज प्रसन्न-मुखर
कुछ देर नगर के तप की उत्कठित चर्चा—
स्मृतियो में ही पूर्वज की भावभरी अर्चा !
'करना है गगा पार हमे जल्दी लक्ष्मण !
—बोले श्रीराम—'करो गुह से नौका-वन्दन
विस्तृत जलधारा के कारण सभाव्य देर
ऐसा उपाय अब करो, न हो भाई, अवेर
बोले लक्ष्मण—'तरणी-प्रबन्ध हो गया नाथ !
गुह सो सका न दो क्षण भी प्रभु हे !' विनत गात
पहरा देता ही रहा निषादराज निशि भर
उसका सवेदनशील बहुत कोमल अन्तर !'
चुप रह कर ही राम ने अनुज-मुख को देखा
उसकी चितवन मे आँखो की करुणा-रेखा
तबतक चरणो पर झुका-झुका-सा गुह-मस्तक
उसकी आँखो में राम-जानकी चकमकचक !
'यह अघ भक्ति क्यो है निषादपति ! बोलो तो ?'
—बोले श्रीराम 'हृदय को स्वत टटोलो तो ?
तुम तो अधिपति, मैं नृप-कुमार ! क्यों स्नेह घना ?
जग मे सेवा लेना तो मेरे लिए मना
क्यों नयन तुम्हारे सजल-सजल मुझको निहार ?
तुम क्यो इतने आकुल-व्याकुल सुधबुध बिसार ?
मत करो व्यक्ति-पूजा इतनी हे गुह, उदार
करने दो गगा को जल्दी अब हमें पार !
जाना है प्रिय वन-पथ पर दशरथनन्दन को
मेरे चरणो पर नहीं लगाओ चन्दन को !
मेरे चलते, भावो का मत अपमान करो
तुम मार्ग-मित्र-सा ही मेरा सम्मान करो !
लो, तुम तो अब आसूँ सजाने लगे आज,—
अपने समक्ष ही मुझे रुलाने लगे आज ?

सीने ! यह भक्त मानता क्या भगवान मुझे ?
कितनी श्रद्धा से देता यह सम्मान मुझे !'
रथ मे घोडे को लगा, सुमन्त राम-सम्मुख
उर के कोने-कोने मे केवल दुख ही दुख
की गगा-तट पर व्यक्त उन्होंने नृप-इच्छा
लौट कर यहाँ से चलने की मँगी भिक्षा !
तीनो यात्री अजलि मे वट के दूध लिए,—
तपसी-समान कच को ऊपर की ओर किए
वट-दुग्ध बना देता वालो को जटाजूट
यह जान, सुमन्त-हृदय तत्क्षण ही पडा फूट !
तबतक नौका तैयार सुसज्जित फूलों से
है बसी बसी उर-धारा दोनों कूलों से
तीनो के तीनो चल नाव की ओर हाय
अब क्या उपाय, अब क्या उपाय, अब क्या उपाय !
रोकर सुमन्त ने किया नमन शिशु के समान
कुछ कहने के पहले जैसे फट गए प्राण
'क्या आज्ञा है '—कह सके सिर्फ इतना सुमन्त
इतना ही कहने मे कम्पित मन का दिगन्त !
कधे पर रख कर हाथ, राम ने कहा यही '
'लौटे अब आप अयोध्या-पथ की ओर अभी
जल्दी जाकर कीजिए पिता की देखभाल
अति द्रवित न हो अब दुख से उनका उर विशाल
दें उन्ह आप ढाढस कि क्षीण हो घना मोह
हो नही कभी अब उनके मन मे आह-ओह
जल्दी अभिषेक भरत का हो, यह ध्यान रहे
अक्षुण्ण सभी माताओ का सम्मान रहे !'
—सुन कर श्रीराम-वचन फिर नयनो मे पानी
निकली अवरुद्ध कठ मे अटकी-सी वाणी :
'इस जग मे अब अच्छे लोगो का मान नही
अब श्रेष्ठ व्यक्ति पा सकता है सम्मान नहीं !
जा सकते जब सीतापति भी दण्डक वन मे,
तो कितना उथल-पुथल सभव जन-जीवन मे

हे राम ! अकेले इस तट से लौटूँ कैसे ?
अब खाली रथ लेकर उस ओर चलूँ कैसे ?
मुझसे संभव यह नहीं राम ! कैसे जाऊँ ?
इच्छा होती कि आपके संग ही रह पाऊँ
अब कहाँ मिलेगी अमृतभरी मुस्कान-सुधा
काँपेगी विछुड़न के दुख से कोमल-वसुधा
कितना उदास होगा अब वह मन्यू-श्टार
होगा उदास कितना उज्ज्वल प्रासाद-द्वार
सूने होंगे उद्यान, भवन सूने होंगे
सूने होंगे सब पथ मदन सूने होंगे
जाऊँ कैसे ? जाऊँ कैसे, हे दिव्य राम !
हो गए विधाता अवधपुरी-हित हाय, बाम
किस मुँह से क्या बोलूँगा मैं नृप के सम्मुख
बढ़ ही जाएगा मुझे देखकर उनका दुख ।'

बैठे सुमन्त रथ पर रघुवर के कहने से
दुख और बढ़ गया प्रिय-विछोह-दुख सहने से !
बैठी नौका पर वैदेही, तब राम, अनुज
खिल उठे जाह्नवी-जल पर वे तीनों अम्बुज !
धीरे-धीरे धारा पर तरणी वह निकली
अब प्रेम-भँवर में केवट की आँखें पिघली
मुड़-मुड़ कर देख रहे सुमन्त नौका-पथ को
रोकते रहे वे बीच-बीच में निज रथ को !
लक्ष्मण ने हाथ उठाकर मन को शान्त किया
दुख के कारण इंगित से उत्तर नहीं दिया
सहृदयता ही विछोह की पीड़ा सहती है
निर्मल नयनों से ही निर्झरिणी बहती है !
चढ़ने के पहले गुह ने चरण पखारा था
अभिशप्त अहल्या को प्रभु ने स्वीकारा था
उन्मत्त ताड़का को रघुवर ने मारा था,—
शिव धनुप-यज्ञ को प्रभु ने स्वयं सँवारा था !

—ये विविध भाव उठ रहे स्वत गुह के मन मे
लहराती भक्ति-तरंग स्वयं ही क्षण-क्षण मे
नाविक अनेक, पर गुह ही नौका खेता है
नयनो से ही वह नयनों का रस लेता है।
झरता है प्रीति-पराग पद्मलोचनदल मे
झरती है प्रेम-सुधा आँखो के ही जल से
मिल गया हृदय को हृदय, और क्या लेना है
उर की गंगा मे राम-तरणि को खेना है
मिल गए राम ही जब, कुछ और मिले, न मिले
उर-कमल खिल गया जब, कुछ और खिले, न खिले
चाहिए प्रेम को प्रेम, और कुछ नही राम,
रे मन! सीतापति ज्योति-विभूषित यही राम

अटकी-भटकी-सी नाव भँवर-सी नाच रही
कुछ पता नही गुह को कि किधर-जल-मार्ग सही
जा-जा कर उधर-इधर फिर तरणी आती-सी
आनन्द-उर्मियाँ उर-तट मे टकराती-सी।
जल को छूकर वैदेही ने कर लिया नमन
गंगा से आशीर्वाद कि सफल विपिन-जीवन
गुह के अन्तर मे फूट पड़ा अब भक्ति-गीत
जानते प्रीति-पारखी प्रफुल्ल निषाद-प्रीत
मछलियाँ उछलने लगी निरख, प्रतिबिम्ब-कमल
मच गई मध्य गंगा के जल मे प्रिय हलचल
इतना विभोर वह भक्त कि सबकुछ गया भूल
खिल गया उधर आलोक-भरा आकाश-फूल।
लक्ष्मण के मन मे जिज्ञास किन्तु सीता सस्मित,—
विस्तृत गंगा को देख-देख कर दृग पुलकित
रह-रह कर साँसो मे समीर—आनन्द-स्वाद
मिथिला की कमला-कोसी की आ रही याद।
लक्ष्मण से बोले राम कि 'देखो प्रिय सुषमा
गंगा की जल-उज्ज्वलता की न कहीं उपमा

देखो, लहरों पर सूर्य-किरण क्रीडा करती
उड़ते पंछी की पंख-प्रभा जल पर झरती
हे बन्धु ! हृदय में भी सुरसरि-सा प्रिय प्रवाह
उर का नाविक देखता अभी दूसरी राह
कोमलता कहीं-कहीं ही मिलती प्राणों की
झंकार विरल होती है हृदय-प्रमाणों की !'

नौका खेने जब लगे राम, चौंके लक्ष्मण
खुल सके न भक्ति-विभोर अभी तक गुह-लोचन
तन में है मन या मन में तन, कुछ पता नहीं
ऐसी तन्मयता मिल पाती है कहीं-कहीं !
सहसा निषादपति जागा जब जलधारा पर,
करुआर राम के कर में लख, वह थर-थर-थर
'प्रभु क्षमा करें—इतना ही तो निकला मुख से,
वह सिहर गया अतिशय दुख से—अतिशय सुख से !
देखा उसने आयाम कि दिन कट गया अधिक
बन गई भुजाएँ कर्म-हेतु तत्काल श्रमिक
सर-सर-सर पुष्प-अलंकृत तरणी आगे अब
कर्त्तव्य-सजग गुह-प्राण ज्योति से जागे अब !
लहरों को चीर-चीर कर नाव निकलती-सी
सूरज की किरणें अभी न उतनी जलती-सी
सिकता से शोभित श्वेत किनारा आया-सा
बादल का टुकड़ा एक अचानक छाया-सा !
तट पर तरणी लग गई ! विदा की करुण घड़ी
गुह के लोचन में व्याप्त प्रेम की पुनः झड़ी
उतरी सहर्ष सीता, उतने दोनों भाई
आँखों की उजली घटा उमड़ कर छितराई—
जब कहा राम ने—'हे लक्ष्मण ! तुम चलो न वन,'
सुन कर कठोर यह वचन, अनुज के द्रवित नयन
निकला मुख से—हे तात ! लग गया मुझे बाण
रोकें न मुझे—रोकें न मुझे हे महाप्राण !

रुकने को मैं अब नहीं, चलूँगा संग-संग
दण्डकारण्य में विचर रही मेरी उमंग
यदि कोई भूल हुई तो कर दें क्षमा आप
मत दें—मत दें हे बन्धु ! यहाँ अब विरह-शाप !
होगा न कभी मुझसे कि लौट कर जाऊँ घर
सच कहता हूँ, आपके बिना जाऊँगा मर
सब बात मान सकता लेकिन यह बात नहीं
सह सकता लक्ष्मण राम विरह-आघात नहीं !"
पर, कहा राम ने—'तुम कितने सुकुमार बन्धु
भाएगा तुम्हें न युग तक जंगल-झाड़ बन्धु !
कोमल पग को कंटक-पथ पर क्यों जाने दूँ ?
क्यों व्यर्थ तुम्हारे नयनों को अकुलाने दूँ ?
क्या मुझे कहेंगे मिथिलापति, नर-नारीगण
कोसेगा मुझे नहीं क्या प्रतिदिन निखिल भुवन ?
लूँगा सम्हाल सीता को स्वयं अकेले ही
विचरेगी मेरे संग-संग यह वैदेही
तुम तनिक लोकमत का भी अनुभव करो बन्धु,
अपने दृग में अपनी करुणा भी भरो बन्धु !
अति स्नेह-भाव से लग सकता मुझ पर कलंक
मेरे मानस में रह-रह कर वृश्चिका-डंक !
तुम सो न सके दो रात, इसे भूलूँ कैसे ?
सहना होगा आघात, इसे भूलूँ कैसे ?
अग्रज का भी होना है अपना अनुज-धर्म
तुम समझ रहे हो बन्धु, राम का कथन-मर्म ?
मानव उन्नत इसलिए कि उसमें सूझबूझ
इतना भावुक मन बनो कि जाए हृदय जूझ
वैदेही भी चिन्तित, हे बन्धु ! विचार करो
लौकिकता के अनुकूल सदा आचार करो
मत देखो मेरा सुख, दुख देखो घर का भी
तुम करो ध्यान करुणाङ्कित हृदय-डगर का भी
तुम इतनी दूर यहाँ तक आए, कम न यही
प्यारे भाई ! अब जाओ वापस अवध-मही

जिनसे हो जाए हानि, नहीं वह लाभ विमल
सरिता कैसी जिसमें न तनिक भी अपना जल
जानकी धर्मवत् ही आई पर, जाओ तुम
मेरे चलते जीवन अनफल न बनाओ तुम ।
ऐसा न करो कुछ भी कि लोक में निन्दा हो
मनमाना तो कर सकते हो तुम जो चाहो
होती है बुद्धि बली लेकिन ऊँचा विवेक
है एक धरा लेकिन चिन्ता-धारा अनेक ।'

सुनती न भक्ति सज्ञान तर्क की जगह कथा
हठ नहीं समझ पाता भविष्य की भाव-व्यथा
शिशु के समान लक्ष्मण-चितवन में अश्रु-नीर
सुन दुखद वचन सहसा आकुल-व्याकुल शरीर
'हे राम ! मुझे चलना ही है—चलना ही है
उत्तम सेवा-हित दीपक को जलना ही है
जलने में कोई कष्ट नहीं, आनन्द सदा
जीवन में तो आती ही रहती है विपदा ।
सहता ही रहना है सबकुछ सहने वाला
कहता ही रहना है कुछ-कुछ कहने वाला
सीधा-सपाट मैं हूँ, भीतर में छल न कहीं
मेरे यौवन के आँगन में हलचल न कहीं !
हूँ सरलहृदय इसलिए क्रोध आ जाता है
अन्याय देख कर मेरा मन अकुलाता है
लक्ष्मण तो भाई का सेवक, चाकर प्यारा,
आया यह छोड़ अयोध्या में अपनी दारा !
भाई की भक्ति अधिक मुझमें, इसलिए चला
मैं नहीं छला—गृहदेवी को मैं नहीं छला
उसने भी मुझे कहा कि विपिन में जाना है—
पूरे चौदह वर्षों तक धर्म निभाना है !
हे राम ! नहीं हूँ मैं दोषी, जाऊँगा ही
मैं भ्रातृस्नेह वन-पथ पर भी पाऊँगा ही

भाई का प्रेम समझता केवल भाई ही
तरु के नीचे रहती तरु की परछाईं भी !'
—रह गए मौन श्रीराम, जानकी हुई सजल
उसके दृग मे उर्मिला बहन का चित्र विकल
देने आई थी अर्घ्य विदा की घडियो मे
बँध गई उर्मिला पति-बिछोह-हथकडियो मे !
अन्तिम स्वीकृति से मुदित-मुदित लक्ष्मण का मन
दोनो आँखो मे उमडा-सा सुख का सावन
रोता है मानव अति प्रसन्नता-क्षण मे भी
प्रासाद छोड कर जाता सेवक वन मे भी !
दुख मे आनन्द उठाना भी तो योग एक
लक्ष्मण के सँग वन जाना भी सयोग एक
गुह के मन मे भी उठी शुभ्र गगा-हिलोर
यह प्राण-लहर भी चली पथ के उसी ओर !
कुछ दूर निषाद चले त्रिमूर्ति के सग-सग
पर, किया राम ने उस उमग का भाव-भग
बोले—"निषादपति ! लौटो अब, तुम लौटो अब
जाने फिर तुमसे होगा मेरा मिलना कब !
बस, बनी रहे यह प्रीति, याद करते रहना
स्मृतियो से सरस भाव उर मे भरते रहना
मिल पाता है सतोषी को ही सच्चा सुख
तृष्णा के कारण ही जीवन मे अतिशय दुख
विश्वास बना देता है सबल हृदय गति को,—
करती है शान्ति प्रदान भक्ति मानव-मति को
कर्तव्य जागरण से जीवन मे मिलती जय
आनन्द-नाद सुन पाता केवल विमल हृदय !
हे गुह ! तुमने सब विधि मेरा सत्कार किया
तुमने असीम श्रद्धा से उर-शृगार किया
भूलेगा राम नही सेवा गगा-तट की
स्मरणीय प्रीति-छाया विश्वास विमल वट की !'

लौटा अपने अनुचर के सग निषादराज
भीतर-बाहर आलोकित उसके प्राण आज
कमनीय चित्त मे रामरूप-रमणीय छटा
विह्वल से उमडी आँखों मे वरणीय घटा !
निर्गुण अन्तर मे सगुण भाव के खिले कमल
दर्शन-प्रवाह मे दीर्घ प्रतीक्षित चित्त विमल
प्राणो मे भक्तिवसन्त-सुगन्ध अमित छाई
आनन्द-बौर मे सुधि-लतिकाएँ अँगराई
चल पडे उधर श्रीराम अनुज-भार्या-समेत
सूनी-सूनी हो गई सरित की पुलिन-रेत
आगे-आगे लक्ष्मण, सीता के बाद राम
वनवास-वेश मे भी तीनों के तन ललाम
चलते-चलते हो गई साँझ, निशि-शयन कहाँ ?
'ठहरें हम वहीं बन्धु ! विस्तृत वट वृक्ष जहाँ'
—बोले श्रीराम 'सामने वह तरु दीख रहा'
मन्थर गति मे प्रिय शीतल, सुखद समीर बहा !
सीता कुछ थकी-थकी-सी उस क्षण जान पडी
स्वेदित मुख पर कच-किरण सटी, बिखरी-बिखरी
चरणो पर रेणु-पराग, अधर पर मन्द हँसी
चितवन मे वासन्ती तरु-शोभा बसी-बसी
वट के नीचे आ गए सभी आते-आते
सीता-समेत बैठे रघुवर कुछ मुसकाते
कर लिया स्वय लक्ष्मण ने सत्वर सब प्रबन्ध
सोने की बेला तृण-शय्या पर नयन बन्द
फिर प्रात: दैनिक कर्म और प्रस्थान तुरत
लगता, जैसे चलना ही केवल जीवन-व्रत
रह-रह कर धूल-भरे झोंके, नव सौरभ-शर
बतियाने मे ही बीत गयी चैती दुपहर
चिडियों की बोली सुन-सुन कर उत्फुल्ल कान
पतली-पतली पगडण्डी पर पग का प्रयाण

तीसरे पहर पहुँचे तीनो संगम-तट पर
पावन प्रयाग का तीर्थस्थल कितना सुन्दर !
यमुना-गंगा मन-प्राण समान नील-उज्ज्वल
आत्मा-सी सरस्वती दोनो मे व्याप्त विमल
सत्संग-समान मिलन-रेखा दोनो तट तक
आशा-तरंग से हृदय-सलिल प्रतिपल चकमक !
सद्धर्म-समन्वय-सा संगम कितना पवित्र
अक्षयवट-सा विश्वास त्रिलोकित मंजुल चित्र
'सीते ! इस भाव-सलिल मे अब हम करें स्नान'
बोले श्रीराम—'करें हम श्रद्धा सहित ध्यान
बैठें कुछ क्षण हम ज्ञान-पुलिन की सिकता पर
देखें आत्मा की आंखो मे आनन्द-लहर
श्रद्धा से करें प्रवेश प्रयाग-सरित-जल मे
हो जाता चित्त विशुद्ध सिद्ध तीर्थस्थल मे !
यह तीर्थराज इसलिए कि पुण्य-प्रवाह यहाँ
मिलती है मन को आत्म-ज्ञान की राह यहाँ
जिसने भीतर मे संगम का पहचान लिया,
निश्चय ही उसने भक्ति-भाव का जान लिया !
ऋषि-मुनियो की प्रिय भूमि सदा सद्भाव-भरी
संगम-सचेतन मन पर प्रेमाभा बिखरी
होता न प्रेम के बिना सत्य का प्रिय दर्शन
संभव न भक्ति से रहित प्रेम का ज्योति मिलन !'

पहुँचे श्रीराम स्नान-पूजा के बाद वहाँ,—
ऋषि भरद्वाज का आश्रम अति विख्यात जहाँ
आते ही उस कानन मे दिव्य सुगन्ध मिली
तीनों वन-यात्री की आंख अब खिली-खिली
ज्यों शरद्-चन्द्र को देख, चकोर-नयन केन्द्रित,
लख पथिक-कान्ति, आश्रमवासी सानन्द चकित :
'धरती पर दो-दो देव, एक देवी कैसी ?
देखी न कभी भी दैहिक सुन्दरता ऐसी !

किन महापुण्य ने आभा का अवतरण आज ?
कैसे भू पर पड़ गए ज्योतिमय चरण आज ?
सबको प्रणाम कर रहे स्वयं देवता अभी
हँस पड़ते विद्युत-पुण्य-सदृश ये कभी-कभी !
हे भरद्वाज ! इस आश्रम में सुर-शुभागमन
नयनों में अटक गए उनके आलोक-वदन
कथनीय नहीं है रूप-कथा हे ऋषि-प्रधान !
आ रहा, आ रहा उनका ही इस समय ध्यान
यह उचित कि उनके स्वागत में हम चलें उधर
देखिए,—देखिए व तीनों आ रहे इधर
कितना मनमोहक है उनका तापसी वस्त्र
लग रहे जटा के जैसे उनके शीर्ष-वस्त्र !
साक्षात् महालक्ष्मी-सी वह देवी सुन्दर
आती वह आगे किन्तु देखती सदा इगर
रखती न चरण वह देव-चरण के चिह्नों पर
उसकी मुखमणि पर थिरक रही आनन्द-लहर !
देखी न कहीं देखी न कभी ऐसी सुषमा
मानव-सुन्दरता में न उचित उसकी उपमा
हे, हे महर्षि ! अब स्वयम् देखिए-उन्हें आप
आप ही समझ सकते उनका दैवी प्रताप !'

साष्टांग दण्डवत् से ऋषिवर लखिन पल भर
लोचन से तीनों पद्म-प्राण चिन्तित सुन्दर
परिचय पाते ही अतुल दिव्यता आत्म-विदित
मन-ही-मन भरद्वाज का सिर सानन्द नमित !
तत्काल राम-लक्ष्मण का स्नेहिल आलिंगन
उस महातपस्वी का प्रयाग में प्रेम-मिलन
तत्क्षण कुटीर-प्राङ्गण में आसन-दान उचित
वनवास-दण्ड से ऋषिगण सहसा चकित-मुदित
बोले महर्षि—हे राम ! तुम्हारा त्याग अतुल,
इस समय समझ सकता न रहस्य मनुज-मुकुल

हो सफल तुम्हारा निर्वासन, कामना यही
तुम से पवित्र हो पाप-ग्रस्त सत्रस्त मही
दशरथनन्दन ! तुम स्वय विभासित महिमा से
तुम स्वय विभूषित महाशक्ति की गरिमा से
तुम इस प्रयाग मे आए महाप्रयाग लिए—
निकले हो वन मे आलोकित अनुराग लिए !
तुम जहाँ वही सगम पुनीत, मैं जान रहा
हूँ राम ! तुम्हें यह भरद्वाज पहिचान रहा
साकार तीर्थ तुम ज्ञान-भक्ति-सत्कर्मों के
तुम स्वयम् मर्म हो विश्व-विवर्कित धर्मों के !
मिल गया तपस्या-फल मुझको, प्रिय दर्शन से
वाणी पवित्र हो रही तुम्हारे वन्दन से
मनु की अति कठिन तपस्या के परिणाम तुम्ही
इस धरती के आलोकपुरुष हे राम तुम्ही !
मानव मर्यादा के भविष्य-आदर्श तुम्ही
विद्या-विवेक के विनयशील उत्कर्ष तुम्ही
तुम भारत के गौरवमय चारित्रिक प्रकाश
हे राम ! तुम्ही से सभव दानव का विनाश
वाणास्त्र तुम्हारा दिव्य, दिव्यतर लक्ष्य-दृष्टि
तुमसे ही सभव मानवता की नई सृष्टि
सगिनी तुम्हारी भू-कन्या, तुम गगनरूप
कौमार्य-सिहासन-त्यागी तुम तो विश्व-भूप
वनवासी ! तुम तो वही, जिने हम जान रहे,—
मानस के माध्यम से सब कुछ पहिचान रहे
नर होकर भी तुम अविनश्वर हे रामचन्द्र,
मानव-शरीर में तुम ईश्वर हे रामचन्द्र !
जैसी जिसमें दृग-शक्ति, भक्ति कुछ वैसी ही
उत्पन्न हुई प्रभु-लीला-हित ही वैदेही
मानव ही माध्यम पुरुषोत्तम-परिदर्शन का
आलोक-अवतरण ज्यों मन्थन-फल चिन्तन का !
हे राम ! तुम्ही ने प्रथम ध्यान-आधार दिया
तुमने अपने को मानव मे साकार किया

छिप कर भी छिपती नहीं तुम्हारी दिव्य कान्ति
तुम जहाँ, वही पर आनन्दित सत्सग-शान्ति !'

सुन आत्म-प्रशसा ऋषि-मुख से, श्रीराम नमित
मृग-पुत्री-सी सीता रह-रह कर वर्ण-चकित
पर, लक्ष्मण-नयनो में प्रसन्नता-सुधा विमल
मोहक मुख ज्यो दोलित समीर मे श्वेत कमल !
बोले श्रीराम 'महर्षि ! मुझे लज्जित न करें
दशरथकुमार के उर में अपनी कृपा भरें
दें शुभाशीष, पालन कर पाऊँ पितृवचन
हो सफल हमारा हर प्रकार से वन जीवन
दुर्गुण न देखते सत किसी के तन-मन का
पारखी पवित्र हृदय ही होता सद्गुण का
सतो के हस-नयन चुनते केवल मोती
सहृदयता सदा, सरल-निश्छल ही तो होती !
आना था एक मुझी को लेकिन चले तीन
मेरा मोही मन कितना अनुशासन-विहीन
मेरे चलते हो रहा इन्हे भी बहुत कष्ट
कर रहे स्नेहवश ही ये अपना समय नष्ट
रहते ये राजभवन मे तो, करते सुकर्म,—
ये पालन करते वही सजग कर्त्तव्य-धर्म
लेकिन ये भी जा रहे प्रेमवश सग-सग
इस यात्रा मे इनके चलते ही सुख-उमग
वन-पथ पर मेरी प्राणसगिनी साथ चली
हे धर्मनिष्ठ मुनि ! कहिए क्या यह बात भली ?
लगता कि मिला वनवास मात्र लक्ष्मण को ही
चौदह वर्षो तक कष्ट अनुज-तन-मन को ही !
जाऊँगा मैं वनवास-काल मे जहाँ-जहाँ
करना होगा अतिरिक्त कर्म अब मुझे वहाँ,—
पर, कौन काम कर पाऊँगा, यह भान नही
दण्डकारण्य के जन जीवन का ज्ञान नही

सुख मिलता यदि वैदेही भी कुछ कर पाती,—
कम से कम वन-वनिता का भी दुख हर पाती
सुकुमार वदन से कठिन काम संभव कैसे ?
सह सकती विहगी क्रुद्ध सिंह का रव कैसे ?
जानकी-भाग्य से ही लक्ष्मण आगमन हुआ
लगता कि मात्र सुखमय ही वन का भ्रमण हुआ
काल की प्रेरणा अनायास ही होती है
कल्याण-शक्ति ही पर हित दुख को ढोती है।
दें आशीर्वाद महर्षि ! कि यात्रा पूरी हो
सत्-शिव-सुन्दर में नहीं तथ्यगत दूरी हो
प्रिय भरत रहें सब विधि प्रसन्न निज जीवन में
प्रतिबिम्बित हो वह मेरे मन के दर्पण में !'
—राम के वचन को सुनकर भरद्वाज हर्षित
चित की सरलता देख, चित्रमय नयन नमित
श्रद्धेय अतिथियों का आश्रम-आहार-ग्रहण
प्रिय पर्णकुटी में धरती पर ही रात्रि-शयन !

लक्ष्मण प्रहरी-से खड़े कुटी के द्वार-निकट
फैला-फैला-सा उनके ऊपर विस्तृत वट
आश्रमवासी भी चकित विलोक बड़ा पहरा
तरु के समान व्यक्तित्व रात भर रहा खड़ा !
यह जान कि प्रात ही होगा श्रीराम-गमन,
पहुँचे कुटिया के निकट सिद्ध, मुनि, तपसी-गण
चलने को प्रस्तुत हुए राम, आज्ञा लेकर
इस विदा-काल में द्रवित-द्रवित कुछ ऋषि-अन्तर
तीनों वनवासी ने ऋषि-पग का किया स्पर्श
अब भरद्वाज से रामचन्द्र का पथ-विमर्श :
'हे मुनिवर ! आगे कौन स्थान, हम रुकें जहाँ —
कुछ दिन अधिवास करें, ऐसी वह जगह कहाँ ?'
ऋषि भरद्वाज ने चित्रकूट का लिया नाम
बोले कि 'पवित्र तपोवन वह अतिशय ललाम

हे राम ! प्रकृति की छवि वैसी है नहीं यहाँ
रहते हैं परम तपस्वी अत्रि महर्षि वहाँ
अब इस प्रयाग के बाद मिलेंगे विविध ग्राम
खेतों मे दीख पड़ेंगे करते कृषक काम
ललनाएँ तृप्त करेंगी पथ मे लोचन को
दर्शन से धन्य करेंगे सब निज जीवन को !
जाएँगे नाथ तुम्हारे, कुछ तापस कुमार
ये चित्रकूट जाते रहते है बार-बार
ये सब प्रकार से कर सकते सुविधा प्रदान
बतला देंगे ये तुम्हे विमल व रमणीक-स्थान !"

आज्ञा लेकर अपने पथ पर चल पडे सभी
यमुना की धारा पथिकों से है दूर अभी
सीतापति ने तापस कुमार को लौटाया
गुह उसी समय दौडता हुआ सम्मुख आया
झुक कर बोला "हे प्रभु ! यह अगूठी किसकी ?
निज लाल चचु से उठा रही थी इसे शुकी
लगता कि आपकी ही है यह, स्वीकार करें
अगुलि से निकली हुई मुद्रिका आप धरें !"
गुह को विलोक कर एक बार हँस पडे राम
हो गया स्मरण गगा-तट का वह निशि-विराम
हँस पडी जानकी राम-मुद्रिका को निहार
देखने लगी वह उसे दूर से बार-बार
बोले श्रीराम—'निषादराज ! क्यों कष्ट किया ?—
परिणय का यह स्मृति-चिह्न मुझे फिर सौंप दिया
आभारी हैं हम सभी, यहाँ से लौटो अब
बढते प्रसन्नता पूर्वक अब आगे हम सब'
पर, गुह ने किया निवेदन—'वन तक जाने दें
इस सेवक को भी सेवा-लाभ उठाने दें
उस दिन अनुमति न मिली लेकिन अब कृपा करें
अपनी प्रसन्नता मेरे उर मे आज भरें'

समझाया रघुवर ने परन्तु गुह क्यों माने ?
शिशु के समान वह लगा पथ में अकुलाने
चलते-चलते कालिन्दी का तट दीख पड़ा
उस पार सघन उपवन किसलय से हरा-भरा
यमुना की नीली धार वायु से उद्वेलित
पीपल के नीचे वैदेही अत्यन्त मुदित
जल की प्रिय नीलाभा पति-मुख-सी कान्तिमयी
इस तट से उस तट तक की सुषमा शान्तिमयी !
गुह ने दौड़ाई दृष्टि किन्तु नाविक न वहाँ
हँसिया लेकर वह चला उधर, वन-वेणु जहाँ
बैठे न रहे लक्ष्मण, वे भी चल पड़े संग
देखी सीतापति ने दोनों की उमंग
केवट ने बना लिया झटपट सुन्दर बेड़ा
लहरों ने तीव्र धार में नयनों को घेरा
जल को छूकर सीता ने सरित-प्रणाम किया
मन-ही-मन भक्ति-सहित सुरगण का नाम लिया
उस बेड़े से ही लौटा गुह इच्छा-विहीन
उसकी दयनीय दशा जैसे जलहीन मीन
तीनों यात्री चल पड़े उधर, पर गुह उदास
वह बैठ गया रोते-रोते तटवृक्ष-पास
'निर्मोही मेरे राम छोड़ कर चले गए,—
गंगा-यमुना में प्रीति जोड़ कर चले गए
चल रे मन ! उनकी सुधि नयनों में घिरी-घिरी
उर के प्रवाह पर प्रेम-तरी तो तिरी तिरी !'

वन-पुष्पलता को देख, नयन भी हरित-हरित
फूलों के नाम जान कर सीता मुदित-मुदित
'यह कौन सुमन ? वह कौन कुसुम ? वह कौन फूल ?
उड़ रही पवन में किस प्रसून की सुरभि-धूल ?
यह तरु कैसा ! वे पादप-वृक्ष-विटप कैसे !
ये लता-जाल रेशमी मयूरपंख-जैसे

भागी वह हिरनी उधर, इधर वह नीलगाय
वटवृक्ष वहाँ का है कितना सुविशालकाय !
कितनी सुन्दर वह विहगपंक्ति उडती-मुडती
उस झाडी पर काली-पीली तितली उडती
देखिए तनिक उस उल्लू को, उस डाली पर
कानो मे अमृत डालता अब कोयल का स्वर !'

पग-पग पर सीता प्रश्न, राम का प्रिय उत्तर
वासन्ती शोभा देख-देख कर कठ मुखर
वाणी-विहीन लोचन मे चित्रित वन-सुपमा
उत्फुल्ल दृष्टि ढूँढती स्वयम् समुचित उपमा !
वन-पथ पर कही-कही छिटपुट दयनीय ग्राम
कुछ पर्णकुटीरो को निहार कर मौन राम
क्यो फटे-चिटे लत्ते किसान के तन पर हैं ?
अति करुण उदासी व्याप्त जानकी-मन पर है !
निर्वासित लक्ष्मी के नयनो मे मौन नीर
पीडित जन मन को देख, दुखी कोमल शरीर
आगे बढने पर मिला एक सम्पन्न गाँव
कितनी लुभावनी लगती है तरु-हरित छाँव
रुक जाते नारी-चरण, देख कर पथिक-वदन
लख निरुपम रूपराशि को, चकित-चकित चितवन
'हैं कौन देव-देवी सखि ! ये जा रहे कहाँ ?
रुक सकते हैं ये नही तनिक क्या आज यहाँ ?
अनुपम आकृति, अनुपम शोभा, अनुपम है तन
क्या अपनाने जा रहे कष्टमय वन-जीवन ?
स्वर्ग के देवता इधर किसलिए आए हैं ?
कुछ और निकट चल सखि ! लोचन अकुलाए हैं !
मणि के समान मुख-कान्ति फूल-सी खिली हुई
सुन्दरता अपनी चरम शक्ति मे मिली हुई
वे लम्बे-लम्बे नयन अमृत बरसाते-से
वे कोमल-कोमल होठ सदा मुस्काते-से !

सखि ! इनके चरणों को छूकर ही कर प्रणाम
पूछ तो पद्मवदनी से परिचय-सहित नाम
वे निकल गए आगे, चल उधर घेर मग को
छूना ही है हे बहन ! आज इनके पग को !'

मन की अदम्य इच्छा होती निष्फल न कभी
निष्फल होता नयनों का पावन जल न कभी
रुक गई जानकी युवती की जिज्ञासा से
वह लजा गई उसकी रस-भीगी भाषा से !
दे रही प्रश्न का लज्जित उत्तर वैदेही
'ये शुभ्रवदन लक्ष्मण मेरे देवर स्नेही
वे मेरे अपने ' इतना ही वह बोल सकी
भौंहों की भाषा ही रहस्य को खोल सकी !
इतने में नर-नारी-समूह से घिरे राम
ग्रामीण-प्रीतिवश ही कुछ पीछे फिरे राम
बूढ़ों ने लक्ष्मण से वन-कारण जान लिया,—
फल-फूलों से सब ने उनका सम्मान किया
पाकर के नीचे श्रद्धामय सत्कार यहाँ
लगता कि आज कोई पवित्र त्योहार यहाँ
प्रेम के सामने हो जाते बन्धन ढीले—
हो जाते किसके प्राण नहीं रस से गीले !
वनवासी तीन परन्तु पूर्ण घट तीस-तीस
तीन ही नहीं, केले के पत्ते बीस-बीस
देवता एक के नहीं, सभी के प्यारे हैं
ये श्याम-गौर सबकी आँखों के तारे हैं
गीतों की वर्षा हुई प्रीत के ही कारण
रसमय शब्दों का सरस-सरस अब उच्चारण
सोचने लगे लक्ष्मण कि अरे, यह सब क्या-क्या
देखने लगी उल्लसित नृत्य अब राम-प्रिया !
जन-मन में केवल हर्ष नहीं, स्नेहिल दुख भी,
दुख की तरंग पर मधुर-मधुर दर्शन-सुख भी !

कैसे हैं इनके पिता कि वन मे भेज रहे
निर्दय नृप को समझा कर बातें कौन कहे ?

कैसी इनकी माता कि पुत्र को छोड दिया,—
निज पुत्रवधू से कैसे नाता को तोड लिया
खिलते फूलों को आंधी ने झकझोर दिया
कोमलता को किसने चुपचाप मरोड दिया ?
मानवता इतनी सहनशील क्या होती है ?
सहृदयता की आँखें करुणा ही रोती है !
नृप के कारण ही किन्तु मिलन इनका संभव !
प्रिय दर्शन का आत्मिक आनन्द आज अभिनव !
स्नेह के जाल से स्वयं निकल कर चले सभी
भूलेंगे कैसे प्राण गांव की प्रीति कभी
'लक्ष्मण ! अरण्य अब सघन, गरजता सिंह एक
चिंघाड रहे हैं एक साथ हाथी अनेक
है चमक रहा बालुका-टेर, क्या नदी वहां ?
उस तालवृक्ष के आगे कोई पथ कहां ?
फुँफकार रहा है सर्प, जानकी ! सावधान !
हे बन्धु ! बाण पर रहे तुम्हारा सदा ध्यान
कितने सुन्दर ये नीलकुसुम, ये फूल लाल
किस व्याधा का उस तरु के नीचे पडा जाल ?
उस आम्रवृक्ष से अनगिन हरित टिकोले हैं
देखो इन मृगशावक को, कितने भोले हैं !'

इस तरह राम ने सरि-वन-पथ को पार किया
गांवों ने जहां-तहां उनका सत्कार किया
आसक्तिहीन उर को सात्विक आनन्द मिला
श्वासों को खिलते फूलों का मकरन्द मिला !
मृदुले ! ये मृग तो पोसे-पाले लगते हैं—
निर्भय होकर ही पथ पर बहुत उछलते हैं
देखो मयूर को, झुण्ड बांध कर आए हैं
जलमय बादलदल क्या अम्बर मे छाए हैं

देखो तो उस उजले कपोत की जोड़ी को
देखो उन चचल चिड़ियो की झकझोरी को।
कितना प्रकाश उस कपि-मुख पर ? देखो, लक्ष्मण !
क्यो उसे देख कर आनन्दित मेरे लोचन ?
वह कहाँ गया ? देखते-देखते लुप्त देह !
क्यो उमड रहा उसके प्रति मुझसे सहज स्नेह ?
देखो, आ रहा इधर ही कोई ऋषिकुमार
मुनि भरद्वाज का स्मरण हो रहा बार-बार
हे तरुण तपस्वी ! आगे किस ऋषि का आश्रम ?
इस सघन विपिन मे कही न किंचित् भय-विभ्रम
लहराता हवन-पवन, गु जित-सा वेद-मत्र
इस कानन मे आभासित किनका योग-तत्र
क्या कहा ? महामुनि वाल्मीकि की भूमि यही ?
वैदेही ! लक्ष्मण ! तब तो यह अति पूज्य मही
मस्तक पर धूलि लगा कर हम भू-नमन करें
हम इस श्रुति-वन मे धीरे-धीरे भ्रमण करें
मत करो स्पर्श मेरे पग को हे साधु तरुण !
है दिव्य तुम्हारा रूप स्वत ही आत्म-अरुण
चल पड़े कहाँ ? लक्ष्मण ! यह भी हो गया लुप्त
लगता कि पुण्य-कानन मे कोई शक्ति गुप्त !
क्यो घेर रहा है पवन ? पुन कपि की स्मृति क्यो ?
मेरे मन मे आनन्द-शोक की झकृति क्यो ?
लगता कि किसी कवि का रस-वाक्य सुना मैंने
लगता कि शब्द-फूलो को स्वयम् चुना मैंने !
देखो, उस डाली पर एकाकी क्रौंच विहग
उसके डैनो पर रवि-किरणे जगमगजगमग
अब चलें बन्धु, उस ओर जिधर हरिणी जाती
ऋषि-दर्शन-हित अब मेरी आँखें अकुलाती
रमणीक विपिन मे जिसरी-सी मन की वाणी
लगते हैं लम्बे-लम्बे तरु ज्ञानी-ध्यानी
पत्ते-पत्ते मे ध्वनि, डालो मे उद्वेलन
कल्पना-वृन्त पर खिले-खिले-से शब्द-सुमन !

वहता है सारस्वत समीर ऋषि-कानन मे
उज्ज्वलता का आस्वाद आज इस आँगन मे
अपने सपने को देख रहा हूँ मैं इस क्षण
इस वाल्मीकि-वन मे रमता-सा मेरा मन
प्रासाद-त्याग का हर्ष आज साकार यहाँ
उठती है मेरे प्राणो मे झकार यहाँ
हे तपोभूमि ! मैं राम तुम्हे करता प्रणाम
दो आशीर्वाद मुझे कि पूर्ण हो विपिन-काम !
इस योग्य बनूँ कि तुम्हारा स्नेह मिले शीतल
अर्पित कर दूँ अपने प्राणो का आत्मोत्पल
साधनाभूमि ! स्वीकार करो शत नमस्कार
खोलो महर्षि ! मेरे-हित अपना हृदय द्वार !'

आश्रम-शोभा को देख, राम-दृग आनन्दित
मन के उमडे-से शब्द स्वयम् मन मे छन्दित
रस ही रस का आभास प्रकृति-सुन्दरता मे
ईश्वरता ओतप्रोत सृष्टि-नश्वरता मे !
पगडण्डी पर प्रेरणा-चरण का शुभागमन
आराध्य रूप का ऋषि-पथ पर प्रातिभ विचरण
कल्पना-चक्षु मे प्रथम मूर्त आधार एक
आ रहा चमकता-सा अभीष्ट उद्गार एक !
—देखा सुदूर से वाल्मीकि ने सपने को
आँखो ने स्वय सम्हाला क्षण भर अपने को
स्वप्न से महा, सत्य से दृष्टि सतृप्त हुई
कामना आत्म-दर्शन मे सहसा त्प्ति हुई !
शिष्यो से सुन कर राम-नाम, वाल्मीकि मुदित
तीनो प्रकाश को देख, साधना नयन नमित
आते ही सबने किया महामुनि चरणस्पर्श
प्राणो मे व्याप्त परस्पर पावन हरित हर्ष !
अभ्यागत-सेवा मे आश्रमवासी तत्पर
वनवास-वेग से सब के मन मे प्रश्न-लहर

विस्तृत चर्चा से वाल्मीकि को तथ्य ज्ञात
सुनते-सुनते प्रिय राम-कथा, कट गई रात !
चन्द्रमा इधर से उधर हो गया अम्बर में
राम ने प्रवेश किया साहित्यिक अन्तर में
सारस्वत ऋषि ने स्पर्श किया आलोक चरण
जगमगा उठा चुपचाप सत्य-सर्ग-पत्त मन
वह कविमनीषी आदिकाव्य-कल्पना-मगन
अग्रिम प्रकाश से सृजन-शक्ति सहसा जगमग
'हे राम ! तुम्हारी आत्मकथा जीवन-दर्शन
अधमाधम मानव भी सुनकर होगा पावन
आँसू से अति कलुषित मन भी होगा पवित्र
अंकित होगा दूषित उर पर भी राम-चित्र
प्रिय चरित-ज्योति से मानस की चेतना विमल
खिल सकता है रामायण से आनन्द-कमल !
हे पुरुषोत्तम ! तुम करो विपिन-लीला समाप्त
होगी अगजग में निश्चय उज्ज्वल कीर्ति व्याप्त
आगे की यात्रा-कथा जान ही लूँगा मैं
प्राणों की विजयी व्यथा जान ही लूँगा मैं
तुम-सा आदर्श-पुरुष भू पर अवतरित नहीं
तुम-सा कोई भी व्यक्ति धर्म-आचरित नहीं
हे आभा-रत प्रभु ! भारत में आदर्श भरो
अपनी मानवता से दानवता दूर करो !
वाल्मीकि दूरदर्शी, देखना तुम्हारी गति
तुममें ही सम्भव मानव-जीवन में सन्मति
अनुकरण तुम्हारा निश्चय ही मंगलदायक
ऋषि-नमस्कार अग्रिम अर्पित हे नर-नायक !
हे महाकाव्य के चरितशिखर ! हे शशिशेखर !
पूजते तुम्हें हे हरि ! प्रतिपल आलोकित हर
हे राम ! तुम्हारा शिव-सुन्दर वनवास-रूप
कितना मंगलकारी कि, नहीं तुम बने भूप
राजा की सीमा में न रहे तुम महाआर्य,
होना है तुमसे तत्त्व-सन्तुलित महत् कार्य

इसलिए तुम्हारे साथ जनकतनया, लक्ष्मण
जाओ हे वनवासी ! सहर्ष तुम दण्डकवन
चाहो तो कुछ दिन मेरे निकट निवास करो
है चित्रकूट सामने, वहा पर वास करो
दीखती यहीं से पर्वत की ऊँची चोटी
शोभाशाली वह तपस्थली न तनिक खोटी
हे राम ! चित्त-सा चित्रकूट रमणीय अतुल
है चारों ओर वहाँ हरिताभ सुगिरि-सकुल
बहती रहती हर ऋतु मे मन्दाकिनी-धार
अपनाओ उस आनन्दभूमि को एक बार !'

ऋषि-कवि के सम्मुख रघुकुल-रवि शका-लज्जित
वनवास-रहस्य महासाधक को स्वय विदित
कवि तो त्रिकालदर्शी, कल्पना-चितेरा वह
चर-अचर भाव मे करता मुखर बसेरा वह !
बोले सविनय श्रीराम 'महर्षि ! आप ज्ञानी,
आपका प्रणम्य प्रकाश विश्व-हित वरदानी
मै तो सामान्य लोकमत का अनुगामी हूँ
लक्ष्मण का भाई, वैदेही का स्वामी हूँ
दशरथनन्दन पर कृपा आपकी बनी रहे
आशीष-अरुणिमा स्मृति-वितान-सी तनी रहे
आपकी शब्द-इच्छा के योग्य बने जीवन
सर्वदा प्रसन्न रहे मुझसे जन साधारण
अपने को अर्पित कर दूँ मानवता-पथ पर
हो नही प्रतीत कभी मुझको यात्रा दुस्तर
वनवासी भाई को न कभी भूले भाई
अक्षुण्ण रहे बन्धुत्व-प्रेम की परछाई
इस तपोभूमि मे स्नेह-सुखद आनन्द मिला
लगता कि कल्पना को जय-ज्योतित छन्द मिला
मर्यादा की सात्विक सुगन्ध उठ रही यहाँ
लगता कि वही पर राम, महावाल्मीकि जहाँ !

इच्छानुसार ही चित्रकूट में जाऊँगा
वैदेही को वह चित्त-भूमि दिखलाऊँगा
दें अशीर्वाद यही कि हृदय में वास करूँ
जीवन में जीवन-हित जीवन्त प्रकाश भरूँ
इस योग्य बनूँ कि मिले जन-मन का मुझे प्यार
आए न कभी भी मुझमें कोई अहंकार
जनगण-मन के सन्निकट सर्वदा रहे राम
मानव-कल्याण-हेतु हर दुख को सहे राम'

आँखें प्रसन्न हो गईं देखकर चित्रकूट
प्रिय प्रकृति-माधुरी को दृग-द्युति ने लिया लूट
गुम्फित पर्वतमाला पर हरितानन्द व्याप्त
कामदगिरि को फल-फूल-भरा सौन्दर्य प्राप्त!
है अमृत-सलिल से भरी-भरी प्रिय माल्यवती—
मन की थकान हरनेवाली यह पुण्य-नदी
अर्द्धाङ्गिनि! यह उर-धारा सुरसरि-सम प्रणम्य
है गिरि विवेक-प्रहरी, मन्दाकिनि हृदय-रम्य!
तट भक्ति-भाव, विश्वास-विटप हर ओर खड़े
इस तपस्थली के सभी भाग हैं हरे-भरे
विचरित इच्छा-पगडण्डी पर मन-मृग निर्भय
है चित्रकूट निर्मल निसर्ग का कुंज-निलय।
कामदगिरि से उर की आशा देखती गगन
फैले हैं चारों ओर सुगंधित प्राण-सुमन
आनन्द-ऋचा-सा गूँज रहा पक्षी-कलरव
बिखरा है इस भावना-भूमि पर वन-वैभव
झरना पर्वत के मुख से अविरल जलप्रपात
जल-धूम्र कि जैसे कुहाच्छन्न चाँदनी रात
कलकल निर्झर-तट पर किरात की वंशी-धुन
हो उठते कर्ण प्रफुल्ल मन्त्र-गीतों को सुन!
लक्ष्मण! उस नदी-तीर पर ही हम करें वास
उस उच्च भूमि पर नित्य मिलेगा रवि-प्रकाश

हैं झुकी फूल-फल से तरु-लता विनय-जैसी
उडती सुन्दर चिडिया देखो, कैसी-कैसी ।
देखो तो कितने नीलकमल हैं खिले हुए
वे दोनो लाल सरोज परस्पर मिले हुए
उस पद्मपत्र पर बैठ, विहग पीता पानी
मकरन्द-कोष पर गूँज रही मधुकर-वाणी !

इस ओर बनाते सुन्दर पर्णकुटी लक्ष्मण,
उस ओर बहुत सूना-सूना अब राजभवन
गगा-तट से अति दुखी सुमन्त चले जब से,
चिन्ता ही चिन्ता घिरी विकल मन मे तब से ।
रथ अश्व न आगे बढे, मुड़ कर फिर पीछे
आए सुमन्त फिर उसी जगह, तरु के नीचे
घोडों ने चरना छोड दिया अब हरित घास
मानो वे भी रोते सुमन्त के आस-पास ।
गुह के वापस आने पर और असह्य व्यथा,—
सुन कर वनवासी रामचन्द्र की मरणि-कथा
बोला निषादपति—'हे सुमन्त ! अब धैर्य धरो,—
मन्त्री-पद के अनुकूल राज्य के कार्य करो
दुख की दारुण स्थिति मे सदैव गभीर बनो
सकट की कठिन घडी मे अविकल वीर बनो
दायित्व सम्हालो सचिव ! बनो कर्त्तव्य-सजग
साहसपूर्वक तुम करो पार अब अपना मग
सबको शीतल सान्त्वना तुम्हें ही देनी है
सत्रास-काल में साहस-तरणी खेनी है
दो रात रुक गए तुम ! यह तो अच्छा न किया
अपने दुख के चलते बहुतो को कष्ट दिया ।
भूपति की दृष्टि तुम्हारी ओर लगी होगी
दुख के कारण सब आँखें जगी-जगी होंगी
कष्टो पर कष्ट न दो, जीतो दुस्सह दुख को
सबके नयनों मे भरो प्रबल आशा-सुख को

समझाओ माता को कि राम फिर आएँगे,—
दुख के दुस्सह दिन निश्चय ही टल जाएँगे
ढाढ़स दो परिजन, पुरजन, जन-मन को सुमन्त
आएगा ही कोमल में फिर सुखमय वसन्त !
हे राम-भक्त ! चतुराई से तुम करो काम
जनमानस के सिंहासन से क्या दूर राम ?
श्रीरामचन्द्र तो सबके उर के अधिवासी
उनकी सुधि की आनन्द-ज्योति है अविनाशी !
अब चलो, स्वयं चलता हूँ मैं भी संग-संग
बाँधो अपने रथ में अब जल्दी ही तुरंग
राम के कार्य में किंचित् कभी विलम्ब न हो,—
दुख-विजय प्राप्त कर मन में कोई दम्भ न हो !
दुख-सुख में जो कर्तव्य-सजग, वह राम-भक्त
छोड़े न कभी मर्यादा-मग, वह राम-भक्त
जो रखे सदा सत-पथ पर पग, वह राम-भक्त
जो करे जगत-कल्याण सुभग, वह राम-भक्त !
ज्ञानी सुमन्त ! अब सत्वर अवध-प्रयाण करो,—
गंभीर-धीर भगवान राम का ध्यान करो
होंगे अधीर दशरथ के नयन प्रतीक्षा में
घबराओ मत हे मन्त्रि ! विपत्ति-परीक्षा में !
उपदेश नहीं यह, मेरे मन की बात एक
देता विपत्ति में सदा साथ केवल विवेक
अति भावुकता से ढीला हो जाता शासन
अतिशय कठोरता से भी असफल संचालन
इस समय अयोध्या में छाया है शोक-तिमिर
सूना होगा शोकाकुल जन-मन का मन्दिर
इसलिए शीघ्र—अति शीघ्र अभी प्रस्थान करो
ध्यानी सुमन्त ! दुख-सागर का अनुमान करो
शासन-जलयान नहीं डूबे, यह ध्यान रहे
चेतना-शक्ति से भिन्न न कोई प्राण रहे
दुख के कारण दुख से तुम दूर नहीं भागो
जागो सुमन्त ! निज कर्म-धर्म-हित तुम जागो !

जागो कि शोक-सागर में ज्वार नहीं आए
जागो कि विरह में विपद-घटा न कहीं छाए
जागो कि जागना धर्म तुम्हारा है सुमन्त,
जागो कि जागरण स्वयं तुम्हारा है सुमन्त!
है प्रकृति वसन्त-भरी पर, मन-वन में पतझर
राम के बिना सूनी होगी अब नगर-डगर
उस कालचक्र के आगे किसका चलता वश?
विश्व में न केवल सुख का रस, दुख का भी रस!

दुख-अन्धकार में दीप-ज्योति-सा स्वजन-वचन
मोहन भरती पीड़ित प्राणों में धैर्य-किरण
जागा सुमन्त का विरह-वेदना-अलसित मन,—
ज्यों जल-फुहार से खुलते मूर्च्छित मीन-नयन
बहती गंगा को देख, स्मरण उस सरयू का
आ गया ध्यान निष्प्राण अयोध्या के भू का
रोते सुमन्त गुह की छाती से लिपट गए
दो क्षण दोनों के प्राण, प्राण से चिपक गए!
हिनहिना उठे घोड़े सहसा पानी पीकर
कुछ ही क्षण में रथ के चक्के घर्घर-घर्घर
चलते-चलते तमसा के तट पर गुह-बिछोह
फिर आँखें सजल-सजल, फिर मन में आह-ओह!
इस ओर सुमन्त और उस ओर निषादराज
दो राम-भक्त के उर में विरह-विषाद आज
अब दोनों ओर राम का ही रमणीय स्मरण
चलते-चलते चिन्तन, चलते-चलते रोदन!
आते-आते रथ रुका अयोध्या-सीमा पर
हो गए सामने खड़े अनेकों नारी-नर
'पी कहाँ,—पी कहाँ' के समान ही 'राम कहाँ?—
नयनों के प्यारे श्यामल ललित ललाम कहाँ?
हे हे सुमन्त! हैं राम कहाँ? हैं राम कहाँ?
कोसलकुमार—दशरथनन्दन अभिराम कहाँ?

हैं राम कहाँ ? हैं राम कहाँ ? हैं राम कहाँ ?
हैं चले गए किस ओर हृदय के धाम कहाँ ?'

रथ इधर रुका, रथ उधर रुका, रथ रुका-रुका
निर्वाक् मौन मंत्री का मस्तक झुका, झुका
इस ओर भीड़, उस ओर भीड़, हर ओर भीड़
दृग-नीर इधर, दृग-नीर उधर, हर ओर नीर !
कछमछ-कछमछ आकुल-व्याकुल-आकुल शरीर
भीड़ ही भीड़, नीर ही नीर, बस नीर भीड़
फिर फफक-फफक कर रोने लगे सुमन्त अभी
मूर्च्छित हो जाता व्यथा-विकल मन कभी-कभी !
पथ-पथ पर शब्द प्रवाह राम लौटे न हाय,—
चौदह वर्षों तक क्या उपाय—अब क्या उपाय ?—
जानकी और लक्ष्मण भी चले गए वन में
आशाएँ अस्त, निराशा उदित नमित मन में !
बिजली-सा फैल गया दुखमय यह समाचार
दिन में ही चारों ओर व्यथा का अंधकार
है अंधकार पर अंधकार ही अंधकार
अब अन्त पुर को असह-असह सुधि-शोक-भार !
सम्राट् सन्न, सम्राट् सन्न, सम्राट् सन्न
निर्वाक सुमन्त-कथन सुन कर तन-मन विपन्न
दुख-कम्पित हृदय में त्राहि-त्राहि, अन्तिम कराह
दशरथ का अन्तिम प्राण-व्यथा-सागर अथाह !
नि शब्द सुमन्त खड़े, रानियाँ विकल, चिन्तित
कोसलपति के प्राणों की दीपशिखा कम्पित
झोंके पर झोंके उठा रही अब मृत्यु-वायु
उड़ने को व्यथित विहग-सी आकुल जीर्ण आयु !
सम्हला न सम्हाले पुत्र-विरह-पीड़ित शरीर
अब रोम-रोम में व्याप्त विछोह-विपन्न पीर
कौसल्या और सुमित्रा का सकरुण ढाढस
सान्त्वना-मरणि पर साहस का अब दुस्साहस !

सन्ध्या का सूरज उधर अस्त सरयू-जल पर,
इस राजभवन में इधर शोक-संतप्त प्रहर
'हे राम राम ! हे राम, राम ! हे राम, राम !'—
कहते-कहते ही त्यागा नृप ने धराधाम !
हे राम !—यही अन्तिम पुकार—अन्तिम पुकार
कहते-कहते झनझना उठे निर्वाण-तार
हे राम !—यही आलोक-मन्त्र दशरथ-मुख में,—
बस, एक वही दृग के सम्मुख अन्तिम दुख में !
अन्तिम आंसू में राम-रूप वह लघु-विराट्
देख कर उसे, फीका-फीका संसार-राट
अवतरण-काल में कौसल्या को जो अनुभव,
चलने की वेला दशरथ-दृग में वही प्रणव !
चौंके सुमन्त, चौंकी रानी, चौंके परिजन
चिल्लाने लगा तुरन्त शोकमय राजभवन
रघुकुल का एक और सूरज हो गया अस्त
शोकित गृह-गृह, शोकित जन-मन, जन-पथ समस्त !
जो जहाँ, वहाँ वह स्तब्ध कि ऐसा व्यथाघात
निष्प्राण अयोध्या की यह कितनी करुण रात
दारुण घटना से पवन शान्त, आकाश शान्त
इतना दुखदाई कभी न इस भू पर दिनान्त !
स्वर्गीय पिता का पुत्र न कोई यहाँ आज !
—चिन्तित समाज, पीडित समाज, शोकित समाज
निर्वासित हैं दो पुत्र, प्रवासी दो सुदूर
है भाग्य-विधाता कितना आज कठोर-क्रूर !
अब क्या होगा—अब क्या होगा ?—यह प्रश्न जटिल
इस अन्धकार में जिज्ञासित मन-बुद्धि निखिल
मृत पति की छाती पर कौसल्या मूर्च्छित-सी—
एक ही चिता पर जल जाने को इच्छित-सी !
अन्तःपुर में शिशु-सा विलाप, रोदन-गाथा
शोकित शब्दों में व्यथा-ध्वनित व्याकुल माथा
इस ओर रुदन, उस ओर रुदन, हर ओर रुदन
इतने रोते हैं पहली बार आज पुरजन !

केवल वसिष्ठ थे अनासक्त, निःशोक नयन
स्मृति-शास्त्रों से सान्त्वना-हेतु उपदेश-चयन
है श्वेत केश से घिरे हुए मुख पर प्रकाश
धीरे-धीरे ही शोक-लहर का गति विनाश।
कुलगुरु-सुमन्त-वार्ता कि कौन अब प्रमुख काम।
ऋषि ने शव-रक्षा-हेतु तेल का लिया नाम
मँगवाया लम्बा काष्ठ-पात्र प्रिय शव के हित
यह बात बिलखती विधवाओं को नहीं विदित।
केवल कैकेयी दो क्षण-हेतु वहाँ आई
वह शव-समक्ष निश्चय ही क्षण भर अकुलाई
मन को मरोड कर चली गई फिर कैकेयी
दुख में भी मुख से छली गई फिर कैकेयी।
नृप चले गए इच्छा-पथ में बाधा देकर
रुक गई भँवर में उत्कंठा, नौका लेकर
करना है—अब क्या करना है—क्या करना है?
दे गए वचन जब भूपति तो क्या डरना है?
कट गई रात जैसे-तैसे अखिल रोती
रह गई रात भर कौसल्या आँसू ढोती
प्रिय पुत्र नहीं, सुत-वधू नहीं, पति नहीं हाय!
हे ईश्वर! इस अबला-हित भी कोई उपाय?

मंत्री सुमन्त ने किया सभा का आयोजन
ऋषि, सचिव, कर्मचारी, अधिकारी-सम्मेलन
प्रात ही सभा-सदन में सभी उपस्थित हैं
अपने-अपने आसन पर ही सब शोकित हैं।
इस करुण-करुण सन्नाटे में नत नयन सभी
केवल सुमन्त गुरु की आज्ञा से उठे अभी
अवरुद्ध कंठ से प्रकट किया घटना-विवरण
करुणा ही करुणा व्याप्त हो रही है इस क्षण।
फिर साहस से बोले सुमन्त 'यह कठिन घडी,
अत्यन्त शोक-संतप्त अवध में अश्रु-झडी

सुनसान अयोध्या, सूने-सूने-सूने पथ
अवगत न किसी को दुस्सह दुख का अब इति-अथ
पर्वत-सी बोझिल महाशोक की सघन रात
अति दुखदायक रघुकुल का सूर्यविहीन प्रात
सम्राट् स्वर्ग मे, राम और लक्ष्मण वन मे
हैं नही भरत-शत्रुघ्न यहां इन दुख-क्षण मे !
सन्त्रास—महा सन्त्रास—घोर सन्त्रास-काल
दुस्सह दुख मे है झुका राज्य का ध्वजा-भाल
स्थिति विकट-विकट—दयनीय, शोक-आक्रान्त आज
शोकान्धकार मे देश, धर्म, शासन, समाज !
यह दशा अराजकता-आशका की निश्चय
निर्भयता मिटी-मिटी-सी, दिशि-दिशि भय ही भय !
घनघोर निराशा मे आशा की झलक कहां ?
छा गया व्यथा का अन्धकार अब यहां-वहां !
शासक-विहीन शासन मे न्याय कहां सभव ?
साक्षी समस्त इतिहास और श्रुतिगत् अनुभव
दुर्बल शासन मे राज्य-व्यवस्था छिन्नभिन्न
विश्वासहीनता ही शासन का पतन-चिह्न !
दुर्बल शासन मे उचित सुरक्षा-शक्ति नहीं—
जन-मन मे पदाधिकारी के प्रति भक्ति नही
उच्छृखलता, खलता की चारो ओर वृद्धि
सभाव्य कुशासन मे न कभी शुभ कार्य-सिद्धि !
मानता पितृआदेश न पुत्र कुशासन मे—
सभाव्य शिथिलताएँ वैवाहिक बन्धन मे
परिवार टूटने लगता कलह-कुटिलता से
बन जाता है गृह नरक विभेद-जटिलता से !
उत्पात, उपद्रव, द्रोह, कुशासन के कारण
हिंसा से स्नेह-बिछोह, कुशासन के कारण
होते ही रहते लूटपाट, रगडे-झगडे
मारे जाते हैं लोग अस्त्र से बडे-बडे !
ढीले शासन मे गाँव जलाए जाते हैं—
नगरो मे हिंसक व्यक्ति आग फैलाते हैं

नित चोर-डाकुओं की संख्या बढती जाती
मनमानी इच्छाएँ ऊपर चढती जाती
होने लगता है नारि-अपहरण जहाँ-तहाँ
होने लगता है शील-हरण भी यहाँ-वहाँ
शंका ही शंका बनी हुई रहती प्रति क्षण
अपने पर भी विश्वास नहीं करता है मन !
होने लगती है नष्ट सभ्यता-संस्कृति भी
हो जाती है मदिरान्ध वीर की दुष्कृति भी
पौरुष चरित्र का ह्रास कुशासन म होता
तम के सिंहासन पर केवल अधर्म सोता
कोई न किसी पर करता है विश्वास कभी
करते हैं एक दूसरे का उपहास सभी
व्यापक ईर्ष्या के कारण भीषण अनबन नित
कृत्रिम मिलाप से कोमल मन भी तो शंकित !
बन्धुत्व नष्ट, मैत्री विनष्ट, सम्बन्ध नष्ट
ढीलेढाले शासन मे नित्य नवीन कष्ट
अपनी ही छाया से भय होने लगता है
कलुषित समाज मंगलता खोने लगता है
घट जाती जब विद्या-महिमा, बढ जाते बक
रह जाते हंस उपेक्षित, कौए जब चकमक
कहलाते पंडित मूर्ख और मूरख पंडित
होते हैं साधु पुरुष दुःशासन मे दण्डित !
सत्ता के दाएँ-बाएँ कुटिलो की जमघट
करते रहते है कपटी जहाँ-तहाँ लटपट
लम्पट लोगों की होती पूछ कुशासन मे
लप्पोचप्पो की बात दमकती चिन्तन मे !
ठगते हैं चाटुकार निज मीठी बोली से
मोहते हृदय को झूठे मित्र ठिठोली से
इस ओर पतन, उस ओर पतन, हर ओर पतन
दुख ही दुख देता रहता है दुर्बल शासन !
बहने लगती उल्टी गंगा जीवन-गति की
होती पवित्रता नष्ट-भ्रष्ट मानव-मति की

सद्गुण में अवगुण करने लगता है दुराव
पथ-पथ में कृत्त करते रहते झाँद-झाव !
गूँजती सियारों की लम्बी-लम्बी बोली
चालाकी से भरते हैं धूर्त सदा झोली
जो खाते जिस पत्तल पर, करते वहीं छेद
बातों ही बातों में हो जाता है विभेद !
बुनते हैं धूर्त लोग ही प्रतिदिन कपट-जाल
छलना है सबको छल-प्रपंच का छिपा व्याल
छिल जाता कोमल हृदय कठोर निरादर से
आते उदास हो जाती कृत्रिम आदर से !
मुख में कुछ हो, मन में कुछ हो तो बहुत कष्ट
होता असत्य के कारण ही तो शील नष्ट
फैलती कुशासन की जब काली परछाई,
भाई का गला काटने लगता है भाई
दुख पाती साध्वी नारी, भुख करती चपला
बन जाती है भिक्षुणी कष्टभोगी अबला
भूले तन-मन से भूल-चूक होती ही है
अकुलाई आँखें बहुत अधिक रोती ही हैं !
परिणाम भयकर होता सदा कुशासन का
आस्वाद बदल जाता है दूषित जीवन का
कामुकता से होती न वृद्धि अच्छाई की
होती विलासिता से अभिवृद्धि बुराई की !
पर-निन्दा के कारण कटुता की वृद्धि सदा
कटुता के कारण ही सदैव रगडा-झगडा
छीना-झपटी की घटना से बढती अशान्ति
भय के कारण उत्पन्न विश्व में सदा भ्रान्ति
गिर जाता शिक्षा-स्तर, जब-जब दुर्बल शासन
घट जाती नैतिकता, अशक्त जब अनुशासन
फैलती निरंकुशता की जब स्वच्छन्द लहर,
वासना-भ्रान्त होने लगती सभ्यता-डगर !
अत्याचारों से काँप-काँप उठती धरती
वृष्टिहीन धरा बन जाती है सूखी परती

पड़ता जब घोर अकाल, तड़प उठते किसान
कर सकते हैं क्या नहीं विश्व में क्षुधित प्राण !
जब कौन छीन ले अन्न, वसन, धन, अलंकार,—
उठते रहते चंचल मन में शंकित विचार
उत्पात-काल में उत्सव-पूजन-पर्व शिथिल
चिन्तन-धारा भी हो जाती प्रमाद-पंकिल !
नित बाधित यातायात ठप्प व्यापार-कार्य
उन्मुक्त विचरने लगते हैं डाकू अनार्य
ऋषियों को भी नित कष्ट, चिन्तकों को भी दुख
तप-व्रत-आनन्द न प्राप्त, न आत्मिक कोई सुख !
आग्नेय अराजकता से और विकृत शासन
आपस में लड़-भिड़ कर कटते रहते जनगण
मच जाता हाहाकार, क्षीण होता विवेक
उठती रहती नित जटिल समस्याएँ अनेक
संकुचित बुद्धि में भर जाते संकीर्ण भाव
कटु बातों से ही बढ़ जाता हिंसक दुराव
होती रहती हत्याएँ, बढ़ती मार-काट
निर्ममता से लूटे जाते बाजार-हाट !
कोई भी सोता नहीं रात में द्वार खोल,
चाहता नहीं सुनना कोई निर्भीक बोल
बढ़ जाती है भीरुता, वीरता घट जाती
वनिताएँ अत्याचारों से नित अकुलाती
युवतियाँ मार्ग पर चलने में घबराती हैं
परिणीताएँ भी भय-शंकित हो जाती हैं
पनघट पर पानी भरने में भी होता भय
दानवी शक्तियाँ करने लगती अशुभ विजय
हो जाते बन्द उपद्रव से विद्यालय भी
उत्पातों के कारण बाधित कार्यालय भी
करते हैं वणिक् खाद्य-सामग्री को अशुद्ध
होते जन-मानस इसके कारण बहुत क्रुद्ध
घट जाता प्रेम, वासना बढ़ती जाती है
आनन्द-सुधा का स्थान सुरा अपनाती है

निर्मलता होती नष्ट, चपलता बढ जाती
विषगंधी फूलों पर तितली पर फैलाती
रखता है युवक गुप्त अस्त्रों को सदा साथ
संतुलित न रह पाते लोलुपता-विकल हाथ
रक्षक हो जाते भक्षक दूषित शासन में
छा जाती लोभ-कालिमा आरक्षी-मन मे !
संख्याएँ बढ जाती हैं क्रूर लुटेरों की
होने लगती है वृद्धि शस्त्र के ढेरों की
डाँटते हंस को कौए, कोयल अकुलाती,—
जब बहुत अराजकता शासन में भर जाती !
अवगुण की होती पूछ, गुणों की निन्दाएँ
सत्कार्यों मे आती रहती हैं बाधाएँ
संस्कृति को राजनीति बनवा लेती दासी
दूषित शासक होते अनीति के विश्वासी !
दुर्बल शासन पर शत्रु-दृष्टि पड जाती है,
देश मे विदेशी शक्ति-ध्वजा गड जाती है
होता विभेद से ही स्वतन्त्रता-हरण हाय,
दासत्व-दीर्घता-हित रिपु नित करता उपाय !
परतन्त्र-काल में रुक जाती चिन्तन-धारा
भयभीत भावना पर घिर जाता अँधियारा
होता स्वदेश-भाषा पर पर-भाषा-प्रहार
कर देता है अवरुद्ध शत्रु साहित्य-द्वार !
तन-मन-धन-चिन्तन पर जब पर-शासन-प्रभुत्व,—
हो जाता शक्ति-विहीन स्वदेशी स्वर-गुरुत्व
बन जाती है परतंत्र प्रजा चूहे-बिल्ली—
राष्ट्रीय चेतना की उड़ने लगती खिल्ली !
फैलता अराजकता से व्यापक तम ही तम
होती है ऐसी हानि कि घुटने लगता दम
हो जाता सत्यानाश, स्वत्व झुक जाता है
परतंत्र देश रोगी-सा ही अकुलाता है !
चिड़ियों-सी चहक नहो पाती चेतना मलिन
सूझता न शौर्य-दिवाकर, केवल दर्शित दिन

धीरे-धीरे हो जाती नष्ट स्वदेश-कान्ति
शासन जब-जब गतिहीन, तभी व्यापक अशान्ति !
हे आदरणीय उपस्थित गुरुवर ! हे सज्जन !
हे कोसल के शोकित समस्त अधिकारीगण !
कुछ चित्र अराजकता के प्रस्तुत किए आज
कहते-कहते मन-ही-मन थोडी लगी लाज
पर, विपद-काल मे स्पष्ट बात कहनी पडती
मत्री को अनुभव-व्यथा सदा सहनी पडती
इस समय अयोध्या मे छाया शोकान्धकार
सम्राट् स्वर्गवासी, दुस्सह पीडा-प्रसार
सिंहासन खाली है ! जल्दी कुछ करना है
अधिकारी सिर पर राजमुकुट को धरना है
हे गुरु वसिष्ठ ! रामानुज का आह्वान करें—
सिंहासन खाली है, इच्छित सम्मान करें
इस क्षण ही आज्ञा दें कि दूर अब जाय दूत
राम के बाद तो श्रेष्ठ भरत दशरथ-सपूत
धर्मानुसार अभिषेक उन्ही का करना है,—
उनके मस्तक पर ही किरीट को धरना है !
चौदह वर्षों तक वे ही शासन-अधिकारी
वे सब विधि योग्य, सुशील, विनम्र, सदाचारी
हैं भरत राम-प्रतिरूप, अमित गुणनिधि वे भी
जानते शास्त्र-सम्मत शासन-सविधि वे भी
उनमें न कभी आलस्य, नही उनमे प्रमाद
वे बुद्धि-कुशल, रहती है उनको बात याद
वे हर प्रकार मे सक्षम, क्षमाशील, ज्ञानी
वे कभी भूल से भी न करेंगे मनमानी
हैं भरत सदा से न्याय-निपुण, सुविवेक-सबल
आसक्तिहीन उनका आलोकित देह-कमल
उनका शिवमय जीवन जनगण-हित सार्थक है
प्रत्येक दृष्टि से वे ही मगलवर्द्धक हैं !
निर्णय हो सत्वर सादर उन्हे बुलाने का
कारण न बताया जाय यहाँ पर आने का

करना है उन्हें पिता का अन्तिम क्रिया-कर्म
उनके ऊपर इस समय विविध दायित्व-धर्म !'

अवगत सुमन्त के दृष्टिकोण से सभी लोग
कर्त्तव्य-चेतना में ओझल दुस्सह वियोग
कुछ क्षण तक कानोंकान राम-वनवास-कथा
पर, तुरत अराजकता-शंका से शमित व्यथा !
मंत्री-वक्तव्य-प्रभाव पड़ा सबके मन पर
कटु-करुण सत्य-वचनों को सुनकर स्थिर अन्तर
कुछ ने कुछ कहना चाहा पर, मुख-शब्द मौन
संभाव्य कुशासन-चित्रण से दुख-शब्द मौन !
मन में कैकेयी-दोष, हृदय में भरत-स्नेह
सद्‌गुण की सुधि-छाया में दो क्षण तन विदेह
निर्दोष भरत, दोषी केवल उनकी माता
जिज्ञासु दृष्टि में पंक और पंकज-नाता !
बोले वसिष्ठ : 'मंत्री-अभिमत से सब सहमत
होना न हमें है अति दुख में कर्त्तव्य-विरत
शासन-हित तो उत्तम प्रबन्ध करना ही है
नृप-रिक्त स्थान को सविधि शीघ्र भरना ही है !
शासन से दृढ़ सामाजिक अनुशासन संभव
इसके अभाव में विविध उपद्रव नित नव-नव
कोसल-सिंहासन करता भरत-प्रतीक्षा है
इस कठिन घड़ी में सबकी कठिन परीक्षा है
हे दशरथ के विश्वासपात्र अधिकारीगण !
अतिशय सचेत रहने का है यह दारुण क्षण
दुर्बल क्षण में ही शत्रु-आक्रमण होता है
शोकान्धकार में सजग देश कब सोता है ?
सौभाग्य कि कोसल-राज्य पूर्णतः अनुशासित
फिर भी रिपु की शनि-दृष्टि किसी क्षण संभावित
शासक के बिना बहुत सूना लगता शासन
जैसे गृहपति से रहित शून्य श्रीहीन सदन !

कोसल में राजतन्त्र, पर मानित प्रजातन्त्र
गूँजता चतुर्दिक रामचन्द्र का हृदय-मन्त्र :
दुख नहीं किसी को हो, अति सुख भी हो न कहीं !
समता-ममता से वंचित हो मनुजत्व नहीं !
सघटित विविध परिषद् कि कार्य न्यायोचित हो
समदर्शी शासन सदा प्रेम-आधारित हो
इस समय सर्वसम्मति से ही कुछ करना है
शोकान्धकार से नहीं किसी को डरना है !
भेजिए सुमन्त ! दूत को अब सत्वर केकय
मिल गई भरत के लिए सर्व सहमति सहृदय
हम मिलें पुनः दोनों भाई के आने पर
अथवा विधिपूर्वक श्राद्ध-कर्म हो जाने पर !'

वन-नदी, नदी-वन-गिरि-मरु को कर पार-पार,
सर-सर-सर निकले सर-सर-सर दो घुड़सवार
शक्तिम समीर-सा धन्वा से ज्यों छुटे तीर—
त्यों सरर-सरर, सर-सरर-सरर दो दूत वीर !
दिन में न कहीं विश्राम, रात्रि में अर्द्ध शयन
आज्ञानुसार ही सदा लक्ष्य की ओर नयन
भागते हुए घोड़े से भी है आगे मन
झंझा-सवेग-समान अयोध्या-अश्वचरण !
आते-आते दोनों सुदूत आ गए यहाँ,—
मिलने की सत्वर अनुमति भी पा गए यहाँ
भाई का पहला प्रश्न कि कैसे हैं भाई !
नयनों में प्रेम-सुधा तत्काल छलक आई !
कुछ क्षण तक कोमल भरत, राम-सुधि में तन्मय
अधरों पर स्मृति-मुस्कान, हृदय में उनकी जय
फिर कुशल-क्षेम की बात और फिर बात वहीं :
'चलिए कुमार जल्दी, कुलगुरु-आदेश यही !'
दूतों ने वही कहा कि उन्हें जो कहना था
शब्दों की सीमा में ही उनको रहना था :

'सब वहाँ कुशल ! चलिए कुमार—चलिए कुमार !'
—अनुरोध किया दूतों ने उनसे बार-बार
नाना-मामा से मिले भरत-शत्रुघ्न तुरत
देखते-देखते सिंहद्वार पर तत्पर रथ
चल पड़े तुरन्त-तुरन्त मुदित दोनो भाई
नयनो मे माता-पिता-बन्धु की परछाईं
बस, वहीं-वहो ही रुके, अश्व थक गए जहाँ
यात्रा मे कही ठीक से निशि भर टिके कहाँ ?
पथ-पथ पर रथ झझानिल-सा दौड़ता रहा
दिन भर चलने से अधिकाधिक प्रस्वेद बहा !
आठवे दिवस शत्रुघ्न-भरत निज नगरी मे
है अधिक उदासी क्यो रे मन, प्रिय डगरी मे ?
इस पथ मे भी, उस पथ मे भी क्यो करुण शान्ति ?
सन्नाटे मे हो रही आज क्यो नयन-भ्रान्ति ?
हर्षित कोलाहल नही कही ! बाजार शून्य !
जन-पथ के दोनो ओर सभी गृह-द्वार शून्य !
आनन्दहीन उद्यान ! वाद्य-ध्वनि नही कही !
गतिहीन पवन मे कोई गंध-सुगन्ध नही !
नर-नारी इतनी कान्तिहीन क्यो दीख रही ?
पूछूँ किससे मैं इस क्षण, क्या है बात सही ?
सब करते मौन प्रणाम, मूक अभिवादन क्यो ?
झुक जाती है नीचे ही सबकी गर्दन क्यो ?
हे राम ! अशुभ तो नही हुआ कोई घर मे ?
शब्द ही नही है आज किसी के भी स्वर मे !
सकेतों से ही सत दे रहे शुभाशीष
वे वृद्धाएँ : ज्यों माँग रही हो मौन भीख !
टकटकी लगा कर देख रहे हैं बालकगण
उस कन्या का कितना कुम्हलाया लगता मन
उस तरुणी ने अपनी आँखें नीचे कर ली
उस ग्रामवधू ने नयनो मे करुणा भर ली !
वह वृद्धा रोने लगा फफक कर क्यो पथ पर ?
क्यों देख रहा वह मौन युवक नीचे-ऊपर ?

किस कारण इतनी दुखद शान्ति—किस कारण यह ?
क्यों ऐसा सन्नाटा कि हृदय-हित यह दुस्सह ?
श्रीहीन अयोध्या की शोभा दीखती आज
करते मानव उत्साहहीन ही काम-काज
यह नगर भयावह-सा लगता क्यों मुझे बन्धु,
मुझसा-ही अनुभव होता है क्या तुझे बन्धु ?
कोयला की कू न कहीं, केवल डक रहे काग
चिन्ता-पथ में उठती विषाद की विकल आग
दिन के इस सूनेपन में कुत्ते रोते हैं
लोचन अनेक अपशकुन आज क्यों होते हैं ?
भूखे-भूखे से जन-तन, सूखे-सूखे मुख
देखी जितनी भी आँखें, उनमें केवल दुख
जिस ओर दृष्टि उस ओर उदासी के झोंके
मेरे मन पर करुणा के मात्र तडित चौंके।
उस सन्नाटे के शूलों को सह रहे प्राण
सुनसान वेदना-धारा पर वह रहे प्राण
चुपचाप बिना बोले ही कुछ कह रहे प्राण
सह रहे प्राण—सब कुछ इस क्षण सह रहे प्राण।
अनजान हृदय को पता नहीं क्या हुआ यहाँ
हे भरत! आपको जाना है उस ओर कहाँ ?
आरती सजा कर कैकेयी है उधर खड़ी—
मन की प्रसन्न विहगी मन में ही डरी-डरी!
आते-आते आ गए भरत-शत्रुघ्न निकट
लख विकट समस्या, कैकेयी अब दौड़ी झट
माता ने अपने पुत्रों को पहचान लिया—
अपने समान ही इन्हें-उन्हें भी जान लिया।
चरणों को छूकर पुत्र मुदित, आलिंगित भी
कैकेयीनन्दन ने प्रिय मस्तक चुम्बित भी
भोले-भाले बेटे विमूढ़, आनन्दित भी
कैकेयी अति हर्षित भी, अतिशय शंकित भी।
'माँ! पिता कहाँ ? माँ! राम किधर ?' यह प्रश्न प्रथम
जल्दी-जल्दी ही भक्तिपूर्ण जिज्ञासा-क्रम

उत्तर-विमर्द से व्याप्त-व्याप्त नव अंग पर अंग
उत्सुकता इधर लगन, आशंका उधर सघन !
झट बात काट कर जिज्ञासित यात्रा-विवरण
नैहर का कुशल-क्षेम सुन कर आनन्दित मन
दोनों पुत्रों के बीच मुदित माता अतिशय
वह बोल उठी "हे तात ! तुम्हें मिल गई विजय !
हे भरत ! तुम्हीं हो गए अयोध्या-अधिकारी
अब हुए तुम्हारे ही अधीन सब नर-नारी
सम्पूर्ण अवध-साम्राज्य सुपुत्र ! तुम्हारा है
जय-लक्ष्मी मिली तुम्हें मेरे ही द्वारा है !
सर्वोच्च कामना पूर्ण हुई मेरे मन की
अन्तिम इच्छा साकार हो गई जीवन की
सुत-गौरव से माता की साध हुई पूरी
मिल गई तुम्हें—मिट गई तुम्हें शासन-दूरी ।
इतिहास तुम्हारा अब जयकार मनाएगा
तुमसे मुँहमाँगा धन अब याचक पाएगा
अब महासिन्धु-पर्वत भी काँपेंगे भय से
चुपचाप रहेंगे शत्रु तुम्हारी इस जय से !
ऊँचा ही सदा रहेगा मेरा स्वाभिमान
है दिया काल ने तुम्हें मुकुट-गौरव प्रदान
आँधी के हाथों से छीना यह कीर्ति-दीप
तूफानों से लड़ने पर ही अब तुम महीप
पाने वाले को कुछ तो खोना पड़ता है
हँसने वाले को भी तो रोना पड़ता है
इस जीवन में दुख भी तो ढोना पड़ता है
समयानुसार मति-गति को होना पड़ता है !
तिनका से भी कुछ काम निकल ही जाता है
अपना वह, जो अवसर पर हाथ बँटाता है
माँ के समान हे भरत ! मन्थरा को मानो
इस राजभवन में उसको अपना ही जानो
उसने ही दी प्रिय बुद्धि चतुर हितकरी—एक
रख दी उसने मन पर मन की फुलझड़ी एक

मन्थरा-नाटिका को निशि भर खेलना पड़ा
मत पूछो पुत्र कि कितना दुख झेलना पड़ा !
समझो कि सफलता मिली मन्थरा के कारण
उसके शब्दों का हुआ मुझी से उच्चारण
मेरे अच्छे सम्राट् सत्य को मान गए
कैकेयी की इच्छा को वे पहचान गए !
हे पुत्र ! नहीं तुम साधारण कोमलकुमार
एक ही बात को दुहराती हूँ बार-बार
दूसरी, तीसरी बात कहूँ जिस मुख से मैं
सुख से हूँ अति हर्षित, पीड़ित अति दुख से मैं
कामना-सिद्धि के लिए कष्ट भी होना है
श्रेष्ठता प्राप्त कर भी तो मानस रोना है
जो आया है, वह जाएगा यह प्रकृति नियम
आता-जाता प्रकाश, आता-जाता है तम !
जग में आने-जाने का क्रम टूटना नहीं
विधि-निश्चित वय के पूर्व प्राण छूटना नहीं
इस समय अयोध्या में छाया शोकान्धकार
तुम तम के सागर को धीरज से करो पार
सिंहासन खाली है ! भूपति अब नहीं यहाँ !
जाना है एक रोज मुझको भी कभी वहाँ
दो वचनों को पूरा करके वे चले गए—
मेरे प्राणों में सुख भरके वे चले गए !
उनके जाने का दुख मुझमें कम नहीं तात,
जागती रही मैं महाशोक में सात रात
तुम आए तो मन को थोड़ा सन्तोष हुआ,—
मेरी विमूक वाणी में जय-सघोष हुआ !
परितोष कि मेरे दोनों पुत्र नयन-सम्मुख
वैधव्य-दुःख मातृत्व-गर्व से नहीं विमुख
रोओ मत मेरे लाल ! अधिक, इतना-इतना
भावी भूपति ! रोओगे अब कितना-कितना ?"

सुन पितृ-निधन की बात, भरत मूर्च्छित तत्क्षण
आँसू ही आँसू से लथपथ प्रिय पुत्र-नयन
अत्यन्त करुण—अत्यन्त करुण आकुल विलाप
लुण्ठित दुख-दंशित मन ज्यों तन में विष-मिलाप !
'आते ही यह क्या सुना ! कहाँ मेरे भैया ?
हैं मेरे प्राणाधार कहाँ ? मेरी मैया !'
—इतना ही कह कर भरत पुनः अति शोकाकुल
अति व्यथित प्रकम्पित मानस अनगिन स्मृति-संकुल !
'माँ ! राम कहाँ ? करना है मुझे अभी दर्शन
वे ही कर सकते अभी शोक का अश्रु-हरण
उनकी मुख-छवि को ही निहार, दुख होगा कम
माँ ! तेरे वचनों को सुन कर मन में विभ्रम !
क्या बोल गई तू, ठीक समझ पाया न भरत
तेरी छाया के निकट अभी आया न भरत
छाया की भाषा में तू क्या-क्या बोल गई ?
अपनी इच्छा की कौन गाँठ तू खोल गई ?'
—इतना कह कर फिर भरत शोक-संतप्त तुरत
उर में—आँखों में पितृ-स्नेह के चित्र विगत
शत्रुघ्न अश्रु में डूबे-डूबे-से अधीर
दोनों भाई के तन-मन में अति अधिक पीर !
'सम्पन्न हुआ किस दिन माँ ! पितु का दाह-कर्म ?
मैं नहीं निभा पाया अन्तिम-संस्कार-धर्म !
किस समय राम ने आँसू अर्पित किया उन्हें ?—
कब मलय-चिता पर अग्नि समर्पित किया उन्हें ?
माँ ! कहाँ शोक-संतप्त राम ?'—बोले कुमार
चिन्ता में डूबी कैकेयी अब बार-बार
कहना ही पड़ा सभी कुछ सीधी भाषा में
चमकी प्रलोभ-चपला चंचल अभिलाषा में !
सुन राम-दण्ड की कथा, भरत निष्प्राण-सदृश
कुछ क्षण तक वे निःशब्द प्रशोकित ध्यान-सदृश
गंभीर पीर से तन पल भर पाषाण बना
दुर्वचन भरत के लिए वेदना-बाण बना !

'हे राम ! विश्व में ऐसा भी क्या होता है ?'
—भीतर ही भीतर मन घुट-घुट कर रोता है !
शिशु-सा चित्कार लगे भरत अब रो-रो कर
दुख-दशा असह जैसे पन्नग निज मणि खोकर !
सहमा शत्रुघ्न रुदन-क्षोभित, जननी चिन्तित
भ्राता-विछोह से भरत-हृदय क्रन्दित-विचलित
हे राम ! विश्व में ऐसा भी क्या होता है ?
—मन-ही मन शोकाकुल कोमल मन रोता है !
मूर्च्छित होकर गिर पड़े भरत, फिर उठे तनिक
निकला मुख से—'लोभी माता ! धिक्-धिक्, धिक् धिक्
क्या तू ही मेरी माँ है ओ भूखी बाघिन !
तेरे कारण प्रभु चले गए चुपचाप विपिन ?
तू ने मेरे अग्रज को भेज दिया वन में ?
यह कुटिल कपट उत्पन्न हुआ कैसे मन में ?
अपने काले मुख को अब किसको दिखलाऊँ ?
अच्छा होता तेरे समक्ष मैं मर जाऊँ !
ले, तू ही तीर भोंक दे मेरी छाती में,—
भर दे अपनी कालिमा प्राण की बाती में
निर्मम जननी ! सुत-हत्या कर निज हाथों से !
है टपक रहा शोणित अब तेरी बातों से !
जल्दी मेरी हत्या कर, निज अपराध मिटा
माँ ! निज हाथों से ही निज पाप अगाध मिटा
अपने कल्मष को धो ले मेरे शोणित से
कर इसी समय यह काम ताकि सन्ताप हटे !
हे स्वार्थ-समरचण्डिके ! वक्ष में बाण भोंक
मृत सुत की अग्नि-लपट में तू ही स्वयं झोंक
तू नहीं जानती, क्या तूने अपराध किया
रघुकुल की कीर्तिध्वजा को तूने झुका दिया !
तू माँ है, यह कहने में भी सकोच आज,
अपने नख से तू मेरे तन को नोच आज
मैं भी तेरे मन के जंगल का हूँ शिकार
निष्ठुर जननी, तूने किस पर कर दिया वार ?

मैं ही तेरा आहार अरी ओ वन-व्याघ्रा !
तेरे कारण कुल की मर्यादा मे बाधा
क्या नही जानती तू, कि राम का भक्त भरत ?
तू नहीं जानती रामचरण-अनुरक्त भरत ?
लज्जा न लगी मन्थरा-मंत्र को सुनने मे ?
कैसे मन लगा तूने विष-मुक्ता चुनने मे ?
किस मुँह से तूने माँगा वर निर्दय जननी !
कुलगौरव मिटा दिया कैसे अहृदय जननी !
लज्जा न लगी कि राम के रहते भरत नृपति ?
फिर गई लोभ के कारण कैसे तेरी मति ?
जल गया प्रेम का फूल स्वार्थ की लपटो से
तेरा यह कपट घृणित है सौ-सौ कपटो से
मुझसे भी अधिक दुलार किया तूने जिसको,—
किस निर्ममता से भेज दिया वन मे उनको ?
तेरे कारण ही पिता देह को त्याग गए
कैसे कुचक्र के भाव हृदय मे जाग गए ?
माता कौसल्या पर तो वज्र-प्रहार हुआ !
मेरे कारण उसके उर पर क्यो वार हुआ ?
लक्ष्मण-जननी मन-ही-मन क्या कहती होगी
सहती होगी—वह असह व्यथा सहती होगी !
माता-सी वह जानकी हाय, निर्जन वन मे !
मेरा प्यारा छोटा भाई लक्ष्मण वन मे !
मेरे कारण ही तूने घोर अनर्थ किया
पीयूष समझ कर तूने मन का गरल पिया !
हत्यारी माँ ! अब मेरी हत्या कर जल्दी
मेरी दुस्सह पीडाओ को अब हर जल्दी
मैं यहाँ किसी को मुँह दिखलाने योग्य नही
अब मेरे लिए अयोध्या पल भर भोग्य नही !
हो गया अपावन सरयू-जल मेरे कारण
हो गया अपावन यह भूतल मेरे कारण
मेरे कारण ही सूर्यवंश तम-व्याप्त हुआ
मेरे कारण ही सारा पुण्य समाप्त हुआ !

मिट गया सुयश मेरे कारण, धँस गया धर्म
मेरे कारण ही किया हाय, तूने कुकर्म
मेरे कारण ही किया घोर विश्वासघात
मेरे कारण शुभ दिन मे आई शोक-रात !
राज्याभिषेक रुक गया मात्र मेरे कारण
हा ! राष्ट्रध्वज झुक गया मात्र मेरे कारण
जननी ! तूने क्यो इस कपूत को जन्म दिया ?
क्या जनम-जनम तक मैंने केवल पाप किया ?—
वस्तुत राम-वनवास हुआ मेरे कारण !
मातृत्व-शक्ति मे ह्रास हुआ मेरे कारण
असमय भूपाल निधन—भ्राता का निर्वासन—
मेरे कारण—मेरे कारण—मेरे कारण !'

सुन कर सुत का मार्मिक विलाप, माता न द्रवित !
साधुता देखकर स्वार्थ प्रबल मन क्रुद्ध, चकित
लेकिन भीतर से कैकेयी किंचित् उदास
इच्छा की लहर झुकी प्राण के आस-पास !
'क्या इतना मूर्ख भरत ? यह पहली बार ज्ञात
वह नही समझता राजनीति की बडी बात
वह मार रहा है राजमुकुट पर आज लात
वह फेंक रहा है हाय, परोसा हुआ पात !
सुर-दुर्लभ पद भी उसको है स्वीकार नही
वह स्वय चाहता सिंहासन-अधिकार नही !
सब किए-धिए पर उसने पानी फेर दिया
अग्रज-ममता ने उसके मन को घेर लिया !
बन्धुत्व श्रेष्ठ नृप-पद से, अब यह ज्ञात मुझे
आ गई समझ मे मूर्ख पुत्र की बात मुझे
हे भाग्य-विधाता ! तेरी लीला है विचित्र
सत ही सिर्फ मानता शत्रु को सरल मित्र !
सोचा था, मेरा भरत अधिक है बुद्धिमान
पर, उसकी भावुक मति अति मर्यादा-प्रधान

मेरी सारी कल्पना बिखर जाने को है
मेरे मन पर नैराश्य-तिमिर छाने को है !
पाया जिसके कारण अपयश, है रुष्ट वही
छीना जिसके हित सुरपुर, है सतुष्ट वही !
झझाओ से निकली नौका फिर झझा मे
पौ के फटते ही सूर्य तिरोहित सन्ध्या मे !
बोली कैकेयी 'पुन ! बना कुछ नीति-कुशल
दुर्बल लोचन से मत बरसाओ केवल जल
आई-सी लक्ष्मी को इस क्षण ठुकराओ मत !
बीती बातो पर अब इतना अकुलाओ मत !
छल-रहित नही कोई सत्ता—कोई शासन
हिसा से ही जीता जाता है भीषण रण
मिलती है अधिक सफलता अति चतुराई-से
अच्छाई भी मिलती है कभी बुराई मे !
मैंने जो कुछ भी किया, वही तो राजनीति
मैंने जो कुछ भी दिया, वही तो राजनीति
मैं पश्चिम की रहने वाली, पूरब आई
मेरे मन पर अब तो यथार्थ की परछाई
चिन्तन की धारा भिन्न, विभिन्न कर्म-पद्धति
अति धार्मिकता मे दूर-दूर मेरी मति-गति
था हुआ शर्त के साथ पुन ! मेरा विवाह
जनमे तुम जिस क्षण, उस क्षण ही अभिषेक-चाह !
अवसर पाकर अपना अधिकार लिया मैने
अपने दोनो वर को साकार किया मैने
है स्पष्ट बात करने मे कोई दोष नही
अपने दुख को हरने मे कोई दोष नही !
मुझको यथार्थ से प्रेम,—नही भावुकता से
मैंने न निकाला तेल कभी भी सिकता से
सम्राट् बनो तुम, यही हमारी इच्छा है
हे भरत ! तुम्हारी-मेरी कठिन परीक्षा है !'

निश्छल मन पर पड़ता न कभी अनुचित प्रभाव
हो गया निरर्थक स्नेहहीन उर का दबाव
भगवान, भरत के लिए राम, सबकुछ वे ही
भगवती-स्वरूपा पूज्य सदा से वैदेही
भ्रातृत्व-साधना का निरुपम परिणाम भरत
लेते प्रतिपल चुपचाप राम का नाम भरत
इस राम-प्रेम से कैकेयी अनजानी-सी—
केवल उसकी वात्सल्य सुधा पहिचानी-सी !
अपने सपने के लिए मोह करती नारी
दृग-सम्मुख अभी प्रसून नहीं वह फुलवारी
कैकेयी-कौसल्या में मौलिक भेद यही,—
खण्डित भूतल है एक, एक सम्पूर्ण मही !
कह दिया भरत ने 'ओ पश्चिम की मेरी माँ !
मातृत्व-भाव की मत बाँधो कोई सीमा
माता को रहने दो माता के ही समान
तुम करो अभी भी निर्विकार राम का ध्यान
चरणों पर झुक कर कहो कि तुमसे हुई भूल
अति कुटिल कामना राज्य-लोभ में गई फूल
ईर्ष्या के कारण मातृ-दृष्टि सकुचित हुई
लोभिनी लालसा सुत-सत्ता-हित क्षुधित हुई !
अति भौतिक सुख की आकांक्षा से अन्ध नयन
राम को त्याग कर घृणित स्वार्थ से गठबन्धन !
पूरब-पच्छिम की बात राम के लिए नहीं
उनके समान कोई पुरुषोत्तम नहीं कहीं !
हे माँ ! तुमसे हो गया घोर अपराध हाय
करना है मिल कर कोई अब ऐसा उपाय,—
जिससे कि शीघ्र—अति शीघ्र राम लौटें वन से
दर्शन-आनन्द प्रवाहित हो फिर जन-मन से !
तुमने राक्षस-सा किया कुकर्म बिना सोचे
वास्तव में तुमने किया अधर्म बिना सोचे
सोचा यह नहीं कि कौसल्या को एक पुत्र !
माँ-बेटे का कितना कोमल सम्बन्ध-सूत्र

माँ होकर भी माँ ! तुमने माँ को भुला दिया
निर्ममते ! तुमने प्रेम-दया को भुला दिया !
सर्वोत्तम सुत को दिया कठोर अरण्य-दण्ड ?
आज्ञा देते जिह्वा न हुई क्यों खण्ड-खण्ड ?
खोयी थी तुम किस काले पर्दे में छिप कर ?
था नहीं नयन के सम्मुख राम-वदन सुन्दर ?
उनके सरोज-लोचन को तुमने देखा था ?
क्या मन के खिले सुमन को तुमने देखा था ?
धिक्कार जननि ! धिक्कार जननि ! धिक्कार जननि !
धिक्कार तुम्हें सौ बार—हजारों बार जननि !
क्रोधित मन में अपशब्द किन्तु तुम हो माता
जी करता है कि तोड़ लूँ अपना सुत-नाता !
पर हाय, क्रोधवश मैं यह पाप करूँ कैसे ?
माँ के मन में कलुषित संताप भरूँ कैसे ?
इस घृणित घड़ी में करूँ राम-अनुकरण आज
देखेगा मेरे कर्मों को कोसल-समाज
इस कुपित परिस्थिति में कम्पित-सी मर्यादा
उर-क्रोधकुण्ड में अविरल अपशब्दिक स्वाहा
सज्जनता जली-जली-सी है दुर्जनता से
क्षत-विक्षत तन-मन हृदयहीन निर्ममता से !
ईश्वर हे ! मेरे प्राणों का अब दुख दुस्सह
मेरी आकुल आत्मा की असह व्यथा अनकह
अपनी ही माता से अब लगता मुझको भय
चाहती बना देना कोसल को वह केकय !
इस राजभवन में एक राक्षसी रहती है
वह सुत को भी राक्षस बनने को कहती है
कहती कि 'राम के सिंहासन पर बैठो तुम—
आसुरी राजमद में आजीवन ऐंठो तुम !'
हे राम ! सहा जाता न दुख, मैं भरत विकल
माँ नहीं, पोंछ सकती मेरे नयनों का जल
है काँप रहा मेरा हृत्तल, काँपता अतल
लगता कि प्राण में व्यथा-प्रलय का जल केवल !

सूना लग रहा शोक के कारण यह जीवन
हे राम ! आपके बिना तुच्छ है सब साधन
मेरी माता ने गलत मुझे ही समझ लिया,—
इसलिए कठोर-कठोर-कठोर कुदण्ड दिया !
यह राजतंत्र की देन निरपराधी दण्डित
यह राजतंत्र की देन कि सत्य हुआ खण्डित
जनगण मन के प्रिय प्रभु अरण्य में निर्वासित,—
यह राजतंत्र की देन कि जग में न्याय नमित !
तलवारी निर्णय से न प्रेम रस-धार कभी
हिंसक उपाय से नहीं विश्व-उपकार कभी
केवल दुर्जन-विनाश के हित ही राम-बाण
आसुरी ध्वंस के लिए अस्त्र अन्तिम निदान !
हे माँ ! कोसल-सिंहासन केवल राम-हेतु
जनगण-मन का उच्चासन केवल राम-हेतु
मैं भरत राम का अनुज—राम का नम्र दास
उनकी उज्ज्वलता से मेरे उर में प्रकाश !
अर्पित है मेरा जीवन उनके चरणों पर
चरितार्थ उन्हीं के जीवन में सत्-शिव-सुन्दर
समझा न उन्हें तुमने, केवल देखा शरीर
आलोकपुरुष प्रत्येक परिस्थिति में गंभीर
वे साधारण होते तो वन जाते न कभी,—
असहाय पितृ-आज्ञा को अपनाते न कभी
हँसते-हँसते ही चले गए होंगे भाई
उनसे न अलग रह पाई उनकी परछाईं !'

सुन पुत्र-वचन कैकेयी अब गंभीर बनी
उसकी प्रसन्नता अश्रु-प्रवाहित पीर बनी
मरने के पूर्व वणिक में ज्यों सम्पत्ति-मोह,
कैकेयी के मन में भी आकुल आह-ओह !
सहसा इसी क्षण आई स्वप्न-अलकृत-सी,—
टूटी वीणा ज्यों नए तार से झंकृत-सी

देख कर उसे, तत्काल कुपित शत्रुघ्न-नयन
निकला मुख से आक्रोश-भरा पाषाण-वचन
बिल्ली-सी वह भागने लगी, पर लगी लात
वह भूल गई ठोकर लगते ही दूध-भात
कुबडे तन पर पग के प्रहार से चोट अधिक
पापिन ! तू इतनी कुटिल, नीच, घरफोड़ी ? धिक् !
चूहे-सी चूँ-चूँ चिल्लाती-हाँफती हुई—
घायल कुत्ती-सी थर-थर-थर कापती हुई—
वह बोल उठी कि 'भलाइ का युग रहा नहीं'
इसके अतिरिक्त मन्थरा न कुछ कहा नही।
चल पड भरत-शत्रुघ्न तुरत उस ओर वहाँ,—
अति स्नेहमयी कौसल्या का अधिवास जहाँ
वह स्वय सुमित्रा-सग आ रही थी मिलन
दोनो को पथ पर देख, लगा मृदु उर हिलने !
माताओ ने दोनो पुत्रो को सटा लिया
आँसू ने आँसू को आँसू ही पिला दिया !
काँपते होठ पर शब्द नहा, केवल पानी
आँसू मे ही बह रही करुण मन की वाणी !
अवरुद्ध कठ, जल-भरे नयन, जल-भरा हृदय
निष्कपट प्राण, निश्छल तन-मन मे सुत की जय
छाती से आलिगित वात्सल्य-प्रदीपशिखा
आलोकित मातृकामना की प्रत्येक दिशा !
शिशु-से चिपके शत्रुघ्न-भरत दृग मे दृग धर,
थर थर-थर आकुल प्राण और निर्वाक् अधर
आकुलता इतनी तीव्र कि मुख मे शब्द कहाँ !
आँसू ही आँसू प्रिय कपोल पर यहाँ-वहाँ
दो हसकुमारो की दृग-मुक्ता झरती-सी
ममता की सजल किरण चुपचाप बिखरती-सी
करुणा के दो-दो कमल मातृ-अरुणाई मे
दो पुत्र विपिन मे, दो सनेह-परछाईं मे !
बोली कौसल्या—'तू क्यो इतना रोता है ?
होने को जो होता है, वही न होता है ?

तेरा क्या दोष भरत, इसमे ? तू व्यर्थ न रो
इस विषम परिस्थिति मे बेटा ! निज धैर्य न खो
काल के सामने किसका वश चलता जग मे ?
फँस जाते वीरो के पग भी कटक-मग मे
कोकिल भी बदल दिया करता है क्रूर काल
झोंके खाकर गिर जाते हैं तरुवर विशाल !
दोषी न तुम्हारी माँ, यह खेल समय का है
यह अवसर दृढतापूर्वक दुःख-विजय का है
आ गए तुम यहाँ, अब कोई भय नही हमे
अब नही अटकना है दुख-पथ मे कही हमे
है जहाँ भरत, है वहाँ राम यह सत्य अटल
हैं एक वृन्त पर खिले हुए दो हृदय-कमल
बचपन मे तुम मेरी गोदी मे अधिक रहे
तुम कितने प्यारे कौसल्या के, कौन कहे !
शिशु राम सदा कैकेयी उर पर ही सोया,—
उसके सम्मुख ही अधिक हँसा कम ही रोया
माता की आज्ञा का पालन कर रहा राम
वह सौंप गया है तुम पर ही तो सभी काम
हे भरत ! बडे भाई का कहना मानो ही
भावुकतावश मत बनो सुपुत्र, विरह-मोही
हैं दूर राम-लक्ष्मण-सीता पर, पास तुम्ही
चौदह वर्षों तक कोसल-राज्य-प्रकाश तुम्ही !"
पर, कहा भरत ने—'माँ ! तुम हो कितनी उदार,
तुम जहाँ, वहाँ पर नही असत् का अन्धकार
आखिर किसकी माता हो तुम हे देवि, विमल
राम का जन्म तुम्हारे उत्तम तप का फल !
पर, मेरी माँ ने सुखा दिया कुल का मस्तक
हसो के बीच छिपा था उसके उर का बक
उसके कारण मैं मुँह दिखलाने योग्य नही
अब भरत तुम्हारे सम्मुख आने योग्य नही !
मुझ पर कलंक जो लगा, न वह मिटने वाला
मेरी माता का प्रण न कभी टिकने वाला

अनुचित प्रलोभ से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है
विषमयी कुटिलता स्वार्थ-सरणि से आती है
विपरीत बुद्धि के कारण ही अपराध घोर
है नहीं वही मन की तृष्णा का ओर-छोर
लालच के कारण ही अनर्थ होता जग मे
ईर्ष्यालु बुद्धि ठोकर खाती मन के मग मे !
करता उत्पन्न द्वेष गृह-जीवन मे विभेद
छिछली आँखे करती कुदृष्टि से सदा छेद
परिवार-पद्म सद्स्नेह-सुमति से खिलता है
सामूहिक तप से सच्चा गृह-सुख मिलता है !
मेरी माता ने रविकुल पर आघात किया,—
निज स्वार्थ-हेतु श्रीरामचन्द्र को दण्ड दिया
आसुरी शक्ति से किया स्थगित राज्याभिषेक
मिट गया लोभ के कारण ही उसका विवेक
दुस्सह दुख से ही साधु पिता का हुआ अन्त
उस एक आग से झुलस गया कोसल-वसन्त
माता के कारण मिला मुझे अक्षय अपयश
देना चाहा उसने निज सुत को गरल-कलश
हे माँ ! मेरे उर पर तो अंकित राम-नाम
करना है मुझे न कोई अनुचित कभी काम
श्रीराम अयोध्या-अधिकारी, यह भरत नहीं
सिंहासन उनका ही, उनकी ही अवध-मही !
यदि मुझमे सच्ची भक्ति, उन्हे आना होगा
शीघ्र ही मुझे उनके समीप जाना होगा
मैं उन्हे मना लूँगा—मैं उन्हे मना लूँगा
हूँ भक्त राम का मैं, उनको मैं पा लूँगा
भाई हूँ मैं, भाई से भिन्न न हो सकता
मेरा मस्तक उनका मणिमुकुट न ढो सकता
सिंहासन-हित मैं उनकी प्रीति न खो सकता
अबतक मैं उनका रहा, उन्ही का हो सकता !
पर हाय, उन्हे अति कष्ट हुआ मेरे कारण
मेरे चलते ही जाना पडा उन्हे है वन

मेरे चलते मैथिली भोगती विपिन-कष्ट
मेरे चलते मेरी माता की बुद्धि भ्रष्ट !
मेरे कारण लक्ष्मण भी जगल का वासी
क्या राम अभी भी मेरे प्रति है विश्वासी ?
सब पापो का केवल मैं ही हूँ जड माता।
मेरे कारण ही छिन्न भिन्न पावन नाता
निर्दोष राम को मेरी माँ ने दण्ड दिया
पर, दोषी को तुमने क्यों कुछ भी नही किया ?
अपराधी है यह भरत, इस दो तुम्हीं दण्ड
कटवा दो मेरे तन को हे माँ ! खण्ड-खण्ड
अथवा आजीवन दो निर्मम वनवास मुझे
रहने दो सदा अकेले वहाँ उदास मुझे
करने दो कठिन प्रवास मुझे दण्डकवन मे
सुख-भाव न कोई उठे कभी मेरे मन मे।'

कौसल्या पिघल पड़ी सुन कर प्रिय भरत-वचन
दोनो दुखमय लोचन में केवल घन ही घन
निष्कपट भरत को देख राम का स्मरण सजल
उसके सुधि-घट मे निर्मल सरयू का ही जल।
अगुलि पर आँसू उठा, भरत के नयनों के,—
देखे कौसल्या ने मन के अनेक झोंके
शीतल वाणी से शान्त तनिक मन की पीडा
पर, सुत की आत्म-व्यथा सचमुच अति गभीरा !
मूर्च्छित मुखमण्डल पर पत्ते का स्नेह-पवन
करुणा से ओतप्रोत प्रशोकित राजभवन
राम के विरह मे भरत-प्रेम रह-रह विह्वल
लम्बे-लम्बे लोचन मे केवल जल ही जल
छलकी न कभी इतनी आँखें इस जीवन मे
राम ही राम केवल मुख मे—केवल मन मे
है कहाँ पिता का शव, इसका कुछ ध्यान नही
लगता कि राम के बिना भरत में प्राण नही !

'अब क्या उपाय ?'—बोली माता चिन्तित होकर
आँखें अब मुँदी-मुँदी-सी, सूखे अरुण अधर
साँसों की गति अति मन्द, शिथिल चन्दन शरीर
देखते-देखते राजभवन में बहुत भीड़
माण्डवी निकल आई घर से श्रुतिकीर्ति-संग
ऊपर बढ़ती ही गई विविध दुख की तरंग
क्षण में ही हाहाकार व्याप्त अब सभी ओर
तीनों माताएँ—तीनों बहन व्यथित घोर
निष्प्राण भरत ! रे, नहीं-नहीं निष्प्राण नहीं !
टूटा है अवचेतन स्थिति का प्रिय-ध्यान नहीं
हो गई देह श्रीराम-स्मरण में ही विदेह
शुभ्रात्मा को दिव्यात्मा से अति घना स्नेह !
—बोले वसिष्ठ विस्मय-सहित शोभित क्षण में,
आलोकित उनका मन, इनके उज्ज्वल मन में
सुधि सिद्ध प्रेम के कारण प्रिय प्रतिबिम्ब-मिलन
अन्तर्मन में चेतना-विमल आनन्द गहन !
माण्डवी-अधर पर मन्द-मन्द मुस्कान व्याप्त,—
लौकिक मत में जब व्यथित भरत मूर्च्छा समाप्त
कैकेयी के दृग में प्रसन्नता अश्रु अमल,
पंकिल उर में खिल गया एक विश्वास-कमल !
रोती आँखें केन्द्रित कौसल्या के मुख पर
करुणाभा छिटक रही मर्यादित विरह-दुख पर
मिलता न थाह गंभीर सुमित्रा के मन का
चितवन को भेद नहीं मिलता उस चितवन का !
राम का नाम लेकर जब भरत उठे उस क्षण,
कैकेयी को देख कर पुन चिन्तित लोचन
फिर अश्रुबिन्दु बैठे के नील कपोलों पर
बिखरे मोती को देख, मर्म-कण गए बिखर !
कैकेयी ने कुछ नहीं कहा पर, प्रकट भाव
मन-ही-मन क्षमा माँगना-सा मन का दुराव
वह गई पुत्र के संग जहाँ दशरथ का शव
रोते आत्मज को देख चित्त में नव अनुभव

मृत पितृदह पर दोनो पुत्रो के मन स्थिर
भीगी पलको पर जीवन-सुधि जाती घिर-घिर
आकुल मन पर मडलाते-से स्मृति-चित्र सजल
जानता पुत्र ही पितृशोक का दुख विकल !
जानता पुत्र ही योग्य जन्मदाता-महत्त्व
ज्ञानी को ज्ञात कि क्या है नश्वर पचतत्त्व
सेवा के हित ही बना मनुज का क्षर शरीर
है व्यर्थ नही नयनो मे प्रभु-प्रार्थना-नीर !

बीता दिन, रात व्यतीत, दिवस फिर करुण-करुण
सरयू के तट पर चिता-दृश्य कितना दारुण
कितना दुखमय है धर्म पिता का अग्नि-दाह
अनगिन—असख्य प्राणो मे मार्मिक आह-आह !
भूतल का वह सम्राट् मिला फिर भूतल मे
तिरती है कीर्ति-मछलियाँ नयनो के जल मे
सारा वैभव रह गया यही कुछ गया कहाँ !
जीवन मे ही तो दुख-सुख का है द्वन्द्व यहाँ
अन्तिम आनन्द-रहित जीवन ज्यो तिहीन दीप,
मोती के बिना न मूल्यवान सरि-सिन्धु-सीप
प्रज्वलित चिता को देख, उदित वैराग्य-भाव
मन के प्रवाह पर आती ज्ञानी ज्योति-नाव
चौदह दिन मे सम्पन्न हो गया श्राद्ध कर्म
शास्त्रानुसार सरक्षित लौकिक पुत्र धर्म
सत्कार्यो से ही धीरे-धीरे शोक-शमन
अब एक राम की ओर भरत का अन्तर्मन !

शुभ दिन मे एक विशेष सभा का आयोजन
मण्डप मे कुलगुरु, ऋषि, प्रतिनिधि अधिकारीगण
आए वसिष्ठ आज्ञा से अनुज समेत भरत
राजोचित भावी भूपति का लौकिक स्वागत
सुन तूर्य नाद, प्रिय भरत अचानक दुख-चकित
मुख मौन-म्लान, शोकित लोचनदल नमित-नमित
कुलगुरु समीप, कौशल्या-निकट ग्रहण आसन
भीतर ही भीतर हर्षित आज उपस्थित जन
बोले वसिष्ठ 'भूपति दशरथ भू पर न आज
उनके अभाव मे अवतक शोकित है समाज
वे महाप्रतापी पुण्यवान, जन प्रिय शासक
वे सदा वचन पालक, सुखदायक, दुख नाशक
गुण कर्म धर्म-अनुरूप कीर्ति की किरण ध्वजा
उनकी कर्मठता के कारण ही सुखी प्रजा
जिनके सुत राम-भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्न विमल,—
उनकी महिमा—उनका गौरव तो चिर उज्ज्वल !
ऐसे धर्मात्मा के उठ जाने से दुख अति
पर, जन्म-मरण ससार-चक्र की जीवन-गति
सामान्य सत्य से तो परिचित हैं सभी लोग
आनन्द असीमित लेकिन सीमित भूमि-भोग !
वे पिता धन्य हैं जिनके आत्मज कीर्तिवान
आदर्श महापुरुषो की माताएँ महान
जिस गृह मे राम-भरत, वह तो पूजा-मन्दिर
निर्मल मयक है एक, एक है विमल मिहिर !
दोनो ही पितृवचन-पालक, हैं क्षमाशील
है रूप-रग भी दोनो पुष्प-समान नील
है राम-भरत-आकृति मे भी सुन्दर समता
दोनो को एक दूसरे पर आस्था, ममता
अब राम-कार्य करना है स्वय भरत को ही
इस कठिन परिस्थिति मे देनी है दिशा सही
करना है शोच नही अब दैवी घटना पर
कालानुसार उठती-गिरती है शोक-लहर

चिन्ता करनी है उस पर जो है चिन्तनीय
निन्दक ही है वास्तव में असली निन्दनीय
चिन्ता उस शासक की, जिसकी है प्रजा दुखी
चिन्ता उसकी जो विषय भोग में भ्रान्त सुखी
चिन्ता उसकी, जो करता सबको अपमानित—
जो निज शब्दों से करता निज को सम्मानित!
चिन्ता उसकी जो सदा मूर्खता से मुखरित
चिन्ता उसकी, जो अहंकार से नित क्रोधित
चिन्ता उसकी जो बात-बात में लड़ता है
चिन्ता उसकी जो भूख-प्यास से मरता है
चिन्ता उसकी जो सदा लड़ाता मित्रों को—
देखता कुटिल नेत्रों से कलह-कुचित्रों को!
चिन्ता उसकी जो केवल चुगली करता है—
जो सदा झूठ के लिए अरन-सा अड़ता है
चिन्ता उसकी जो देता धन को ही महत्त्व—
जो लोभ-प्रपंची नहीं समझता लाभ-तत्त्व!
चिन्ता उसकी जो सदा कृपण, जो सदा निठुर,—
जो करता केवल छल परन्तु बोलता मधुर
चिन्ता उसकी जो अनुचित लाभ उठाता है,—
चन्दन-टीका ठगने के लिए लगाता है!
चिन्ता उसकी जो चाटुकार, जो कर्महीन—
जो बाहर से पूजक, भीतर से लोभ-लीन
चिन्ता उसकी जो रूपवान पर, मलिन हृदय,—
जो तुरत मित्र, जो तुरत शत्रु, जिससे नित भय!
चिन्ता उसकी जो रंग बदलता गिरगिट-सा,—
जो ऊपर से हँसता, भीतर से क्रोधित-सा
चिन्ता उसकी जो हाँ, कह कर 'ना' कहता है,—
जो कपट-भंवर के कुटिल जाल में रहता है!
चिन्ता उसकी जो सत् पथ से कतराया-सा,—
जो ईर्ष्या के कारण सदैव मुरझाया-सा
चिन्ता उसकी जो धन-घमण्ड में चूर-चूर,—
जो विनय, विवेक, और विद्या से दूर-दूर!

चिन्ता उनकी जिनमें न कुटुम्बी भाव तनिक,—
जो हर विधि से शोषक हर विधि से सदा वणिक्
चिन्ता उनकी जो ज्ञान-शून्य होकर ज्ञानी,—
सतुलित न जिनकी कोई लोभ-कलित वाणी !
चिन्ता न करो दशरथ की अब हे वत्स भरत !
करना है उनके आत्म-वचन का ही स्वागत
है किया राम ने जिस प्रकार आज्ञा-पालन,
तुम भी सहर्ष स्वीकारो कोसल-सिंहासन
कल्याण इसी में है कि सम्हालो राज-काज
मेरी ही नहीं सभी की इच्छा यही आज
आदेश शास्त्र का यही लोकमत यही, भरत !
करना है पालन तुम्हें अयोध्या-शासन-व्रत
चौदह वर्षों तक तुम्हीं किरीट करो धारण
चौदह वर्षों तक करो प्रजागण का पालन
है यही राम की भी इच्छा तुम राज्य करो
संकट की विकट घड़ी में नव उत्साह भरो !'

बोले सुमन्त्र, 'गुरु की आज्ञा हो शिरोधार्य
हे रामानुज ! आरम्भ करें अब राज-कार्य'
बोली कौसल्या, तुम्हीं एक ध्रुवतारा हो—
बेटा ! इस समय तुम्हीं तो एक सहारा हो !
है राम और तुममें सचमुच ही अन्तर क्या !
तुम नहीं भला रघुकुल के प्रिय पद्माकर क्या ?
निर्मल नृप का शासन भी तो निर्मल होगा
उत्तम कार्यों का उत्तम ही तो फल होगा !
इस समय एक अवलम्ब तुम्हीं—अवलम्ब तुम्हीं
इस कठिन घड़ी में प्रिय, प्रकाश के स्तम्भ तुम्हीं
कुलगुरु-आदेश मान कर भार सम्हालो अब
सूने सिंहासन को सहर्ष अपनालो अब'

सुन स्नेह-वचन, नयनों में करुणा का पानी
है अमृत-तुल्य मृदुभाषी माता की वाणी
पर-सुत को भी सुत समझे, वह माता प्रणम्य
छल करे जो सदैव, वह नहीं क्षम्य।
बोले सविनय श्रीभरत, 'सुना गुरु-वचन मधुर
पावन माता की छवि ग अंकित प्राण-मुकुर
सहृदय मंत्री का कथन नहीं अनुचित कुछ भी
सुनकर सब कुछ मैं इस क्षण प्रेम-विभोर अभी
गुरुजन-उपदेश सुधा-सिंचित, अति हितकारी
जो नहीं मानता इसे, न वह धर्माचारी
करना न उचित है तर्क बड़ों की बातों में
पर घिरा घिरा मैं दुख के झंझावातों में।
साहस बटोर कर मन कुछ कहना चाह रहा
अपना ही मन अब अपने को है थाह रहा
मैं देखूँ अपने को कि आपको या जग को?
पकड़ूँ किस मग को किस मग को—अब किस मग को?
है एक ओर साधन, आराधन एक ओर
है एक ओर स्थिरता, परिवर्तन एक ओर
है एक ओर प्रभु-प्रेम, प्रशासन एक ओर
हैं एक ओर रघुवर, सिंहासन एक ओर।
है एक ओर कामना, भावना एक ओर
है एक ओर सुखराशि, अर्चना एक ओर
है एक ओर छल-शक्ति, स्नेह-गति एक ओर
है एक ओर अश्लील, श्लील मति एक ओर।
है एक ओर श्रद्धा, सुभोग है एक ओर
है एक ओर सयोग, योग है एक ओर
है एक ओर विश्वास, मोह है एक ओर
है एक ओर आज्ञा, विछोह है एक ओर।
है एक ओर उत्तम, सर्वोत्तम एक ओर
है एक ओर आनन्द, और श्रम एक ओर
है एक ओर साधुता, सुगमता एक ओर
है एक ओर सन्तोष, सुगमता एक ओर।

है एक ओर वनवास, अयोध्या एक ओर
है एक ओर शुचि सत्य, कुमिथ्या एक ओर
है एक ओर आत्मा, शरीर है एक ओर
हैं एक ओर साँसें, समीर है एक ओर।
पकड़ूँ किस मग को ?—अपनाऊँ किस तरणी को ?
अपनाऊँ इस तरणी को या उस तरणी को ?
किस मुँह से दुहराऊँ घटना जो घटी यहाँ
ऐसा अनर्थ इस भूमण्डल पर हुआ कहाँ।
माता ने ही माताओं को दुख पहुँचाया
जब उजड़ गया घर तब बाहर से मैं आया
मेरा कलंक मुझसे ही तो मिट सकता है
पद का मिथ्या गौरव कबतक टिक सकता है ?
माना कि काल का प्रबल चक्र चलता रहता,—
इसके कारण ही मन को मन छलता रहता
पर मानव का क्या धर्म कि सबको छला करे,—
या निज विवेक से मानवता का भग करे ?
भाई का क्या अपराध कि उन्हें अरण्य-दण्ड ?
किस उल्का से सहसा स्नेहस्थल खण्ड-खण्ड
कुल का महत्व भी नष्ट हुआ मेरे कारण
भाई को अतिशय कष्ट हुआ मेरे कारण
लोभी माता ने मातृधर्म को भुला दिया,—
अपने हाथों से स्नेह-दीप को बुझा दिया
जाने न दिया मेरी अर्द्धांङ्गिनि को वन मे
मन की इच्छा रह गई हाय, उसके मन मे।
वैदेही की कुछ तो सेवा वह करती ही
कम-से-कम जंगल मे पानी तो भरती ही
है धन्य बन्धु लक्ष्मण जो सब दिन साथ रहा
उसके मस्तक पर सदा राम का हाथ रहा।
पत्नी को छोड़, गया वन मे वह अनुज वीर
चन्दन-समान पावन उसका कोमल शरीर
सारी घटनाएँ घटीं, मात्र मेरे कारण
माता निज पथ से हटी, मात्र मेरे कारण !

दूसरा कौन पापी जग मे मेरे समान ?
मेरे कारण ही अस्त अवध-दिनमान-प्राण !
मुझ-सा जघन्य पापी, राजा के योग्य नही,
कोसल-वसुधा वस्तुत भरत-हित भोग्य नही !
राम के विना मेरा कोई कल्याण नही
सच कहता हूँ, शासन पर मेरा ध्यान नही
जीवित हूँ दुस्सह दुख मे भी यह भी अनर्थ
मेरा जीवन हो गया व्यर्थ—हो गया व्यर्थ !
कह गए आप जो कुछ, उसमे अति स्नेह मोह
मुझसे सभव यह नही, कहूँ मैं आत्म-द्रोह
लगता कि कुटिल जननी ने जाल विछाया फिर
लगता कि लोभ का वादलदल अब आया फिर
लगता कि एक के बाद दूसरा नरक मिला
लगता कि पाप का पद्म पक मे पुन खिला
लगता कि अमृत-फल मे विप-रस है भरा हुआ
लगता कि नृपति-वरदान अश्व-सा अडा हुआ
लगता कि चतुर माता माया-रण छेड रही—
छल के कृपाण से अभी मुझे ही घेर रही
कितनी चतुराई मे सारा मैदान साफ
वनवासी मेरे राम, पिता के प्राण साफ !
अब गद्दी मेरे लिए ! धन्य जननी मेरी
हे कुटिल शक्ति ! कितनी मोहक माया तेरी
तेरी इच्छा के शब्द आज फिर सुनता हूँ
विप-शब्दसुमन को हाय, कान से चुनता हूँ !
तेरे ही मन की बात आज सब कहते हैं
मेरे ये कलुपित प्राण सभी कुछ सहते हैं
भगवान ! भरत के पापो का उद्धार करो
हे राम ! अनुज का प्रेमाम्बुज स्वीकार करो !'

कहते-कहते हो गए भरत मूर्च्छित कुछ क्षण,
आत्मज का करुण वचन सुन, विह्वल जननी-मन

बोली कैकेयी 'सू यवान हैं पुत्र-प्राण,—
जो कहे भरत देना है उन पर हमें ध्यान !'
कौसल्या झिझक उठी— तू यह क्या कहती है ?
भावुकतावश तू भी आंसू-सी बहती है ?
सिंहासन रिक्त रहेगा क्या ? तू बैठ उधर,—
जा रही किधर ? जा रही किधर ? जा रही किधर ?'

सुन कौसल्या का वचन भरत को करण तोप
कुम्हलाने लगा अचानक शंकित आत्म-दोष
सहसा कैकेयी आई पुत्र-निकट सत्वर
बोली वह अपने सुत को बांहों में भर कर,—
'तेरी माता से हुई भूल, दे दण्ड मुझे
कर वही भरत ! इस क्षण जो अच्छा लगे तुझे
सबसे मैं क्षमा मांगती हूँ कि चूक मेरी
देखी भाई के प्रति हे भरत, भक्ति तेरी !
दूँगी निकाल आज ही मन्थरा को घर से
आई थी सुख मे गरल लिए वह नैहर से
उसकी बातों मे आकर मैंने पाप किया—
देवता-तुल्य रघुवर को ही वनवास दिया !
दासी का उतना दोष नहीं जितना मेरा
तोड़ा मैंने ही कुल-मर्यादा का घेरा
मेरे मानस पर स्वार्थ-सर्प चढ़ गया हाय,
मेरे पापों के शमन-हेतु अब क्या उपाय ?
मेरे हित कोई भी कुदण्ड पर्याप्त नहीं
अनगिन जन्मों तक होगा पाप समाप्त नहीं
मेरे कारण ही अन्धकार आ गया घोर
मेरे कारण ही अगजग में अति दुख अछोर !
मेरे कारण माताओं का अपमान हुआ
मेरे कारण ही अस्त अवध दिनमान हुआ
मेरे कारण मेरी बहनों को असह व्यथा
कैकेयी अवध-काण्ड की अनुपम कुटिल कथा !

सीता को कष्ट दिया केवल कैकेयी ने
लक्ष्मण को दुखी किया केवल कैकेयी ने
उर्मिला अकेली हुई हाय, मेरे कारण
मेरे कारण ही शोकाकुल समस्त जनमन !
मेरे कारण सरयू उदास, प्रासाद मौन
मेरे कारण अवतक दुस्सह अवसाद मौन
हे भरत ! तुम्हीं इस माता का उद्धार करो—
तुम परशुराम-सा मुझ पर वाण प्रहार करो !
—इतना कह कर कैकेयी कौसल्या-सम्मुख—
हो गई खडी, भर कर नयनों में मेघिल दुख
चरणों पर गिर कर कहा कि 'तू तो क्षमाशील,
हे देवि ! लोभ के कारण ही मैं बनी चील !'
—इतना कह कर वह गई सुमित्रा के समीप
खुल सके न उसके सम्मुख उसके नयन-सीप
निकला न कंठ से एक शब्द, इतनी पीडा
देखी वसिष्ठ ने—सबने, दुख की यह क्रीडा !
छलकी करुणा कौसल्या की आँखों में अब
सहृदयता में ही स्नेहसुधा-सरि का उद्भव,—
'सब किया काल ने, कोई दोष नहीं तेरा
है भरत राम के ही समान प्रिय सुत मेरा
करना है जल्दी ही इसका राज्याभिषेक
खो मत रोकर तू अधिक प्रशासनमय विवेक
तेरे आँसू ने आँसू ही उत्पन्न किया
तू ने सबके प्राणों को ही झकझोर दिया !'

जननी का पश्चात्ताप भरत के लिए सुखद
पर, सारी घटनाएँ लगती अब और दुखद
माता के कारण पितृ-मृत्यु, भ्राता-विछोह
मेरे कारण ही सकल विश्व में आह-ओह !
—बोले कैकेयीनन्दन 'मैं तो राम-दास
अबतक रहता मैं पद्मचरण के बहुत पास

पर, श्राद्ध-कर्म के कारण वन मे जा न सका,—
अपना पहला कर्त्तव्य तुरन्त निभा न सका।
मेरी जननी अब क्षमा राम से मागेगी
अपराधी बाहे उन्हे वक्ष मे भर लेगी
अपने मस्तक पर उनका पग मैं रख लूँगा
जो कहना है श्रीरामचन्द्र से कह दूँगा
हे कुलगुरु! इच्छा के विरुद्ध कुछ कह न अब
कल्याण तभी होगा कि राम लौटेगे जब
इस समय धधकती मेरे उर मे विरह-आग—
मेरे मन मे इस समय अयोध्या से विराग
जी लगा हुआ है उधर, इधर देखूँ कैसे
चलना है प्रात ही मुझको जैसे तैसे
है आत्म-शान्ति सभव प्रभु के ही दर्शन से
पाती है कृपा मुझे उनके उर-शोचन से।
वे क्षमाशील, वे दयावान, वे गुणातीत
स्वीकारेगे—स्वीकारेगे वे सजल प्रीत
लौटा लूँगा मैं उन्हे, आत्म-विश्वास यही
है नही भरत की, उनकी है यह अवध-मही
धिक्! मैं बैठूँगा भला राम-सिहासन पर?
अधिकार करेगा सागर पर छोटा निर्झर?
यह आग्रह नही, दुराग्रह है अति मोह-भरा
मेरे हित यह अनुरोध प्रेम-विद्रोह-भरा।
उत्तम आदेश नही यह, इसमे राजनीति
इस आज्ञा मे दायित्व, नही इसमे प्रतीति
विपरीत भाव सुन-सुन कर उर अत्यन्त दुखी
मैं नही राम जो अति दुख मे भी सहज सुखी!
मैं तो साधारण जन,—साधारण भाई हूँ
उस ज्योतिपुरुष के चरणो की परछाईं हूँ
सिहासन पाने को मुझसे कह रहे आप?
जननी के पापो से भी तो यह बडा पाप।
कटु सत्य-वचन के लिए क्षमा मैं माँग रहा
कहना जो चाहा उसे ठीक से नही कहा

दुस्सह दुख के कारण शब्दों में नहीं शक्ति
मेरे मन में तो मात्र एक श्रीराम-भक्ति
कुछ कहे बिना ही सुन लेंगे वे हृदय-बोल
करते न किसी से वे जीवन में मोल-जोल
मेरे अग्रज भगवान प्रेम के भूखे हैं
रूठी उनसे मां किन्तु नहीं वे रूठे हैं
उनको जिसने भेजा वन में अब दुखी बड़ी
उर के अनुकूल आज जननी न बात कही
हे प्रभु ! यदि भरत यहां रहना तो जाते तुम ?
मेरे प्रेमाग्रह को भी क्या ठुकराते तुम ?
अवसर न आज तक मिला कि तुम रूठे मुझसे
बस, मिला स्नेह ही स्नेह सदा केवल तुमसे
हा ! शोक-काल में 'तुम' निकला मेरे मुख से
हो जाती वाणी भी अटपट अतिशय दुख से !
आज्ञा दें हे गुरुदेव, कि कल प्रस्थान करूँ
आज्ञा दें माताएँ कि अरण्य-प्रयाण करूँ
आज्ञा दें सभी आमात्य सभासद, पंडित, जन
जाऊँ जल्दी, जाऊँ जल्दी, जल्दी अब वन !
अपनाएँगे—श्रीराम मुझे अपनाएँगे
भाई के संग-संग ही भाई आएँगे
माँगूँगा मैं ही भिक्षा उनके आने की
उत्कंठा अटल, अटूट चरण-रज पाने की !
हैं चित्रकूट में राम, मुझे यह हुआ ज्ञात
वह सुन्दर वनस्थली जिसमें गिरि-जलप्रपात
अच्छा होता यदि परिजन-पुरजन चलें संग
अच्छा ही रहता साथ चले यदि सैन्य-अंग
यदि चलता श्रमिक वर्ग तो होता पथ-सुधार
होते प्रसन्न इससे रघुवर लौटती बार
यदि गन्दे कुएँ-पोखरे हो जाते निर्मल,—
सानन्द सभी पीते तब उनके मीठे जल !'

सुन भरत-वचन, कुलगुरु-समेत सब आह्लादित
भ्राता के प्रति अति भक्ति देख कर चित्त चकित
यह जान कि भरत राम को लौटा लाएँगे—
बोले कुछ लोग तुरत— हम भी वन जाएँगे'
कौसल्या के दृग में प्रसन्नता सजल-सजल
गंभीर सुमित्रा की आँखें भी अश्रु-धवल
कैकेयी की पलकों पर उज्ज्वल अश्रु-बिन्दु
लहराता-सा सबके उर का उत्साह-सिन्धु
शोक के सघन घन पर आशा-चन्द्रिका खिली
विश्वास-वायु से आस्था-पुष्पित लता हिली
अब भरत-अधर पर सुधि-सिंचित मुस्कान एक
बन रहा दण्ड-सन्ताप रुचिर वरदान एक !
मन के मुरझाए फूल खिल रहे आशा में
टपकी अभिलाषा-सुधा भरत की भाषा में
निश्छल भाई का त्याग विश्व-आदर्श बना
श्रद्धालु हृदय का प्रेम त्याग-उत्कर्ष बना !
उठ गई सभा आशा में नव विश्वास लिए,—
श्रीराम-मिलन का स्नेह-विकल उल्लास लिए
शोषित जन-मन को सुखद सहारा मिला एक
दुख के सागर को प्रेम-किनारा मिला एक !
घर-घर में चलने की चर्चा, तैयारी भी
सीता-दर्शन-हित विकल अयोध्या-नारी भी
टूटे रथ को भी ठीकठाक कर रहे सभी
यात्रा की ऐसी उत्कंठा पहले न कभी
किंचित् न अरक्षित रहे राजधानी पल भर,—
यह सोच, भरत ने सभी प्रबन्ध किए दृढ़तर
हो गए सतर्क सभी शासन-अधिकारीगण
सब विधि सुरक्षित महानगर औ' राजभवन
हो जाय राम का राजतिलक . प्रय वन में,
ऐसा विचार उठ गया भरत के मृदु मन में
कुलगुरु-मंत्री के बीच हो गया यह निर्णय,
यह सुन कर तो खिल गया और भी सरस हृदय !

संध्या में जन-पथ पर यात्रा की बातचीत
कहते हैं सब कि भरत का उर कितना पुनीत
सुधि-भरे नयन में अर्द्ध रात तक नींद कहाँ !
अटका-अटका-सा आकुल मन, श्रीराम जहाँ !
निशि-नमित भोर से ही पथ-पथ पर चहलपहल
सुन टिनिक-टुनुक, घर्घर-रव अति हर्षित हृत्तल
सुन्दर प्रभात में शुभ यात्रा-प्रस्थान दिव्य
श्रीराम-मिलन-हित भव्य भरत-अभियान दिव्य
आगे रथ पर गुरुदेव वसिष्ठ, तपस्वीजन
पालकियों पर माताएँ, वधुएँ, नारीगण
उनके पीछे शत्रुघ्न-भरत सुन्दर रथ पर
घोड़े, हाथी से सज्जित सेना भी पथ पर
पीछे-पीछे पैदल ही पैदल अनगिन जन
लहरों-सा आगे भाग रहा उत्साही मन
पैदल ही चलने लगे भरत-शत्रुघ्न हाय,
चिन्तित कुलगुरु-माता-मंत्री : अब क्या उपाय ?
क्या बात कि ऐसा निर्णय दोनों भ्राता का ?
दुखने लग गया हृदय कौसल्या माता का !
घुमवा कर निज पालकी, भरत से कहा—'तात !
तेरे पैदल चलने से सबके दुखी गात
हम रहें सवारी पर कैसे, जब तू पैदल ?
तेरी इस प्रेम-दशा में मुनिजन भी विह्वल !'
—सुन मातृवचन, शत्रुघ्न-भरत बैठे रथ पर
चलते-चलते सहसा बादलमय अब अम्बर
चलते-चलते तमसा-तट पर पहला पड़ाव
श्रीराम-स्मरण से प्राणों पर पावन प्रभाव
चलते-चलते गोमती-नीर पर नव निवास
सादे-सादे भोजन से ही मन में हुलास
अब शृंगवेरपुर के समीप हैं यात्रीगण
सुन भरत-आगमन, गुह का तत्क्षण चिन्तित मन :
'कैकेयीसुत सेना-समेत ? क्यों,—ऐसा क्यों ?
श्रीरामचन्द्र से ईर्ष्या उसकी ज्यों की त्यों ?

धिक् भरत ! तुम्हारे कारण ही वे निर्वासित
इस पर भी तुम जा रहे वहाँ अब सैन्य सहित ?
बन्धुत्व त्याग कर लोभनीय क्या शत्रु भाव ?
दूँगा मैं पार उतरने को कोई न नाव
रोकेगा आज निषादराज सेनाओं को
रोकेगा गुह आनेवाली विपदाओं को
काटेगी सेना को निषाद की सेनाएँ
प चानी ही होंगी अब रिपु को बाधाएँ !
हे दूत ! तुरत ही पवन-सदृश प्रस्थान करो—
अपनी निषाद सेना का सब आह्वान करो
घोषित कर दो कि शत्रु से सबको लड़ना है
मारना उन्हें है या हम सब को मरना है !"

दिखलाई पड़ी तुरत नौका-सेना अपार
गंगा धारा पर राम-नाम का महोच्चार
अनगिन सैनिक तूणीर-तीर से रण-सज्जित
हिन्दोलित जल में तेजस्वी मुख प्रतिबिम्बित !
सेनाओं का उत्साह देख, गुह उत्साहित
उत्क्रान्त शिराओं में गतिमय शोणित वाहित
तट पर भी सेना-व्यूह सतर्क-सतर्क तुरत
वीरत्व विभा से प्राण-प्रदीप्त सामरिक व्रत
अवधी आँधी आ रही उधर से धूल भरी
है इधर निषाद प्रभंजन शक्ति सहर्ष खड़ी
बोले गुहराज कि 'सेनापति ! अब शत्रु निकट
कुछ आगे बढ़ कर भी देना है पथ संकट
पर, सेनाओं में नहीं युद्ध का हाव भाव
है नहीं भरत को रामचन्द्र से क्या दुराव ?
शंखध्वनि आती नहीं, न आता तूर्यनाद
उत्तेजित वातावरण नहीं, लक्षित विषाद !
जयकार नहीं कोई गुंजित ! ललकार नहीं
सागर की लहरों सा कोई हुंकार नहीं

क्या भरत राम से मिलने वन मे जाते हैं ?
पर, चतुरंगिणी शक्ति लेकर क्यो आते है ?
आगे कोई भी दूत नही ! दुविधा म मन
क्या करना उचित रहेगा हमसब को इस क्षण ?
जल्दी मे बिना विचारे काम बिगडता ह
कुछ सोचे-समझे बिना, मूर्ख ही लडता ह !
निर्दोष व्यक्ति पर उचित नही कोई प्रहार
भेजना चाहिए किसी दूत को एक बार
पर, धर्महीन यदि रिपु, तो बोलो क्या करना ?
सीखा है हमने नही दुर्जनो से डरना
रणनीति परिस्थिति पर ही निर्भर करती है
कायरता क्रोधित आँखो से भी डरती है
लडने को हम तैयार किन्तु कुछ धैर्य धरें
केवल अनुमान लगा कर हम कुछ नही करें
जो समझ-बूझ कर सत्य-मार्ग पर चलता है,—
वह कभी न अपने को जीवन मे छलता है
लो, दो अश्वारोही आ रहे इधर ही तो
हे दूत ! उधर जाने के पहले तनिक रुको !'

दोनो अश्वारोही नतमस्तक गुह-सम्मुख
सुन भरत ध्येय, चिन्तित मन मे अब सुख ही सुख
मत्री के कानो मे गुह ने कुछ कहा तुरत
फिर बोला दोनो सैनिक स—'हैं कहाँ भरत ?'
अब प्रेम-विभोर निषादराज ज्यो राम-मिलन
दोनो के नयनो मे दोनो के सजल नयन
दोनो ही राम-भक्त दोनो से आलिंगित
दोनो की प्रेम-दशा से मुनि-मन आनन्दित !
रघुकुलगुरु ने गुह को छाती से लगा लिया
ऋषि-गौरव के अनुकूल विमल आशीष दिया
तब कहा भरत ने—'गगा पर क्यों जलसेना ?
चाहते धनुर्धर क्या इस घडी प्राण लेना ?

तो हे निषादपति ! कहो उन्हे, दें मुझे मार
कर दें वे मेरे वक्षस्थल पर शर-प्रहार
मेरे ही कारण हुए राम वन के वासी
मैं ही तो हूँ वह अपराधी सत्यानाशी !'

सुन भरत-शब्द, गुह का अन्तर अब आत्म-द्रवित
अग्रज के प्रति दृढ आस्था से मन-प्राण चकित
आतिथ्य-ग्रहण के लिए प्रशंसामय विनती
कोमल-कोमल शब्दों की कौन करे गिनती !
प्रेमामृत से धोए-धोए-से वाक्य सभी
राम की भक्त-वाणी से भरत विभोर अभी
झरती आँखों से सुधि-रंजित अब अश्रु-सुधा
इस अर्चन से पूजित गंगा-तट की वसुधा !
बोले रामानुज . 'मेरे संग असंख्य लोग
है सबके लिए असह-दुस्सह रघुपति-वियोग
अच्छा होता कर देते सबको अभी पार
आतिथ्य ग्रहण करते हम सब लौटती बार !—
तब रहते सबके संग प्रसन्न अयोध्यापति
तब दिखाई पड़ती उमंग मे नूतन गति
पर, अभी शीघ्र चलना ही सबका काल-धर्म
कैसे मैं प्रकट करूँ विछोह का प्राण-मर्म !
तन यहाँ किन्तु मन राम-चरण पर झुका-झुका
उस चित्रकूट मे ही उर का आवेग रुका
बस, कर दो सबको पार ताकि कुछ और चलें
जितना हम निकल सकें उतना भी तो निकलें !'
गुह बोल उठा—'है राम-तीर्थ यह गंगा-तट
सोए थे जिसके नीचे प्रभु, यह है वह वट
रामाक्षर अंकित जहाँ, वही है राम-घाट
रहना ही होगा सबको इस तट आज रात !
भोरे-भोरे हम सबको पार उतारेंगे
पर आज अभी तो सबका चरण पखारेंगे

मेरी पूजा जिनके भाई ने की स्वीकृत,
उनके आने से नयन-प्राण-मन आज मुदित !
हे भरत ! आपका रूप राम से मिलता है
आपको देख कर हृदय कमल-सा खिलता है
अपराधी मान लिया है क्यों अब अपने को
कीजिए पूर्ण अपनी इच्छा के सपने को !
प्रभु के उर में हैं आप, आपके उर में प्रभु
है सत ! आपकी सांसों के हर सुर में प्रभु
आपके स्मरण से उनकी आंख छलकी थी—
स्नेही आंसू में उज्ज्वल आभा झलकी थी !"

•

गुह के आत्मीय वचन ने मन को मना लिया
उस राम-तीर्थ ने सबको निशि भर टिका लिया
गड़ गए शिविर, बस गई एक बस्ती तट पर
उस रामघाट पर लिखा भरत ने प्रेमाक्षर
प्रिय भक्त निषादराज ने अति सत्कार किया
सबने मन-ही-मन उसका जयजयकार किया
उस अनासक्त सेवा से भरत विभोर हुए
मन के मेघों को देख, सभी दृग मोर हुए !
सारी जलसेना सेवा में तल्लीन हुई
अलसित आंखें निद्रा के स्नेहाधीन हुईं
एकान्त रात में किया भरत ने तट-पूजन
श्रीराम-शयन-भू के समीप नयनों में घन !
नयनों में घन, नयनों में घन, नयनों में घन
गुह की स्मृति-वार्ता सुन-सुन कर मेघिल चितवन
अग्रज के अनुमानित दुख से कम्पित तन-मन
निशि भर नयनों के सुधि-पथ पर स्वप्निल विचरण !
सूर्योदय के पहले ही सब उस पार हुए
चलने की वेला बार-बार जयकार हुए
आगे की यात्रा में निषादपति भरत-संग
श्रीराम-मिलन के लिए हृदय में नव उमंग !

यह जान कि रघुपति पैदल गए यहाँ से वन,
चल पड़े मार्ग पर अनुज-मित्र-सँग भरत-चरण
रथ पर न चढ़े वे माता के कहने पर भी
छत्र का न आश्रय, तप्त धूप सहने पर भी !
संयोग कि नभ में पिछले दिन-सा फिर बादल
शीतल समीर के बहने से यात्री अविकल
मन पर प्रिय-मिलन-विकलता ही छितराई-सी
मानो तन-मन पर पड़ी राम-परछाईं-सी !
बातों ही बातों में दूरी घटती जाती
आँखें प्रयाग-दर्शन-हित अतिशय अकुलातीं
कहता है गुह कि 'त्रिवेणी-संगम अति पावन
थे रुके वहाँ सीता-समेत राम-लक्ष्मण !'
प्रभु की चिन्ता में ही निमग्न यात्री पथ पर,
पहुँचे प्रयाग में भरत आज तीसरे पहर
चलते-चलते पद-कमल हो गए लाल-लाल
रुक गई त्रिवेणी के तट पर सेना विशाल
उजली-नीली धारा पर टिके हुए लोचन
कर रहे स्नान श्रद्धा-पूर्वक अब आगत जन
अन्तिम स्नानार्थी भरत, भावना में विभोर
संगम की लहरों-सी वन्दनमय मन-हिलोर
जल-दर्पण में सीतापति की सुधि की झाँकी
सारस्वत मंगलता शुचि गंगा-यमुना की
तीनों पवित्रता से पुलकित अन्तर-प्रवाह
है भरत-हृदय भी अमृत-सिन्धु-सा ही अथाह !
कैकेयीनन्दन आए अब आश्रम-वन में
मुनि भरद्वाज की दर्शन-अभिलाषा मन में
चरणों पर दशरथनन्दन का अर्पित प्रणाम
मुनिराज प्रसन्न हुए सुन कर प्रिय राम-नाम
श्रीरामानुज का किया प्रेम से आलिंगन
गद्‌गद् वाणी से झरे हृदय के स्नेह-सुमन :
'हे त्याग-तीर्थ प्रिय भरत ! तुम्हारी जय निश्चित
मैं नहीं अयोध्या-घटना से आश्चर्यचकित

जग की लीला हम ऋषियों से अनभिज्ञ नहीं
हम देख रहे प्रज्ञा-लोचन से दृश्य मही
स्पन्द-समान दशरथ-परिवार सचेतन है
रज-तम-सत् की क्रीडा ही तो जन-जीवन है !
नदियों के सगम-सा ही विविध शक्ति-सगम
नव रस-समान ही प्रेम प्रधान भक्ति-सगम
अन्तर्मन-आत्मा का सगम ही तो प्रयाग
इसके दर्शन से ही तो मिल पाता विराग !
हे भरत ! तुम्हीं हो राम-हृदय जिसमें प्रकाश
सज्जनता में ही तो करते हैं सत वास
तुम व्यक्ति नहीं, अभिव्यक्ति प्रेम की महिमा की
तुम आलोकित साकार हृदय की गरिमा की
जो तुम्हें जानता, मिलता उसको राम-तत्त्व
राम ही जानते है कि भरत का क्या महत्त्व
साकार प्रेम ! मेरा प्रणाम स्वीकार करो
है जहाँ कही रिक्तता हृदय मे, उसे भरो !'

सुनते ही यह, छलछला उठे दोनो लोचन
लज्जा में डूब गया दो क्षण प्रिय-विरही मन
बैठाया मुनि ने उन्हे स्नेह से आसन पर
अब अनायास ही बदल गया बातो का स्तर .
हे भरत ! निपाद-नृपति ने सब कुछ कहा अभी
दुस्सह दुख भी आता जीवन मे कभी-कभी
इन्द्रिय-दशरथ के भाव-चक्र फँस जाते भी
अति मोह-मोह से सबल प्राण अकुलाते भी !
मतिभ्रान्त कामना-कैकेयी जब हठ करती,
तब धर्म-मार्ग पर भी कुनीति तम-पग धरती
ईर्ष्या के कारण टल जाता सत्याभिषेक
देती है कलह-मन्थरा बाधाएँ अनेक
नव कपट-कपट मे ममता-कौसल्या चिर-चिन्तित
साधना-सुमित्रा गृह-अशान्ति से चुप, चिन्तित

जब सत्य स्वय निर्वासित निज आभा-समेत,
तब क्यो न अयोध्या बने शोक का दुख-निकेत ?
हे भरत ! इस समय तुम्ही प्रेम-आलोक एक
बिखराता आशा-किरण तुम्हारा ही विवेक
प्रभु वही, जहाँ पर प्रेम दिखाई पडता है
वह जहाँ, वही आनन्द-कुसुम भी झरता है !
हो जाता यदि आसक्त प्रेम सिंहासन पर,
दोषी कहलाता नही कभी उज्ज्वल अन्तर
लेकिन हे प्रेम ! सदा से ही तुम त्याग-रूप
सहृदयता के कारण तुम बनते नहीं भूप !
हे भरत ! प्रेम से तुमने जग को जीत लिया
शिव के समान तुमने भी तो विषपान किया
सिंहासन पर तुम नहीं, तुम्हारा अमृतकलश
है अमर तुम्हारा अगजग मे प्रेमोज्ज्वल यश
हे प्रेम-प्रयाग ! तुम्हारा दर्शन-तीर्थ विरल
पावन सबके-हित अन्त करण-त्रिवेणी-जल
मन-वचन-कर्म मे समरसता ला सके तुम्ही
हे राजहस ! अनुपम मानस पा सके तुम्ही !
सुर-सहज सिद्धि तो पुण्यवान ही पाता है
कोई कोई ही साथ सभी कुछ लाता है
सच कहता हूँ हे भरत ! आज मैं हुआ धन्य
तुमसे उत्तम शुचि प्रेमपुरुष है नही अन्य !'

सुन भरद्वाज मुनि-वचन, सभी अति आनन्दित
पर, शीलशिरोमणि भरत स्नेहवश कमल-नमित
निज प्रेम-प्रशसा सुन कर उनके नयन सजल
राम के ध्यान मे लगा हुआ मन प्राण-विकल
बोले सविनय वे—'हे मुनिवर ! सच कहता मैं
प्रभु राम-विना प्रतिपल उदास ही रहता मैं
लगती न भूख, आती न नींद, हँसते न अधर,
मेरे मन मे उठती न कभी आनन्द-लहर

फीका फीका लगता सबकुछ, सबकुछ सूना
दिन पर दिन होता जाता है उर-दुख दूना
फिर भी मै जीवित हूँ निज आशा के कारण
आया है हरिण-समान यहाँ तक मेरा मन
श्रीराम अयोध्या लौटें, यही पिपासा है
उनके चरणो मे रहूँ यही अभिलाषा है
अब शोक पिता का नही, न दुख निज माता का
है सोच एक बनवासी अन्तर-ज्ञाता का
मुनिराज! आप मर्वज्ञ, आपसे कुछ न छिपा
देखते तत्त्वदर्शी लोचन ही विश्व-प्रभा
कहिए कि राम कैसे हैं? कैसे रहते हैं?
वे किस प्रकार वन कष्ट रात-दिन सहते है?
पादुका-रहित वल्कलधारी फल-आहारी—
हे दैव! राम-सीता-लक्ष्मण भी वनचारी?
वृक्षो के नीचे भूमि-शयन कुश-शय्या पर?
सुनता हूँ, दुख ही दुख सहते कोमल-दिनकर।
मैं इसी ग्लानि-ज्वाला मे प्रतिपल जलता हूँ
अपनी ही करुणा से अपने को छलता हूँ
है मुझमे प्रेम कहाँ? मुझमे है त्याग कहाँ?
मेरे प्राणों मे वह उज्ज्वल अनुराग कहाँ?
मैं एक अशुभ ग्रह के समान ही दुखदाई
मेरे चलते वन मे सीता,—वन मे भाई
राज्याभिषेक हो गया स्थगित मेरे चलते
ससार हो गया शोक-चकित मेरे चलते
सब उलटफेर मेरे चलते, मेरे चलते
हर ओर व्याप्त है दुख-झकोर मेरे चलते
मैं निन्दनीय अपराधी का दृष्टान्त एक
मेरी जननी ने जला दिया मेरा विवेक।
मैं कुल-कलंक, मैं गरल इव, मैं तम-नयक
मेरे सूखे उर के सर मे अब पाप-पंक
जलहीन मीन-सा छटपट-छटपट करता मन
हो रहा निरर्थक, राम बिना सार्थक जीवन।'

सुन भरत-करुण चीत्कार महामुनि प्रेम-द्रवित
पावन लघुता से भीतर की उच्चता विदित
यह सोच कि प्रेम सदा समतल पर रहता है,
इसलिए हृदय की बात हृदय ही कहता है !
उतना ही ऊँचा वह, जितना है जो नीचे
जिनमें जितना ही अहंकार, उतने पीछे
है नहीं भरत में लेशमात्र भी कोई मद
जो साधु पुरुष, उसको न चाहिए कोई पद
जग में सर्वोत्तम प्रेम-प्रशासन ही होता
सत्ता-विहीन सेवक ही जन-करुणा टोना
—मन-ही-मन भरद्वाज ने आत्म-विचार किया,—
गद्गद् होकर अपना यह आशीर्वाद दिया :
'साकेत-संत ! हो सफल तुम्हा से राम-कार्य
तुम करो सदा उनकी आज्ञा को शिरोधार्य
तुम बनो विश्व-बन्धुत्व-भाव के विजय-केतु
तुमसे रक्षित हो भारत का भ्रातृत्व-सेतु !
हे राम-बन्धु ! स्वीकारो मेरा आमंत्रण
करना है सबको आज रात आतिथ्य ग्रहण
अवसर दो आश्रम को कि करे सेवा सबकी
चलते-चलते सेना भी होगी थकी-थकी'

विस्मय में भरत कि मेरे संग असंख्य लोग
कैसे संभव सबके हित भोजन का सुयोग ?
जुट पाएगी सामग्री इतनी किस प्रकार ?
मुनिराज-हृदय में आया कैसे यह विचार ?
बोले दशरथनन्दन कि 'धन्य हम दर्शन से
क्या स्नेह आपका कम प्रस्तावित भोजन से ?'
पर, भरद्वाज ने कहा कि 'आश्रम-इच्छा यह
करना ही है स्वीकार आज मेरा आग्रह !'

बोले श्रीभरत कि 'आज्ञा का होगा पालन
आए हैं अवधपुरी से भी कुछ सेवकगण
कहिए तो उन्हें बुला लूँ हाथ बटाने को
क्या कह दूँ इसी समय हे मुनिवर ! आने को ?'
पर, भरद्वाज ने कहा कि 'व भी अतिथि आज
हैं अतिथि राजपरिवार, अयोध्या के समाज
हे भरत ! तुम्हारे अश्व-हस्ति भी आज अतिथि
आश्रम सक्षम है स्वागत हित सचमुच सब विधि !'
खिल उठे भरत सुन, भरद्वाज के सिद्ध वचन
आ गए वहाँ पर गुरु वसिष्ठ भी तो उस क्षण
आसन से उठ कर भरद्वाज ने किया नमन
आलिंगन से खिल गए तुरत आनन्द-सुमन !
आईं अभिवादन-हेतु राजमाताएँ भी—
कुलवधू-सग कतिपय विदुषी वनिताएँ भी
कौसल्या मुदित किन्तु कैकेयी क्रन्दित-सी
उर्मिला स्वय मुनि के द्वारा अभिनन्दित सी
दो अश्रु-बिन्दु पर एक मधुर मुस्कान दिव्य !
आँखों मे अटका-सा वियोग बलिदान दिव्य
माण्डवी मौन, श्रुतिकीर्ति मौन, उर्मिला मुखर,—
है मन मे ही मन के उमड घुमड से स्वर !

मुनि भरद्वाज-सत्कार देख कर सभी दग
जैसा जिसका मन, वैसी ही स्वागत-तरग
रुचियों के ही अनुरूप सुभोजन, शय्या-सुख
शिविरों की नगरी में न कहीं कोई भी दुख !
प्रत्यक्ष तपोबल से इच्छित आनन्द-भोग
शोकान्धकार को मिटा रहा-सा सिद्धि-योग
कुछ ही घडियों मे सभी लोग निद्रा अधीन
केवल दोनों दशरथनन्दन सुख से विहीन !
मुनि भरद्वाज ने कहा भरत से—'दुखी न हो
क्या त्रुटि रह गई, उसे हे तात ! तुरन्त कहो !'

पर, कुछ भी भरत नहीं बोले उस कुटिया मे
रह गई राम-सुधि नयनो की निद्रा थामे !
प्रात ही उजड गया मुनि का निशि-स्वप्न-स्वर्ग
ज्यो के त्यों तत्पर हुए भोर मे यात्रिवर्ग
सम्पन्न त्रिवेणी-स्नान, ध्यान, मुनि-नमस्कार
प्रस्थान-काल मे राम-नाम का महोच्चार
जिस पथ से राम गए, उस पथ मे ही प्रयाण
आज भी मेघ से घिरा-घिरा अम्बर-वितान
कल के समान ही तो शिव-नभ की कृपा आज
बादल विलोक कर अति हर्षित यात्री-समाज !
वन-कु ज-कु ज मे मोरपंख भी खुले, खिले
खुलते-खिलते-से फूल परस्पर हिलेमिले
आती-जाती-सी भृ गावलि भन-भन करती
झुरमुट मे छिपी-छुपी मृगश्रेणी कुछ डरती
कोलाहल से उडते खगदल मे भी कलरव
वन की शोभाएँ हरी-भरी मोहक अभिनव
हिनहिना रहे घोडे, हाथी चिग्घार रहे .
जो छूट गए पीछे, क्या उन्हे पुकार रहे ?
गुह भरत-सग आगे-आगे उत्साह-सहित
अतिशय आशा के कारण आकुल-प्राण मुदित
विश्वास-भरे मन पर छिटकी-सी मिलन-किरण
आस्था के कारण आत्म-सबल सुधि-चित्रित मन !
आते-आते यमुना की नीली धार मिली
गुह के प्रताप से नौकाएँ इस बार मिली
चलते-चलते पथ मे पडाव, फिर नव प्रयाण
गाँवो के नर-नारी मे कौतूहल अजान
युवती कहती—'क्या रामचन्द्र वल्कलधारी ?'
'है साथ-साथ लक्ष्मण भी'—कहती वह नारी
कोई कहता—'सेना किसमे लडने जाती ?'
कहता कोई—'लगता कि सभी है बाराती !'
पालकी देख कर ग्राम-किशोरी पुलकित-सी
रथ को निहार कर पोडशियाँ भी हर्षित-सी

नव वधू बोलती—'वर का पता नहीं चलता,
गाजे-बाजे को नहीं देख कर मन खलता !'
गाँवों के बच्चे अगल-बगल से निकल रहे,
हाथी-घोड़े को देख, बहुत वे उछल रहे
पर, एक वृद्ध ने पीछे से कुछ पूछ लिया,—
प्रिय भ्रातृ-प्रेम के आगे मस्तक झुका दिया !
सुन सत्य बात, महिलाएँ ओठ दबाती-सी,—
वे राम-मिलन के गीत अचानक गाती-सी,—
कुछ भरत-हेतु अकुलाती-सी,—सकुचाती-सी
कुछ मन-ही-मन कल्पना-सुचित्र बनाती सी।
आते-आते आ गए सभी अब बहुत निकट
भीतर-ही-भीतर भरत-हृदय करता छटपट
यह जान कि सम्मुख चित्रकूट का उच्च शिखर,
अत्यधिक प्रेम से आह्लादित कोमल अन्तर :
'हे राम ! लाज लग रही मुझे, कैसे आऊँ !
मैं किस प्रकार अपना उर-दर्पण दिखलाऊँ !
सकोच हो रहा है मन में, आऊँ कैसे !
हे नाथ ! आपके पद-रज को पाऊँ कैसे !
हैं कहाँ आप ? हैं किधर आप हे प्रभु महान् !
आपके बिना सूना ही सूना भरत-प्राण
प्रेम के सिवा मुझमें कोई भी तत्त्व नहीं
आपके बिना इस जग में भरत-महत्त्व नहीं !'

सोचते-सोचते कैकेयीनन्दन चलते
आरती-दीप की भाँति प्राण-मन भी जलते
प्रभु की स्मृति-पूजा से पुलकित पावन शरीर
नयनों से झरता कभी-कभी आनन्द-नीर !
इस ओर राम, उस ओर राम, हर ओर राम
सुधि के अवनी-अम्बर में केवल राम-नाम
हो गया राममय चित्रकूट, स्थिति अब ऐसी
अन्तर्भावना असीमित स्वयम् भक्ति-जैसी !

उन तन्मयता को देख, निषादनरेश चकित
नख से शिख तक श्रीराम भरत मे प्रतिबिम्बित
बोले गुरु से कि 'हे भाई ! अब चलें किधर ?
सेना कैसे चल पाएगी पगडण्डी पर ?
उठ रहा धुआं उस ओर, कदाचित राम वही
अच्छा रहता रुक जाते सैनिक अभी यही
इस समतल भू पर शिविर लगाए जा सकते
सबको हम सुविधापूर्वक यहाँ टिका सकते !'

इस ओर विविध चिन्ताएँ, वन-आनन्द उधर
लक्ष्मण की राम-कुटी सब विधि सात्विक, सुन्दर
उस पर्णकुटी को देख, राम-सीता हर्षित
भाई की शिल्पकला पर अग्रज-नयन चकित
उस दिन वैदेहीपति से अनुज प्रशंसित अति
सुन कर सम्मति सानन्द सुमित्रासुत लज्जित .
'रच दिया स्वर्ग तुमने मोहक वन-कानन मे
हे बन्धु ! मगन मन चित्रकूट के आँगन मे !
हम भूल गए प्रासादो के सब सुख-सपने
अब तो जाने-पहचाने गिरि लगते अपने
तरुलता-फूल, खग-मृग, सरिता-निर्झर सुखकर
हे बन्धु ! हमारा चित्रकूट नैसर्गिक घर
इस वनस्थली को करता हूँ मैं नित प्रणाम
लेता हूँ वाल्मीकि ऋषि का मैं नित्य नाम
तुलसी-दल उन्हे नित्य ही अर्पित करता हूँ
वन-पथ पर उनकी सुधि मे सहज विचरता हूँ !
मगलमय चित्रकूट ऋषि-इच्छा के कारण
रम रहा राम का इस पर्वत-कानन मे मन
ऐसा लगता कि स्वय आत्मा बस गई यहाँ
कृत्रिम नगरो मे नैसर्गिक आनन्द कहाँ !
सरयू के कारण शोभा बढी अयोध्या की
नदियों के कारण सरस भूमि है मिथिला की

गंगा-यमुना से अभिसिंचित भूभाग धन्य
है धन्य दिव्य काशी, तीर्थेश प्रयाग धन्य !
यह आर्यावर्त महान, हिमालय के कारण
सुषमाओं से सम्पन्न विविध विन्ध्याचल-वन
दक्षिण-पथ को ढूँढा अगस्त्य ऋषि ने केवल
उनके तप से ही कावेरी का पावन जल
हे बन्धु ! दक्षिणी छोर महासागर-मण्डित
पर, हम तो केवल दण्डकवन तक ही सीमित
हम नहीं कदाचित देखेंगे रत्नाकर को,—
सुन नहीं सकेंगे ज्वार-भरे गर्जित स्वर को !'

यह चित्रकूट आनन्द-साधनाभूमि सुभग
नीचे से ऊपर जाने को पर्वत पर मग
गिरि-कुञ्जों में भी पगडण्डी, निर्मला गुहा
प्रातः नगमाला पर आच्छादित श्वेत कुहा
'ऋषि-चरणों से सरणियाँ नित्य होती पवित्र'
—बोले स्नानार्थी राम कि 'देखो प्रकृति-चित्र,—
हे प्राणवल्लभे ! डुबकी अभी लगाओ मत
रुक जाओ तनिक जानकी ! अभी नहाओ मत !
हंसिनी हंस के संग मृणाल मरोड़ रही
देखो—देखो दोनों पंकज को तोड़ रही
पंखों की खुली हुई छाया हिलती जल में
मेरे तो दोनों लोचन दोनों उत्पल में !
देखो उन मृगों को जो उड़ते आते हैं
तट पर वे तीनों सारस पर फैलाते हैं
देखो उस हरिणी को जो पीती है पानी
लो गूँज उठी उस आम्रकुंज से पिक-वाणी
फूलों की डाली देख रही जल-दर्पण को
चारों मयूर हैं लुभा रहे मेरे मन को
है ढका हुआ पीले पुष्पों से अमलताम
कितने मनमोहक हैं दोनों पुष्पित पलाश

सीते ! यह मन्दाकिनी स्वर्ग से बहती है
इसकी जलधारा नित्य हमें कुछ कहती है
देखो वे तीनों ऋषि उपासना में तन्मय
देखो वह मृगश्रेणी जो दौड़ रही निर्भय
लो, अब सरोज खिल गए सभी, अब करो स्नान
होने को है अब जल्दी ही स्वर्णिम विहान
हम आज करेंगे परिक्रमा कामदनग की
निर्झर में रख देंगे थकान अपने पग की !
दोपहरी में हम भील-कुटी में जाएँगे
उन कोल किरातों को भी कहो बुलाएँगे
वनवासी मानव में कितनी निश्छलता है
संतोषी जीवन में न प्रलोभ-विकलता है !"

इस भाँति राम के सुखमय दिन कटते जाते
नयनों में सुखद निसर्ग-दृश्य अटते जाते
कहती वैदेही—'दण्ड बड़ा ही सुखकर है
इस चित्रकूट से उत्तम भी कोई घर है ?
ऋषि-मुनियों का सत्संग शान्ति भरता मन में
फैली है शान्ति-छटा गिरिमय वन-उपवन में
है भीतर-बाहर जहाँ शान्ति, है वही स्वर्ग
तन-मन आनन्दित जहाँ, वही निर्मल निसर्ग
निष्क्रिय भी तो हम नहीं, कुछ-न-कुछ करते हैं
मेरे ये हाथ कलश में पानी भरते हैं
रहती मैं अवधपुरी में तो यह करती क्या ?—
सरयू-तट जाकर नीर कभी भी भरती क्या ?
श्रमहीन नारियों का असफल जीवन होना
केवल सुख-शय्या पर दुर्बल यौवन सोना
गृह-कार्य सम्हाले नहीं, भला वह भी नारी ?
नारी क्या केवल तन-वसन्त की फुलवारी ?
सुन्दरता तो इसलिए कि सुन्दर बने कर्म
कोमलता भी इसलिए कि हो मृदु कला-मर्म

है कर्महीन नारी ही जग मे धर्महीन
आलसी नारियो का मन हो जाता मलीन
हे नाथ ! सुनयना माँ ने दी थी यह दीक्षा
मुनि याज्ञवल्क्य ने भी दी थी नैतिक शिक्षा
कौसल्या माता से भी सीखी कर्म-नीति
सत्कर्मो पर सब दिन से सीता को प्रतीति
जितना अवकाश मुझे, उतना तो कर न रही
पथरीले पथ पर अब भी पग को धर न रही
देवर ही करता काम अधिक, मैं नही नाथ !
रह जाते हैं अकुलाते मेरे मृदुल हाथ
चन्दन भी घिसता वही, जलाता वही आग
पहरा भी देता वही रात भर जाग-जाग
देखिए अभी वह सूखी लकडी लाएगा—
फिर किसी काम के लिए तुरत अकुलाएगा !
लगता कि कर्म का धर्मदूत ही लक्ष्मण है
सेवा-सुलक्ष्य पर टिका-टिका उसका मन है
जाने क्यों आज विलम्ब हो रहा आने मे
है हुई असुविधा क्या समिधा को लाने मे ?'

भीलो के सँग दौडते हुए आए लक्ष्मण
सिर के बोझे को पटक दिया भू पर तत्क्षण
आक्रोश-भरी आँखें लगती कुछ लाल-लाल
तमतमा उठा-सा मुख ज्यो क्रोधित महाव्याल !
बोले वे—'हे भाई ! अति दुस्सह समाचार
आ रही इधर ही आज शत्रु-सेना अपार
देखिए, धूल से भरा हुआ आकाश उधर
झझा के भय से चले आ रहे विहग इधर
देखिए, सैकडो हरिण भागते आते हैं
अनि भय से हिंसक पशु भी अब अकुलाते हैं
अब अधिक बात ये भील-कुमार बताएँगे
जो सुना वहाँ, उसको हो यहाँ सुनाएँगे !'

'क्या बात बन्धु ?'—पूछा राम ने सहज स्वर से,—
'पशु-पक्षी भाग रहे सचमुच किसके डर से ?
इस तपोभूमि मे सेनाएँ क्यो आएँगी ?—
वे इस वन मे किससे लड कर क्या पाएँगी ?'
बोला तब भीलकुमार कि 'प्रभु ! सेना विशाल,—
आ रही इधर बढती, ज्यो वन मे अग्नि-ज्वाल
अति क्रूर कियी कैकेयी का आगमन आज
होगा इस चित्रकूट पर ही आक्रमण आज
हे देव ! भरत नामक उसका सुत भी आता
उसका रणमय मन शत्रु-रक्त-हित अकुलाता
छटपटा रहा वह लडने को कब से पथ पर !
बैठे हैं योद्धागण हाथी-घोडे-रथ पर !
चिन्ता न करे हे नाथ ! भील तैयार सभी
आएँगे कोल-किरात-वीर भी यहाँ अभी
हर पर्वत से हम सीधे तीर चलाएँगे—
मर जाएँगे पर माथा नही झुकाएँगे !'

'कैकेयी ? भरत ? और सेना ?'—गभीर राम
पर, आह्लादित अन्तस्तल सुन कर भरत-नाम :
'प्रिय भरत आ रहा, अहा ! आज शुभ दिन कितना !
मुझ पर तो उसका प्रेम सदा अत्यन्त घना
आ रही अहा, माता भी ! कहाँ बिठाऊँगा ?
मैं ही दर्शन के लिए दूर तक जाऊँगा
हो गए बहुत दिन पग छूए—पद-रज पाए
उनके समक्ष हो गए बहुत दिन मुसकाए !
इस तपोभूमि मे रहने का फल मिला आज
सचमुच ही एकाएक उर-कमल खिला आज !'
—आनन्द-चिन्तना मे श्रीराम विभोर हुए—
कुछ क्षण तक उनके भाव प्रसन्न मयूर हुए !
देखा लक्ष्मण ने भाई को चिन्तित ज्योही,
हो गई मुखर उपयुक्त नीति-वाणी त्योही :

'मेरे रहते भी दुखी आप हो रहे वन्धु ?
मेरे रहते भी चिन्ताएँ ढो रहे वन्धु ?
स्वामी हे ! सेवक जीवित है, चिन्ता न करें,—
अपनी प्रसन्नता से मुझमें उत्साह भरें
खल-दल-विनाश-हित मैं केवल पर्याप्त वन्धु !
कर सकता मैं ही अरि को स्वयम् समाप्त वन्धु !
मेरे रहते चिन्ता न करें, चिन्ता न करें,
आ गए कुपथ पर जो, वे ही कापुरुष डरें
जो सत्य-मार्ग पर है, उनकी जय निश्चित है
सेना को लाना चित्रकूट में अनुचित है !
हे राम ! आपके जो प्रिय हैं, वे मेरे भी
सह लेता हूँ मैं, यदि कोई कुछ छेड़े भी
पर, छली व्यक्ति के लिए व्याल वन जाऊँगा
मैं कुटिल पुरुष के लिए काल वन जाऊँगा
सज्जन जव दुर्जन वन कर सम्मुख आता है,
तव उसे देख कर मेरा मन अकुलाता है
अपना वन कर जो मनुज पराया हो जाता,
उसके खोटेपन से मेरा जी घवराता
हे देव ! ढिठाई करता हूँ कुछ कह कर मैं
चुप रहूँ भला आपका निरादर सह कर मैं ?
हैं आप सभी के लिए सुहृद्, हितकारी भी
सिंहासन तज कर वने आप वनचारी भी !
पर, जिसको सबकुछ दिया, वही अव शत्रु विकट
किसके कारण है फैल रही यह कपट-लपट ?
होता है प्रकट समय पर असली अरि-स्वरूप
भाई से भी विश्वासघात कर रहा भूप
प्रभुता के गज-मस्तक में मद चूना ही है
कपटी मानव तो अहम्-शिखर छूना ही है
पद का मद जिसमें, मर्यादा उसमें न तनिक
सेना लेकर आ गया भरत वन में ? धिक्-धिक् !
हे निर्वासित ! आपमें यहाँ वैराग्य-भाव
फिर भी कैकेयीपुत्र कर रहा है दुराव !

नैतिकता उनमें कहाँ राजमद के कारण
उनमें न तनिक भी प्रेम, प्राप्त पद के कारण
ललकारा है—उनने हमको ललकारा है
स्यारों ने सिंहों को ही आज पुकारा है
आखिर कितना हम सहें और मन को मारें ?
कायर बन कर अब रिपु-दल को कैसे टारें ?
आपकी कृपा से लक्ष्मण-बाण अचूक बन्धु !
रण में क्षत्रिय कैसे रह सकता मूक बन्धु ?
सक्षम हैं शत्रु-दमन-हित मेरे शक्ति-तीर
एक ही बाण से छँट जाएगी स्यार-भीड़
मारने हमें जो आया, मारा जाएगा
अपनी करनी के कारण अरि पछताएगा
अवसर आया है राम ! आज कुछ करने का
फल मिल जाएगा उसे बन्धु से लड़ने का
सक्रोध वीरता जाग उठी मेरे मन में
अपना कौशल दिखलाएगा लक्ष्मण रण में
जागा है मेरे मन का क्रोधित शेष नाग
मैं भूल गया हे बन्धु ! आज वन का विराग
डोलेगी धरती, डोलेगा आकाश आज
उत्क्रान्त वीररस का मुझमें वातास आज
होगी—होगी हे राम ! सत्य की महाविजय
जीतेगा-जीतेगा लक्ष्मण रण को निश्चय
पाएगा शत्रु निरादर का मुझसे ही फल
देखेगा वह कि राम-सेवक में कितना बल
उसकी कुटिला माता भी रण में आई है
हे राम ! समर की घटा चमक कर छाई है !!
संग्राम आज जम कर होगा इस कानन में
भर गई आग ही आग आज मेरे मन में
होता है कभी-कभी ही भू पर रक्त-पर्व
आज ही शत्रु का हो जाएगा नष्ट गर्व
बस, आज्ञा हो कि गगन में छोड़ूँ प्रथम बाण,—
दूँ तान तुरत ही धुएँ का श्यामल वितान

हो जाए धूमिल एक बाण से आसमान
लग जाय धडकने जरा शत्रु के प्राण-प्राण ।'

सुन, तेजस्वी लक्ष्मण की ओजस्वी पुकार,
राम ने निहारा सीता-मुख को एक बार
विपरीत परिस्थिति मे भी राम अधीर नही,
उनके कोमल कर मे कोई भी तीर नही !
बोले वे—'हे भाई ! तुम निश्चय नीति-कुशल
अवगत है मुझे कि तुममे कितना क्षत्रिय-बल
तुम-जैसे अनुजो पर अग्रज को गर्व सदा
आई न तुम्हारे कारण कोई भी विपदा
मैं धन्य कि मेरे सभी बन्धु आज्ञाकारी
अक्षुण्ण रहे बन्धुत्व-भाव की फुलवारी
भ्रातृत्वहीन, मैत्री-विहीन जीवन दरिद्र
इनके अभाव मे मानव-सुखसाधन दरिद्र
अज्ञानी भाई ही भाई से लडता है
भय के कारण भय ही तो भय से डरता है
प्रतिकूल दशा मे भी सत्प्रीति अटल रहती
पथरीले पथ में भी मन की गगा बहती
अविवेकी शासक मे अधिकाधिक मद होता
मद के कारण ही व्यक्ति एक दिन अति रोता
सत्सगहीन शासक मद-मदिरा पीता है—
जीने के लिए सिर्फ वह जीवन जीता है !
हे लक्ष्मण ! भरत-समान बन्धु दुर्लभ जग मे
खिलते हैं प्रेम-प्रसून सदा उसके मग में
जिस घर में एक भरत, उस घर में प्रेम-दीप
मिलता है किसी-किसी गृह को ही उर-महीप
गुण ही गुण जिसमे, वही भरत शुचि शीलवान
कैसे मैं कहूँ तुम्हे कि भरत कितना महान
अति भाग्यवान वह, जिसे भरत-सा बन्धु मिला
जिस कुल में एक भरत, उसमे कुन्देन्दु खिला !

हे लक्ष्मण ! अपने भाई पर विश्वास करो
संदेह-भरे मन में स्वाभाविक स्नेह भरो
पावन जन के होते हैं पावन साधन भी
उत्तम आराधक का होता उत्तम मन भी
तुम चाहो तो वह तुम्हें राज्य दे सकता है
घन में भी सुन्दर चन्द्र-प्रकाश छिटकता है
माना कि आ रही सेना पर, किसलिए बन्धु ?
मानूँ कैसे, मद-सुरा मग्न हैं प्रिय बन्धु !
क्या भरत राम-हत्या करने को आएगा ?—
निज माता को इस कारण ही वह लाएगा ?
लक्ष्मण ! लक्ष्मण ! तुमने क्यों ऐसा सोच लिया ?
सर्वोत्तम भ्राता पर तुमने सन्देह किया ?
हे दैव ! हुई मन-मलिन राम की तपस्थली
भाई के प्रति भाई के मन में आग जली
क्या चित्रकूट में मुझसे कुछ अपराध हुआ ?
भाई का सात्विक मन भ्राता-हित व्याध हुआ ?
लक्ष्मण ! लक्ष्मण ! लक्ष्मण ! प्रिय भरत तुम्हारा है
वनवास-काल में भरत धर्म-ध्रुवतारा है
प्यारा है, भरत राम का अतिशय प्यारा है
व्यर्थ ही आज तुमने उसको ललकारा है
विश्वास करो मत झटपट उड़ती बातों पर
जीवन में समझ-बूझ कर ही चलना हितकर !
दुश्चिन्ता से मन उत्तेजित हो जाता है
शंका के कारण सबका जी अकुलाता है
मेरे प्रति तुममें अतुल भक्ति, तुम स्नेह-सबल
तुम सजग, सतर्क सदा ही हे भाई ! निश्छल
अति भक्ति-भाव के कारण ही तुम उत्तेजित
अन्यथा भरत का राम-प्रेम तो तुम्हें विदित !
सेना है अभी सुदूर और है साँझ निकट
सूरज को छिपा रहा है देखो, वह प्रिय वट
उस पीपल की फुनगी पर लाली छाई है
पाकर, रसाल पर सान्ध्य किरण छितराई है

लगता कि उधर ही होगा सेना का पडाव
मेरे उर मे हे बन्धु ! छलकता प्रेम-भाव
भाई से मिलने को उत्सुक मेरे लोचन
जाने किस क्षण छू पाऊँगा मैं मातृ-चरण !
लक्ष्मण ! सुबन्धु-माता-हित कुछ फल ले जाओ
घट मे पयस्विनी का भी प्रिय जल ले जाओ
अर्पित कर आओ तुम्ही राम का प्रिय प्रणाम
करना ही है हे बन्धु ! तुम्हे यह आज काम
मेरा जाना इस समय कदाचित उचित नही
वनवास-धर्म मे मोह-दोष आ जाय कही !
रख दो इस कुटिया मे ही अपना धनुष-बाण
देना है तुम्हे वहाँ सात्विकता का प्रमाण
कैसे मैं कहूँ, यही माता को ले आओ
जाओ भाई ! फल-जल लेकर जल्दी जाओ
अब आम्रकुंज से सूर्य सुनहला झाँक रहा
जाने क्यों इस क्षण शीतल स्नेह-समीर बहा !

सुन राम-वचन, लक्ष्मण के उर मे परिवर्तन
सन्देह-शमित मन मे आस्था का विधु-विचरण
अनुचित प्रलाप के लिए क्षमा-याचना तुरत
उज्ज्वल आँखो मे चमक उठे प्रिय बन्धु भरत !
सुन राम-वचन, दोनो ही भीलकुमार द्रवित
भ्राता के प्रति श्रीराम-प्रेम लख, हृदय चकित
दोनो ही—तीनो ही, प्रभु-पग पर भक्ति-नमित
जानकी-नयन यह दृश्य देख, चुपचाप मुदित !
आ गए उसी क्षण शस्त्र लिए सैकडो भील,
आ गए धनुर्धर अनगिन कोल-किरात नील
सब मे वीरोचित भाव, दीप्ति मुखमण्डल पर
वन-सेना युद्ध-हेतु सब विधि तत्पर-तत्पर !
पर, सत्वर अवगत राम-भाव, सत्वर प्रभाव
मीठी बोली से घट-घट कर मिट गया ताव

शीतल वाणी के जादू से मन बदल गया
सेना-समूह सेना-सेवा-हित निकल गया।
रख निकट गुफा में अस्त्र-शस्त्र मत्र चले वहां,—
उस चित्रकूट-सीमा पर भरत-पड़ाव जहां
निकले लक्ष्मण फल-जल-समेत, वे किन्तु रिक्त
कुछ दूर पहुँच कर सब का मन आतिथ्य-सिक्त।
दौड़े वे जहां-तहां लेने को कन्द-मूल
चुभ गए अनेकों चपल चरण में तरणि-शूल
विह्वलता के कारण कितने को लगी ठेस
बहुतों के उलझ गए झाड़ी में वसन-केश।
गिर पड़े पेड़ से कितने फल तोड़ते हुए
कुछ लेकर कुछ निकले, कुछ को छोड़ते हुए
कुछ ने छालों के छिद्रों का निर्माण किया
तत्परता से सबने सबको सहयोग दिया
सब हुए इकट्ठे एक जगह, तब पुन: चले
भागते हुए बछड़ों-से वे आगे निकले
पथ में ही चाँद निकल आया, ज्योत्स्ना छलकी
शिविरों की उजली छटा सामने अब झलकी।
अनगिनत सेवकों की सेना जा रही उधर
चौंके कोसल-सेनापति अधिक भीड़ लख कर
आज्ञा पाकर कुछ अश्वारोही निकल पड़े
आस्था के कारण शस्त्रहीन जन नहीं डरे
अभिप्राय जानकर अश्वारोही हुए मुदित
वनवासी-प्रेमभाव से सैनिक-प्राण चकित
शिविरों के बाहर सेवा-रत प्रिय भील-कोल
भीतर लक्ष्मण सुन रहे भरत के सजल बोल।
आँसू की धारा से भीगे-भीगे कपोल
चाहता हृदय कहना अब सबकुछ खोल-खोल,
पर, श्रोता में सुनने का साहस नहीं आज
रस इतना करुण कि मन को ढाढ़स नहीं आज
रोना ही रोना यहां-वहां इन शिविरों में
उर घिरा-घिरा-सा उर की करुणा-लहरों में

रो-रोकर लेते सभी राम का मधुर नाम
लक्ष्मण के लिए असह है अब गृह-व्यथा राम !
वनवास-दण्ड देनेवाली भी आज दुखी
लगता है, इन शिविरों में कोई नहीं सुखी
इस मोह-रात्रि से बाहर मैं कैसे निकलूँ ?
इस ओर चलूँ ? उस ओर चलूँ ? किस ओर चलूँ ?
हो गई रात आधी कुटिया सूनी होगी
कैकेयी माँ ! तुम नहीं मुझे जाने दोगी ?
हे राम ! आपने मुझे कहाँ पर भेज दिया ?
आई है सबके संग विरहिणी प्राण प्रिया !
किस किस से यहाँ मिलूँ ? सब तो अपने ही हैं
इन शिविरों में सब के सब मेरे स्नेही हैं
मिलते मिलते क्या यहीं बिता दूँ आज रात ?
अब बाहर मुझे निकलो हे शत्रुघ्न तात ! —
मेरा मन तो प्रभु निकट, वहीं अब जाना है
उनके उठने के पूर्व पुष्प-जल लाना है
सूर्योदय से पहले ही करते राम स्नान
लगता है अब होने को है उज्ज्वल विहान !
हा ! भरत-जननि से चलने का आग्रह न किया !
दुख की लहरों ने मुझको कुछ कहने न दिया
आई हैं तीनों माताएँ, कहता किससे ?
इस कारण होंगे हर्षहीन क्या प्रभु मुझसे ?
करते होंगे क्या वहाँ प्रतीक्षा माता की ?
क्या करूँ, यहाँ की अतिशय करुण-करुण झाँकी
हा ! मुझसे भूल हुई कि भरत को धिक्कारा,—
राम के सामने ही भाई को ललकारा !
श्रीभरत राम के उर-रस में ही सराबोर
इनके मन में तो सदा प्रेम की ही हिलोर
क्या इसी रूप को उन्हें दिखाना था अभीष्ट ?
अब क्षमा करें हे लक्ष्मण के आराध्य इष्ट !
निर्दोष भरत गुण-दुग्ध पान कर बन हंस
इनके उज्ज्वल यश से आलोकित सूर्यवंश

कर दिया राम के लिए भरत ने राज्य-त्याग
अनुपम है इनका शील-सजल प्रेमानुराग !
—मन-ही-मन यह सोचते हुए लक्ष्मण निकले
उस ओर उन्हीं के साथ-साथ ही भरत चले
संग मे अनुज शत्रुघ्न, प्रफुल्ल निषादराज
अनुमति देकर माता, गुरु, मंत्री मुदित आज
शिविरो की ओर निकट आने की तैयारी
आई फिर कोल-भील-सेवा की नव बारी
उस ओर पुन. हलचल, इस ओर भरत विह्वल,—
दयनीय नयन मे मनस्ताप का निर्मल जल :
'क्या रुठ गए होंगे मुझसे मेरे भाई ?
उनके दर्शन की आकुलता अति नकुचाई
वे ठुकराएँ या अपनाएँ, मैं उनका ही
मैं तो उनके ही प्रेम-पथ का हूँ राही
स्वामी सेवक का दोष कहाँ तक देखेंगे !
क्या स्नेह-भुजाओ मे वे मुझे न भर लेंगे ?
अपराधी तो मैं नहीं किन्तु अपराधी हूँ
अपने कारण ही मैं अनर्थ-अवसादी हूँ !
हैं क्रूर ग्रहों का अधमाधम परिणाम एक
इस विषम घड़ी मे आश्रयदाता राम एक
पतितावस्था में उनका एक सहारा है
मेरे प्राणो ने केवल उन्हें पुकारा है !
जननी ने जो कुछ किया, दोष मुझ पर केवल
मेरे कारण ही किया काल ने उथल-पुथल
मुझको ही क्षमा-याचना प्रभु से करनी है
करनी है—खाई मुझको ही तो भरनी है !
आशा-विश्वास-भरा उर कभी अधीर नहीं
बहता है प्रेम-प्रवाह, प्रेम का तीर नहीं
भौंरो-सा मन गुनगुन करता प्रभु-चिन्तन मे
बस, एक राम ही गूँज रहे मेरे मन मे !'

सब आए चलते-चलते मन्दाकिनी-निकट
नूतन पल्लव से हरा-भरा विश्वास-विटप
स्थिर मन से सबने किया प्रेममय स्नान-ध्यान
देखा तब भक्त भरत ने प्रभु का वन-वितान
इस वन-प्रदेश में दिव्य शान्ति की स्वर्ग-छटा
पर्वत के शिखरों पर छाई-सी आत्म-घटा
अनगिनत ज्ञान-तरु में विवेक के फूल खिले
जड़-चेतन तन-मन के समान ही हिलेमिले
खग-मृग-मानव में व्याप्त घना एकत्व भाव
सर्वत्र दीखता-सा सत्-शिव-सुन्दर प्रभाव
साधना भूमि पर आते ही प्रिय भरत मौन
भीतर ही भीतर प्रश्न कि मेरे राम कौन ?
इस मिलन-रामगिरि पर आलोकित भरत-विरह
चित्त में दिव्य आनन्द-विहग करता चहचह
नयनों का अश्रुदूत अवलोकित सभी ओर
अन्तर्मन प्रेम विभोर, हृदय रस-सराबोर !
विरहिणी भक्ति की घटा प्राण-नभ में छाई
उत्सुकता की उजली बिजली भी छितराई
जा रहा उमड़ता ही श्रद्धा से स्नेह-मेह
कुछ क्षण के लिए विदेह हो गई भरत-देह !
गुह की भी कुछ ऐसी ही स्थिति, पर गति नवीन—
नूतन वर्षा से जल-चंचल ज्यों पक-मीन
रामाश्रम के सन्निकट समाधि सुभग हुई,—
जब लक्ष्मण की वाणी नव शब्द-तरंग हुई
"वह, उधर राम की पर्णकुटी है बन्धु भरत !
देखिए कर रहे हैं वे वन-मुनि का स्वागत
रे नहीं, विदा कर रहे उन्हें अब वे सहर्ष
लगता कि परस्पर हुआ आज उत्तम विमर्श !
देखिए आम, जामुन, पाकर, तरुवर तमाल
शोभायमान है मध्य भाग में वट विशाल
वैदेही की वाटिका नदी से सटी हुई
है अरुण पुष्पलतिका कुटिया पर चढ़ी हुई !

तुलसी ही तुलसी वहाँ, जहाँ पर हवनकुण्ड
उसके पीछे कोमल कदली के हरित झुण्ड
सैकडो तरह के खग करते तरु पर निवास
करते हैं सब प्रकार से हम सुखमय प्रवास
देखिए जनकनन्दिनी हरिण को खिला रही
निज मृदु मृणाल-कर से पीठी थपथपा रही
वे दोनो ढीठ कपोत पेड स उड आए
देखिए मोर को देख, राम भी मुसकाए !'

दिखलाया भाई को भाई ने प्रथम बार
दर्शन पाकर आह्लादित अन्तर निर्विकार
सागर मे जैसे ज्वार ज्वार पर ज्वार-ज्वार,—
हिन्दोलित भरत-हृदय दर्शन से उस प्रकार !
मुनियो के बीच राम-सीता शोभायमान
ज्यो ज्ञानवृक्ष आनन्द-भक्ति से रस-प्रधान
'भैया !' बस, केवल एक शब्द निकला मुख से
होकर विमुक्त उस क्षण जीवन के दुख-सुख से,—
भैया के चरणो पर गिर पडा भरत भैया
अपने तट पर आ गई आज अपनी नैया
'भैया ! मैं ही हूँ भरत, उबारो मुझे नाथ !
पकडो हे मेरे प्रभु ! अब मेरे घृणित हाथ !!'

पद-पद्मो पर ही पडा रहा अर्पित मस्तक
सुधिहीन रहे कुछ क्षण तक प्रेम-विभोर भरत
सर्वस्व समर्पण से मानस मे दिव्य शान्ति
मिट गई आत्म-सन्देह-भरी मन-भँवर-भ्रान्ति !
देखी न अनुज की मुख-छवि अग्रज ने अबतक
बोली से ही पहचान लिया कि सुशील भरत
झट उठे राम होकर अधीर, गिर पडा तीर
गिर पडे वस्त्र—तरकस, इतना ज्वारित शरीर !

पृथ्वी पर गिरे बन्धु को तत्क्षण उठा लिया,—
कोमल भाई को तुरत हृदय से लगा लिया
सट गए प्राण से प्राण, हृदय से हृदय तुरत
बाँहों में बँधे रहे दोनों —प्रिय राम-भरत !
दोनों की प्रेम-समाधि देख, निर्वाक् सभी
तन-मन की तन्द्रा हुई नहीं है भंग अभी
वे इनके लोचन में, ये उनके लोचन में !
दोनों ही समा गए दोनों के ही मन में
देखा न किसी मुनि ने अबतक ऐसा मिलाप
दोनों ने प्रेम-सिन्धु को सब विधि लिया नाप
आत्मा की गहराई में अब आनन्द-नाद
इस समय न कोई हर्ष, न कोई भी विषाद !
पी आत्म सुधा अन्तर्मन में अध्यात्म तृप्ति
अब खुले नयन में अश्रु-निवेदित प्रीति-दीप्ति
नयनों से ही नयनों की दो क्षण बातचीत
इस प्रेम-मिलन में नहीं किसी की हारजीत !
सबसे सब मिले तुरन्त स्नेह-विह्वल होकर
गिर पड़ा निषाद-नरेश राम के चरणों पर
शत्रुघ्न और गुह बँधे राम की बाँहों में
सन्तुष्ट हुए सब प्रभु की शीतल छाँहों में !
सबके शुभागमन से प्रसन्न वैदेही-मन
अधरों पर नव मुस्कान, प्रसन्न करुण चितवन
मंगल-मंगल कामना-कलित अव्यक्त वचन
जननी-जैसी उर में उदारता सघन-मघन !
यह जान सुमित्रानन्दन से कि सभी आए,—
कुलगुरु, मन्त्री, सेना, पुरजन, सब माताएँ,
चल पड़े राम झट शिविर-ओर सत्वर-सत्वर,—
सीता-समीप शत्रुघ्न अनुज को ही रख कर
मिलनातुर पग-गति तीव्र—तीव्रतर वन-पथ पर,
गुरु-माता-दर्शन-हेतु विकल रघुकुल-दिनकर
राम को देख कर सभी मुदित अति दुख-सहित
मुनिवर वसिष्ठ ही व्यथा-रहित केवल पुलकित !

माताओं में केवल कैकेयी अधिक व्यथित
राम के सामने सजल नयन अतिशय लज्जित
अपने पर ही धिक् धिक्, अपने पर ही धिक्-धिक्
दयनीय दुर्दशा देख, राम अति द्रवित-द्रवित
'विचलित मत हो माँ ! तेरा कोई दोष नहीं।
होता जो होने को, होता है सदा वही
तुझमें जो प्यार मिला उसमें है बहुत अमृत
चारों पुत्रों के रहते माँ ! मन हो विचलित !'

सुधि-चित्र लिए लौटे लक्ष्मण के सग राम,
निज पर्णकुटी में प्रिया-सग वार्ता अकाम
आईं कुलगुरु के सग मंत्रिगण—माताएँ,—
गुरुपत्नी अरुन्धती, पुरवासी-ललनाएँ
हरिणी-सी सीता कुटिया से निकली बाहर
एक ही शीश नत आज अनेकों चरणों पर
अवरुद्ध कण्ठ से आशीर्वचन-प्रसून झरे
आँखों से आँसू के अनगिन मोती बिखरे !
पर्णासन पर गुरु-मुख से नव परमार्थ-कथा
सुन दशरथ-स्वर्गगमन, रघुवर को प्राण-व्यथा !
लक्ष्मण, सीता अति विकल, दृगों से अश्रु-धार
श्रीराम विमूर्च्छित हुए उसी क्षण बार-बार !
उस श्रेष्ठ पिता की पावन स्मृति से मन कम्पित
तन-प्राण व्यथित, मन-प्राण व्यथित, प्रभु-प्राण व्यथित !
मन-ही-मन लक्ष्मण अति क्रोधित, जानकी चकित
इस चित्रकूट में प्रथम बार श्रीराम व्यथित !
अगले दिन मन्दाकिनी-तटी पर श्राद्ध-कर्म
गुरु-आज्ञा से सरक्षित सुत का पितृ-धर्म
दो दिनों बाद गुरु से ही राम निवेदन यह .
'अति दुखी सभी को देख, दुःख हो रहा असह !
अच्छा होता सबको ले जाते लौटा कर
सूना होगा हे देव ! अयोध्या-राजनगर

कैसे मैं कहूँ कि जाना ही है उचित नाथ।
पर, लगता है यह उचित कि जाएँ सभी साथ'
बोले वसिष्ठ हे राम, धर्म के प्राण तुम्ही
आएँ हैं सब यह सोच कि करुणा धाम तुम्ही
सब शान्ति-लाभ कर रहे तुम्हारे दर्शन से
दुख में प्रिय सुख की प्राप्ति स्थान-परिवर्तन से
पावन पयस्विनी-स्नान और गिरि वन विचरण
हहराते झरनो का चट्टानो पर नर्तन
वृक्षो की छाया मे पशु-पक्षी का विहार
अनगिन फूलो को देख, नयन को सुख अपार
पुरवासी का सम्पर्क यहाँ के वन-जन से
अति मग्न सभी इनके साधन आराधन से
फिर भी भीतर का दुख भीतर है छिपा हुआ
आनन्द मिलन मे भी वियोग है जगा हुआ।
हे राम ! भरत के प्राणो मे है असह व्यथा
मूर्च्छित कर देती मन को उसकी आत्म-कथा
दुख ही दुख जिसमे व्याप्त, उसी का नाम भरत
बन्धुत्व-साधना ही उसका है जीवन-व्रत
तन से वन मे उसका कोमल मन वनवासी
है भरत विश्व मे अतः प्रेम का सन्यासी
साकार हृदय की मूर्ति वही है वही एक
भ्रातृत्व भावना से विभोर उसका विवेक
जिस क्षण कानो ने सुनी जननि की कुटिल कथा,
भर गई प्राण मे तुरत व्यथा ही व्यथा-व्यथा।
स्वीकारा उसने नही राज्य-सभार राम,
उसके मत से उस पर न भरत-अधिकार राम।
आया है वह अपनी उज्ज्वलता लिए यहाँ
उस प्रेम-पुरुष की आँखो मे है नीद कहाँ।
लगती न भूख उसको, लगती है प्यास नही
निर्मल आशा के कारण भरत निराश नही।
लौटाने आया है वह अपने भाई को
लेकर आया है यहाँ साथ मे माई को

सब के सब आए हैं इस कारण ही वन मे
एक ही विमल अभिलाषा है सब के मन मे।
सबका अभिमत है यही कि लौटें सीतापति
सबकी सांसो मे एक प्रेम की पावन गति
तय हुई सभाओ मे बस केवल एक बात
'लौटें अब अवधपुरी अति सहृदय श्रेष्ठ तात
हे राम ! मुझे भी सत्वरण आना पडा यहाँ
है वहाँ-वहाँ आनन्द व्याप्त तुम जहाँ जहाँ
अब तुम्ही बताओ सत्यपुरुष ! सुन्दर उपाय
अब तुम्ही बताओ सर्वमान्य हितकर उपाय !'
बोले श्रीराम कि 'आप धर्म के सरक्षक
आदेश आपका रघुकुल से पालित अबतक
आज्ञा दें हे गुरुदेव, कि अब क्या करे राम—
प्रिय भरत-दुख को किस प्रकार अब हरे राम'
बोले वशिष्ठ 'हे तात ! भरत मे भ्रातृ-भक्ति
सबको वश मे कर लेती है प्रिय प्रेम-शक्ति
है प्रेम-धर्म से श्रेष्ठ न कोई विश्व-धर्म
सत्पुरुषों को ही अवगत सच्चा प्रेम-मर्म
इस समय यहाँ पर भरत नही, ऋषि ही केवल
सुन वचन तुम्हारा, सबका अति हर्षित हृत्तल
आशा की भाषा मे अपूर्व आनन्द एक
है दिव्य प्रेम-रस मे डूबा सहृदय विवेक !
मैं ही दूँ कोई आज्ञा, मैं चाहता नही
भाए जो सबको सचमुच ही, हो बात वही
आज ही विशाल सभा मे हो कोई निश्चय
करना है भरत-समक्ष तुम्हें अन्तिम निर्णय'

आशा-उमग से भरी सभा मे सभी आज,—
अनुकूल परिस्थिति के कारण हर्षित समाज
ऋषियों की वाणी सुन कर राम-अधर सस्मित
उनकी प्रसन्नता से ही सभी प्रसन्न अमित !

बोले श्रीरामचन्द्र उठ कर शीतल स्वर से
'मैं दूर कभी भी नही भरत के अन्तर से
मैं धन्य कि मुझे भरत-सा सहृदय बन्धु मिला
मेरे मानस-सर मे उसका उर-कमल खिला
उसमे जो प्रेम-सुगन्ध मधुर, वह नही कही
उसमे जैसी सज्जनता, वैसी कही नही
जननी वह धन्य, भरत को जिसने जन्म दिया
मेरे भाई ने मेरे हित अति त्याग किया
गुण ही गुण जिसमे, ऐसा वह मेरा भाई
सम्पूर्ण देश मे उसकी प्रेम-प्रभा छाई
मेरी आज्ञा का जिसने सदा किया पालन,—
मैं करूँ न क्यो श्रद्धा से उसका आराधन ?
उस साधु पुरुष का करता हूँ नित दिव्य स्मरण
उस भाई को पाकर मेरा उज्ज्वल जीवन
उसके समक्ष क्या कहूँ और क्या नही कहूँ
लगता कि प्रेम की धारा पर ही आज बहूँ !
उस प्रेम-सरित पर ही आए है सब बह कर
है भरत-भाव से भरा आज सबका अन्तर
जो कहे भरत, मैं वही करूँ, यह उचित आज,—
हे जनगण, ऋषि, मत्री, माता, कोसल-समाज !'
—इतना कह, बैठे राम, उठा कर हर्ष-ज्वार,
देखा सबने उनका मुखमण्डल बार-बार
गुरु-आज्ञा से सकोच त्याग कर उठे भरत
आँसू ने किया उसी क्षण नयनो का स्वागत।
उठने को वे उठ गए किन्तु मुँह खुला नहीं।
सूझा न प्रीति के कारण कोई शब्द कही
वाणी-विहीन मन की गति मे सब हुए द्रवित
उनके आँसू से सबकी आँखें अश्रु-नमित।
बस प्रेम-दशा को देख, सजल श्रीराम-नयन
सुधि के विशाल पट पर सजीव चित्रित बचपन
सुधि आई सहसा सौ-सौ प्यार-दुलारो की
छा गई चाँदनी मन पर भरत-पुकारो की !

जो कभी नहीं मुँह खोल सका, वह क्या बोले
जिसका उर-द्वार खुला ही है, वह क्या खोले
देखी न हँसी मुस्कान-भरे उन अधरों पर
सब दिन से शील-सुगन्ध-भरा उसका अन्तर
दुर्लभ है, दुर्लभ इस जग में ऐसा भाई
उसके प्राणों पर सदा प्रीति की अरुणाई
है उचित यही कि मान लूँ उसकी आज बात
आया है अति आशा लेकर ही यहाँ तात
पर, हाय ! उधर देखूँ या अभी इधर देखूँ ?
दुविधा में हूँ मैं स्वयं कि आज किधर देखूँ !
मानव की मर्यादा को रक्खूँ कि तोड़ूँ मैं ?
दो राहों में किस पथ से नाता जोड़ूँ मैं ?
—यह सोच, राम लपके भाई की ओर अभी
मिलता है ऐसा प्यार किसी को कभी-कभी
अंगुलियों ने बहते आँसू को पोंछ दिया
इस सहज प्रेम से प्रभु ने सबको तृप्त किया !
भाई ने अपने निकट भरत को बैठाया
कोमल हाथों ने कोमल तन को सहलाया
यह देख, शान्ति छा गई सभा में सभी ओर
सच्चिदानन्द-घन देख, प्राण-मन हुए मोर !
करुणा की सघन घटा सहसा सुधि से चमकी
निर्मला स्नेह की सौदामिनी अभी दमकी
आई सम्मुख कैकेयी करुणा-ज्वार लिए,—
उज्ज्वला अन्तरात्मा में एक पुकार लिए :
'हे राम ! भरत तो अमृतपुत्र, मैं विषमाता
मुझसे ही मलिन हुआ उस दिन पावन नाता
सर्पिणी बनी मैं हाँ उस दिन हे पुरुषोत्तम,
पर, साधु पुत्र ने मिटा दिए मेरे सब भ्रम
मेरे सिर पर ही कलह-कुटिलता का कलंक
मैंने ही मारा शुभ मुहूर्त में अशुभ डंक
उस कपट-रात्रि में लोभ-कालिमा व्याप्त हुई
जानते सभी, कैकेयी को क्या प्राप्त हुई !

इस पृथ्वी पर मुझ-सी पापिनी नहीं कोई
अपनी करनी के कारण मैं न कभी सोई
भीतर ही भीतर रोती जो, वह नारी मैं
वस, सिर्फ पाप ही ढोती जो, वह नारी मैं !
रण-कुशल कभी थी मैं, अव तो हूँ पाप-कुशल
वरदान प्राप्त कर बना हृदय अभिशाप-कुशल
सन्ताप-कुशल कैकेयी ने वन-दण्ड दिया
हे राम ! इसी नारी ने अतुल अनर्थ किया !
चाहो तो बाण चला कर इसे पवित्र करो,—
या हे पुरुषोत्तम ! मुझमें नूतन स्नेह भरो
कुछ भी हूँ लेकिन माँ हूँ, क्षमा प्रदान करो
मेरा, इनका, उनका—सबका कल्याण करो !
यदि माँ हूँ मैं तो मेरी आज्ञा मान राम,
कर इसी समय मेरा समुचित सम्मान राम
मैंने भी अपना दूध पिलाया था तुझको
अपनी छाती पर कभी सुलाया था तुझको
कौसल्या से ही पूछ कि कितना किया प्यार
क्या नहीं सुनेगा तू मेरी नन्ही पुकार ?
था दिया दण्ड मैंने, भूपति ने नहीं पुत्र !
ईश्वर साक्षी है, कहती हूँ सब सही पुत्र !
स्वर्गीय नृपति ने निज मुख से कुछ भी न कहा
उनका तो धीरज टूट चुका था रहा-सहा
मैं ही बोली, मैं ही बोली, मैं ही बोली
क्या म्लान पिता ने दो क्षण भी आँखें खोली ?
सारा का सारा पाप किया मैंने ही तो
बस हुआ वही तो, मैंने वहाँ कहा जो-जो
मेरी ही आज्ञा से तुम आए हो बन मे
थे मिले मुझे ही दो वरदान महा रण में !
ये वैयक्तिक अधिकार, मात्र कैकेयी के
ये दोनो बुद्धि-विकार, मात्र कैकेयी के
हे ऋषियो ! सभासदो ! मैं सच कहती कि नहीं ?
मत क्षमा करें यदि गलत बात मैं कहूँ कहीं

शवा के कारण धर्मबुद्धि हो गई भ्रष्ट
मेरे चलते ही सबको हुआ अपार कष्ट
मेरे कारण रुक गया राम-राज्याभिषेक
छिप गया स्वार्थ घन मे उस दिन मेरा विवेक
मै हार गई उस दिन, जीती मेरी दासी
मेरा लोभी मन बना लाभ का विश्वासी
जल उठा विभेद-अनल शवा-कलुषित मन मे
बन गई राक्षसी मै उस दिन दुर्बल क्षण मे
प्रिय पति को जो खा गई, वही हूँ मै नारी
तम बन कर जो छा गई वही हूँ मै नारी
जो सबको तड़पा गई, वही हूँ मै नारी
जो खुद ही शरमा गई, वही हूँ मै नारी
जो छिप कर छिप न सकी, वह आग अकेली मै
थी जिसमे गरल-गध, वह जुही-चमेली मै
हूँ स्वय घोर अपराध एक मै क्षमाहीन
है महापाप के कारण मेरा मुख मलीन !
जो हँस न सकी उस दिन से, ऐसी मै पापिन
सुत पर ही लपकी, ऐसी मै भूखी बाघिन
गिल गई सत्य को ऐसी मै उजली बगुली
छिल लिया स्वयम् अपने को, मै ऐसी वसुली !
धन के प्रलोभ से जो निर्धन, मै वही दीन
कादो मे जो छटपटा रही, मै वही मीन
जो स्वय नरक मे आई, मै ऐसी नारी
मै एक घृणित अभिशाप-घटा कारी कारी !
घर को ही जला दिया, ऐसी मै हूँ बिजुरी
अपने को घायल किया हाय, मै वही छुरी
श्रीहीन हुई जो स्वयम्, त्रिया मै वही एक
मै कुटिल बुद्धि, जिसमे न रही कोई विवेक !
हूँ पक किन्तु, जिसमे दो सुन्दर कमल खिले
दोनो कमलो को दो ही भ्रातृ-सरोज मिले
चारो पुत्रो ने अतुल प्रेम का जन्म दिया
चारो ने मिल कर सूर्यवश को धन्य किया !

लगना कि काल ने उनकी प्रेम-परीक्षा ली
मेरे स्वामी ने मुझे अग्नि की भिक्षा दी
कैकेयी तो जल गई किन्तु वचन न जला
रघुवंशी भाई ने भाई को नहीं छला !
पुत्रों ने प्रेम सम्हाल लिया अपने बल से
वे रहे बहुत ऊपर मेरे चंचल छल से
मातृत्व मिटा कर भी कैकेयी माता क्या ?
है रामचन्द्र से मेरा अब भी नाता क्या ?
क्या माँ कहलाने योग्य अभी तक कैकेयी ?
आज्ञाकारी क्या उसी तरह मेरे स्नेही ?
वापस लेती हूँ राम ! आज वनवास-दण्ड
माता के मन में पुनः व्याप्त ममता अखण्ड
सिंहासन के अधिकारी तुम हो, भरत नहीं
कर रही प्रतीक्षा तात ! तुम्हारी अवध-मही
भोगा तुमने अति कष्ट मात्र मेरे कारण
कैसे मैं कहूँ कि कितना दुखमय मेरा मन !
आँखों से अश्रु नहीं, अब आग निकलती है
आग ही आग मेरे प्राणों पर जलती है
फल भोग रही हूँ मैं अब अपने पापों का
परिणाम मिल रहा मुझे पुत्र-सन्तापों का !
जीवित हूँ इसीलिए कि तुम्हीं से आशा है
तुम लौट चलो, अब मेरी यह अभिलाषा है
अब सिर्फ मुझे दण्डकारण्य में जाने दो,—
चौदह वर्षों तक पाप-कलंक मिटाने दो !
तुम तो निर्मल, निर्दोष, कलंकित मैं ही हूँ
तुम ज्योति-सुगंधित, तम-दुर्गन्धित मैं ही हूँ
वन-राज दे कुचल मुझे या व्याघ्र चबा जाए
वाराह लहू पी ले, शृगाल शव खा जाए—
या, अजगर ही अपने मुख में मुझको भर ले
कोई भी पशु—कोई भी पशु जीवन हर ले
पर, ऐसी मृत्यु वीर माता-हित उचित नहीं
भेज दो राम, राक्षस-रण में ही मुझे कहीं !

सुनती हूँ, असुरराज रावण अत्याचारी
उसके शासन मे पीडित उत्तम नर-नारी
प्रतिदिन उत्पात जहाँ, उस भू पर जाने दो
लड कर ही मुझे वीर गति रण मे पाने दो !
हे राम ! चलो वापस पहले, तब करूँ बात
रघुकुल-रवि ! तुम्ही मिटा सकते हो दुस्सह रात
सिंहासन सूना है, अब राजमुकुट पहनो
निज पिता-सदृश अब शीघ्र सबल सम्राट् बनो !'

फैला सन्नाटा कैकेयी-सभाषण से
अनगिन जन हर्षित उसके आत्म-निवेदन से
कुछ लोग चकित, कुछ लोग भ्रमित, कुछ लोग मुदित
सुन स्पष्ट बात, कुछ लोग हुए निस्वाक नमित !
जीवन्त वाक्-पटुता से ऋषि-मुनि भी गंभीर
भावुक नयनो का सूख गया अब स्नेह-नीर
छलकी आँखें कैकेयी के भाषण से भी
टपकी करुणा इस मन से भी, उस मन से भी !
लगता कि किसी नागिन ने गरल निकाल दिया,
निर्वाक् भरत को माँ ने स्वयम् सम्हाल लिया
लगता कि राम ने भी आज्ञा को मान लिया
उनकी चुप्पी से जनमन ने यह जान लिया !
कैकेयी का जयकार राम के संग-सग
उठ गई बहुत ऊँची मन की हर्षित तरग
अब उठे राम गुरु-आज्ञा से सबके समक्ष
पावन मन मे अक्षुण्ण पितृ का वचन-लक्ष्य
बोले वे—'मातृ-कथन सुन, मेरा हृदय द्रवित
प्रत्येक शब्द से श्वास-श्वास करुणा-कम्पित
निश्छल मन ही अपना सबकुछ कह सकता है
करुणा-प्रवाह पर सहज सत्य बह सकता है !
हे माँ ! तुमने अपने को कितना धिक्कारा
की प्रकट कहाँ से तुमने अति दुख की धारा ?

कुछ बातों को सुन कर मैंने अपराध किया
लगता कि कान को तुमने आँसू पिला दिया।
फिर कहता हूँ, जिस जननी से उत्पन्न भरत,
उसकी हर स्थिति का राम करेगा नित स्वागत
जिस माता की गोदी में खेला अभय राम,
उस पूजनीय माता को मेरा नित प्रणाम।
माँ-बेटे का सम्बन्ध कभी टूटता नहीं
अधरों पर अंकित अमृत-चिह्न छूटता नहीं
माता के कारण पिता-पुत्र-सम्बन्ध घना
मानना धर्मवत् सुत-हित दोनों का कहना!
यदि पितृ-समक्ष मातृ-आज्ञा सुत को प्रेषित,—
तो वह निश्चय ही पूज्य पिता से अनुमोदित
इसलिए राम-वनवास पितृ-आदेश-सहित
है पितृवचन का पालन करना धर्मोचित।
जिस भूपति ने सुत को भी त्यागा सत्य-हेतु,
यह उचित नहीं माँ! भंग करूँ मैं वचन-सेतु
प्रण के कारण जिसने शरीर को दिया छोड़,
कैसे उस नृप के वचनों को दूँ आज तोड़?
रघुकुल की रीति नहीं यह माँ, कि वचन टूट
उस वचन-सत्य-हित चाहे प्राण भले छूट
हे माँ! तुमने तो मुझ पर स्नेह उँडेल दिया
सब दिन तुमने सब विधि मेरा कल्याण किया!
कैसे चाहेगी माँ कि पुत्र का हो अनिष्ट
ममता ही तो माता के उर का अमृत-इष्ट
जननी में जितना स्नेह, नहीं वह और कहीं
माता के कारण ही पवित्र है मनुज-मही।
जिस माता ने मुझको अरण्य आनन्द दिया,
उसने निश्चय ही मंगलमय उपकार किया
उसकी आज्ञा का पालन करना परम धर्म
उसकी बातों में छिपा निगूढ़ भविष्य-मर्म।
देकर मत छीनो हे माँ, अब अपना प्रसाद,
इससे होगा निश्चय ही इस जग को विषाद

रविकुल की मर्यादा रखनी है तुम्हे आज
हे वीर जननि ! ससार करेगा तुम्हें याद !
शुभ ही फल निकलेगा माता की वाणी का
अपमान करो मत अब आँखो के पानी का
जो बात समय पर निकली, वह सम्मानित हो
आए सकट पर, वचन नही अपमानित हो !
रहना है अटल तुम्हें अब अपनी बातों पर
वनवास-दण्ड अब सब प्रकार से है हितकर
यह दण्ड नही, यह तो आत्मा का पुरस्कार
उस आज्ञा के नभ मे न कही भी अन्धकार
हे भरत ! तुम्ही अब कहो कि क्या करना अच्छा,—
प्रण को रखना या उससे अब टरना अच्छा
तुम कर्मनिष्ठ तुम धर्मनिष्ठ, तुम प्रेमनिष्ठ
बोलो हे भाई ! किधर तुम्हारा है अभीष्ट ?
जो कहो, वही मैं करूँ बन्धु हे ! अति निर्मल,
तुम उतना ही पावन जितना है गगाजल
तुम उतना ही उज्ज्वल जितना हिमगिरि महान्
हे तात ! करो अब तुम्ही मुझे आज्ञा प्रदान
माता इस समय बहुत भावुक, मुनि-जनगण भी
उनकी बातो से डोल गया गुरु का मन भी
मैं बहुत अकेला हूँ फिर भी उत्साहहीन नही,—
है दूर स्नेह-जल से मेरा मन-मीन नही !
दृढता से पालन किया राम ने जनमत का
ऊँचा है मूल्य हृदय के निश्छल स्वागत का
वनवास-प्रश्न लौकिकता से सम्बद्ध नही
सोचना पडेगा हमे सदा ही तथ्य सही
यह नही लोकमत का निर्णय, यह गृह-प्रमाद
क्या पितृवचन पर शोभनीय कोई विवाद ?
आगे बढ कर पीछे हटना अब उत्तम क्या ?
क्या वचनहीन हो जाय राम की सत्य-कथा ?
हे भरत ! तुम्ही अब कहो कि क्या करना अच्छा
प्रण को रखना या उससे अब टरना अच्छा !

ममता के कारण करूँ आज आचरण-भंग ?
पथ से वापस हो जाऊँ सबके संग-संग ?
निर्णय लेना है तुम्हें कि अब क्या करना है
हे भरत ! तुम्हें ही इस उलझन को हरना है
जीवित होते यदि पिता और यदि वे आते
तब भी क्या मेरे प्राण स्नेहवश मुड़ जाते ?
हे बन्धु ! वचन की महिमा क्रिया बढ़ाती है
उसके अभाव में मर्यादा घट जाती है
है जहाँ वचन का मूल्य नहीं, श्रद्धा न वहाँ
है जहाँ कर्म में कपट-चलन-छल ममता न वहाँ
बातों के अदल-बदल में मन दुर्बल होता
दुर्बल मन तो अपनी दुर्बलता ही ढोता
जिसका मन सत्य-सबल उसकी आत्मा सबला
मन-वचन-कर्म से मलिन प्राण इच्छा अबला !
हे अनुज ! यहाँ पर तो गुरुजन, ज्ञानी, ध्यानी
छोटे मुँह की छोटी ही होती है वाणी
ऊँची बातों को सचमुच कैसे करूँ व्यक्त
है नहीं तुम्हारा राम अधिक वाणी-सशक्त !
मेरे कथनों का सरल सार है मात्र यही,—
तुम सोच-समझ कर कहो बात अब सही-सही
तुमने न कही है अबतक अनुचित बात कभी
बोलो हे भाई ! देते क्या आदेश अभी ?

सुन राम-वचन, छा गई शान्ति की सात्विकता
पावन प्रभाव डालती अभीनव राम-कथा
आदर्श त्याग का उत्प्रेरक, मंगलदायक
हैं राजतंत्र में राम ज्योतिर्मय जननायक
सुविशाल सभा गंभीर-घोर पर, आशामय
लगता कि सभी के लिए आज अनुकूल समय
सबकी आँखें उस एक भरत पर टिकी हुई
उनकी इच्छा इनकी इच्छा में बिकी हुई !

करना है आज प्रेम को ही पावन निर्णय
देखें किसकी होती है आज प्रसन्न विजय
कितनी आस्था, कितना विश्वास भरत पर है
लगता कि सत्य से श्रेष्ठ आज शिव सुन्दर है !
चिति चिन्तन मे तल्लीन भरत हो गए खड़े
क्या धर्मनीति का न्याय प्रेम ही आज करे ?
इनके मन से उनका भी मन है मिला हुआ
एक ही कमल दोनो के उर मे खिला हुआ
पर, आज बात कुछ और, परीक्षा की वेला
है चित्रकूट मे लगा प्रेम का ही मेला
सबके उर पर शशि-सूर्य-दीप का प्रिय प्रकाश
अरुणोज्ज्वल दृग मे दो भाई के रुदन-हास
बस, कह दे भरत कि बन्धु ! अयोध्या चलना है
गृह-छल के कारण नही सभी को छलना है
होते है बडी-बडी भूलो मे भी सुधार
रवि ही तो करता दूर रात्रि का अन्धकार !
पर, निशि मे ही चन्द्रमा सुधा बरसाता है
सुन्दर शशाङ्क सागर मे ज्वार उठाता है
—उठ रहे अनेक भाव अभी जन के मन मे
पर टिकी भरत पर सभी दृष्टियाँ इस क्षण मे !
बोले प्रिय भरत कि 'प्रभु हे ! मुझ पर कृपा अमित
अति स्नेह-भार से मेरा अन्तर आज नमित
हे देव ! आपने अतिशय प्रेम प्रदान किया
पर, मेरे कारण विधि ने सबको दुःख दिया !
दुख-तिमिर व्याप्त, रवि के अनुचित निर्वासन से
उठ गया न्याय ही अपने उज्ज्वल आसन से
हर ओर कष्ट, हर ओर व्यथा, हर ओर क्लेश
है घोर विपद् मे पडा हुआ सम्पूर्ण देश
ऐसी विपत्ति आई न कभी होगी भू पर
सबकी आँखें हैं लगी हुईं प्रभु के ऊपर
हर ओर निराशा का सन्नाटा छाया है
हर ओर कर्म-चैतन्य बहुत मुरझाया है !

कुंठित है तन, कुंठित है मन, कुंठित जीवन
कुम्हलाया है—कुम्हलाया है हर प्राण-सुमन
लगता कि सत्य के बिना सभी साधन निष्क्रिय
हे राम ! आपका निर्वासन कितना अप्रिय !
निर्वासन इतना असह कि जन आकुल-व्याकुल
निर्वासन इतना असह कि मन आकुल-व्याकुल
हे नाथ ! अयोध्या में अनहोनी बात हुई
दिन के रहते भी अन्धकारमय रात हुई !
सबकी इच्छा है यही कि प्रभु अब लौट चलें
जो स्नेह-दीप बुझ गया वहाँ, वह पुन: जले
सम्मिलित प्रार्थना की पुकार फलहीन न हो
आशा-अभिलाषा-मीन आज जलहीन न हो !
वीणा का टूटा तार पुन: जुड़ जाय आज
धारा उद्गम की ओर पुन: मुड़ जाय आज
सबकी इच्छा है यही कि शिशिर वसन्त बने,—
शोकित नीरसता फिर सुखमय रसवन्त बने !
अगुआ हूँ मैं ही, वन में आनेवालों का
हूँ मैं ही सबके प्राणों के दुख का झोंका
मेरे उर पर विश्वास-दीप जल रहा एक
दुस्सह दुख-ज्वाला से झुलसा मेरा विवेक
मैं अपनी व्यथा-कथा को कैसे व्यक्त करूँ,—
प्रभु के चरणों पर अश्रु-फूल किस तरह धरूँ !
जो कहना चाह रहा, वह कह पाता न अभी
अति करुण कंठ में उचित शब्द आता न अभी !
यों भी मुझमें वह ज्ञान कहाँ जो कहूँ बात
मेरे मन पर तो बिछी हुई है विरह-रात
लगता कि मिलन में मिटा नहीं है विरह-तिमिर
हैं यहीं देवता किन्तु बहुत सूना मन्दिर !
अपने को देखूँ या उनको, यह द्वन्द्व आज
मेरी आशा पर आश्रित है कोसल-समाज
किसके हित में सोचूँ कि अहित का लेश न हो
किसका पल्ला पकड़ूँ कि किसी को क्लेश न हो !

प्रभु को ले चलने को ही तो हम आए हैं
अनगिन लोचन इस कारण ही अकुलाए हैं
है स्वार्थ यही सबका कि देवता लौट चलें
जो स्नेह-दीप बुझ गया वहाँ, वह पुनः जले।
अपनी गलती को माता ने स्वीकार किया
अंगार गिरा कर उसने फिर से प्यार किया
मैं जो कहता उसको भी उसने किया व्यक्त
टपकाया उसने आँखों से ही अश्रु-रक्त।

हे राम! आप तो प्रेमपुरुष, मैं प्रेमभक्त
मेरी निर्णायक बुद्धि नहीं इतनी सशक्त
मेरे मन में उठ रही स्वार्थ की सजल लहर
मेरी आँखें देखतीं एक ही प्रेम-डगर
शत्रुघ्न-संग मुझको ही जाने दें वन में
उठ रहा भाव इस समय यही, मेरे मन में।
मैं ही भोगूँ वनवास-दण्ड, अब यही उचित
अब यह विचार का तार हो रहा है झंकृत।
हे देव! आपको जो भाए, अब वही करें
इस दीन बन्धु के मन में आप सदा विचरें
छोटा भाई हूँ, कैसे निर्णय करूँ देव!
आपके चरण पर व्यथा-फूल क्यों धरूँ देव!

हे धर्मपुरुष! जो आप कहें, स्वीकार वही
जो आज्ञा दें, होगा जीवन-आधार वही
आए हैं चित्रकूट में हम आशा लेकर—
उस एक प्रेम की शब्दहीन भाषा लेकर।
करने आए हैं हम प्रभु का राज्याभिषेक
इसलिए यहाँ आए हैं हम सेना-समेत
आए हैं कुलगुरु, मुनि-महर्षि, पुरजन-परिजन
आए हैं लेते पुण्यकलश भी मन्त्री-गण
उस शोक-सिन्धु पर हर्ष-यान बहता आया
दुख-यात्री को सुख-सम्बल कुछ कहता आया
हे राम! आपको ही करना है अब विचार
रवि के रहते क्यों रहे विपद्घन-अन्धकार?

भटके क्यो आज अयोध्या-श्री भीषण वन मे ?
दहके क्यो आग किसी परिणीता के मन मे ?
हैं स्वय आप ही सर्व-समस्या-समाधान
हे करुणामय भगवान ! आप ही दुख-निदान !
जो करें आप हे नाथ ! वही स्वीकार हमे
जो देना चाहें दें समुचित उपहार हमे
सब के मुख पर इस समय हर्ष-हरियाली है
करुणा पर फैली आशा की नव लाली है !
हे राम ! आप की इच्छा पर ही सब निर्भर
आलोकित करें सभी को हे भूतल-भास्कर !
पाएँ हम चित्रकूट मे पुरुषोत्तम-प्रकाश
हे राम ! करें सबके उर मे पावन प्रवास !"

वर्षा ऋतु मे ज्यो चढ जाता है जल पर जल,
सभाषण सुन कर वैसा ही जनमन हृत्तल
दायित्व-भार से कौसल्यानन्दन विमूक
क्या प्रिय-विनम्रता-बाण आज इतना अचूक ?
देखा वसिष्ठ ने सीतापति को बार-बार
आँखो को छूकर लौटी आँखें चार बार
इतने मे जनक-आगमन का सवाद मिला
मानो इस कठिन काल मे तृप्ति-सरोज खिला !
क्या ममतावश ही योगिराज आ रहे यहाँ ?
—यह जिज्ञासा सबके मन मे अब यहाँ-वहाँ
आ रही सुनयना रानी भी मिथिलेश-सग
—सब के मन मे अनुकूल भावना की तरग !
हो गई स्थगित यह सभा आज निर्णय-विहीन
तैरने लगा आशा-प्रवाह पर हृदय-मीन
सीता-समेत श्रीराम चले निज कुटी-ओर
पीछे-पीछे लक्ष्मण जैसे मारुत हिलोर
'अब क्या होगा ?'—सीता ने प्रश्न किया पति से
दोनो ही परिचित, दोनो के उर की गति से

'अब क्या होगा ?'—भाई से पूछा लक्ष्मण ने
कुछ कहा नहीं इनके मन को उनके मन ने !
बीती विभावरी विमल विदेह-प्रतीक्षा मे
लज्जा की लहरें अब कैकेयी-इच्छा मे,—
पछता-पछता कर प्राणो में सकलित व्यथा
अपने को रुला रही अपनी ही कुटिल कथा !
नूतन प्रभात मे जनक-मिलन की उत्सुकता
ऋषियो के मन की फूटी-सी आनन्द-लता
माँ से मिलने को सभी वेटियाँ अति आतुर
आ रही याद वचपन की वाते मधुर-मधुर
शैशव से लेकर प्रिय विवाह तक की स्मृतियाँ
मन-ही-मन धनुष-यज्ञ-घटना की झकृतियाँ
जानकी देखती अपनी छवि जल-दर्पण मे
गुनती माण्डवी माम की मति अपने मन मे
श्रुतिकीर्ति सोचती है कि उसे कुछ करना है
अपनी मा स कुछ कहने मे क्या डरना है ?
डूबी-सी है उर्मिला हृदय-गहराई मे,
वह लिपटी है अपनी पवित्र तरुणाई मे !—
'बीते कितने दिन किन्तु मिलन हो सका नहीं
लोचनदल दर्शन-पुण्य अभी टो सका नहीं
आए थे वे पर, विना मिले ही चले गए
भर गए भाव वे मेरे मन मे नए-नए !
इतना ही क्या कम है कि यहाँ तक आए वे
कैसे मैं कहूँ कि आकर कुछ सकुचाए वे
अपने वादल से उन्हे घेर मैं लेती क्या ?
उनके तन-मन को भरा फेर मे देती क्या ?
सकल्प ले चुकी हूँ मैं भी उनके समक्ष
मेरे मन मे चौदह वर्षों का विरह-लक्ष
आ गई यहाँ इसलिए कि आए सभी यहाँ
एकाकी रहने दिया किसी ने नहीं वहाँ !
यदि इसमे भी कुछ भूल, क्षमा माँगू किससे ?
अपराध हुआ क्या देव ! यहाँ कोई मुझसे ?

उर्मिले ! तुम्हारे तप में लगा कलंक एक
विरहिणी ! सुरक्षित रखो सदा अपना विवेक
मन के डोरे से मत बाँधो वन के मृग को
अपने दृग में अब भरो नहीं उनके दृग को
करना है केवल तुम्हें लक्ष्य का धवल ध्यान
डूबने नहीं पाए सुधि-रस में विरह-ज्ञान !
तुम योगिराज की प्रिय पुत्री, यह स्मरण रहे
मन के भू पर निर्द्वन्द्व आत्म का चरण रहे
उज्ज्वल वियोग भी याग एक, यह रहे याद
करना है नहीं कभी कोई कोमल विषाद !
उर्मिले ! तुम्हें अपनी सीमा में रहना है
उज्ज्वल मन को उज्ज्वल गंगा-सा बहना है
तप का पीयूष तुम्हें पीना है यौवन में
सुख-गरल घोलना नहीं तुम्हें है अब मन में !
प्रत्यक्ष नहीं है अमृत विविध विष के समान
तप-सुधा प्राप्त करते हैं केवल महाप्राण
उर्मिले ! तुम्हें उत्तम साधना-सुयोग मिला
उर-मानसरोवर में ही विरह-सरोज खिला !'

दार्शनिक जनक के शुभागमन से सभी मुदित
उनके आने से शोकाम्बर में सूर्य उदित
वनवास-वेश को देख, न चिन्तित योगिराज
अनुभूत हृदय को आगामी प्रभु राम-काज
रघुवीर-भाव में तत्क्षण ही परिचित विदेह
नख से शिख तक परिलक्षित गति-अनुकूल स्नेह
प्रिय धर्मपुत्र को लगा लिया निज छाती से
निखरी आभा दोनों के उर की बाती से !
सीता को देख, कहा कि 'सुते ! अब तू सुन्दर
अब तुझमें उठने लगी योग की किरण-लहर
अब तू निखार सकती है आत्म-विभा मन की
तू अब सम्हार सकती प्रतिबिम्ब-प्रभा तन की !

लख मौन उर्मिला को, विदेह ने कहा यही :
'बेटी ! तू तो बन गई योग की प्रेम-मही
तेरे मुख पर भी सीता-सी आभा नवीन
तू नहीं आज—तू नहीं आज है ज्योतिहीन !'
श्रुतिकीर्ति-माण्डवी को भी नृप ने स्नेह दिया—
सत्यानुसार ही सबको आज प्रसन्न किया
लक्ष्मण को कहा कि 'तुम तो सचमुच महावीर
दृग मे न तुम्हारे, दुर्बलता का अश्रु-नीर !'
देखकर भरत को जनकराज गंभीर तनिक
त्यागानुराग के निकट योग की दृष्टि नमित
मिलता-जुलता-सा भीतर का भूतल प्रकाश
चेतना-प्रेम का अर्थपूर्ण पावन समास !
बोले विदेह 'हे भरत ! तुम्हारा त्याग धन्य,—
अग्रज के प्रति शिवमय सुन्दर अनुराग धन्य
अबतक तुमने जो किया, अतुल वह उदाहरण
है भक्तिगंध से भरा तुम्हारा प्रेम-सुमन !'
देखने योग्य था जनक-रविपु-मिलन उन क्षण
देखते रहे वह दृश्य सभी मुनिगण, ऋषिगण
दोनो कुल की देवियाँ परस्पर हिलीमिली
इस चित्रकूट मे मिलन-लताएँ बहुत खिलीं !
सीता को देख, सुनयना थोड़ी मुसकाई,—
उर्मिला-निकट वह अनायास कुछ अकुलाई
लज्जित कैकेयी को उसने अति स्नेह दिया
गुणवती सुनयना ने सबका सत्कार किया
कौसल्या-पग पर पद्म-शीश शोभायमान
समधिन से मिल लक्ष्मण-माता के खिले प्राण
वह मिलन-दिवस, वह मिलन-रात, वह मिलन-प्रात
लगता कि समस्त व्यथाओं की कट गई रात !
वन-भ्रमण एक दिन जनक-भरत का संग-संग
प्रिय चित्रकूट मे विविध सूक्ष्म वार्ता-प्रसंग
चलते-चलते ही गूढ़ तत्त्व का अनुचिन्तन
समयानुसार स्थिति-गति में नूतन परिवर्तन !

कामदगिरि का भी अवलोकन निष्ठापूर्वक
राजर्षि-भाव से भरत हृदय मे नई चमक
विश्वास, राम की नित्य नई लीलाओ पर
लक्षित उनका निर्वासन भी जग-हित हितकर !
'हे भरत ! काल की गति पर तुम विश्वास करो
आँसू से धुले हुए दृग मे अब ज्योति भरो
छँट जाएगी प्रेमाम्बर से जब मोह-घटा,—
देखोगे तब तुम अपने मे आनन्द-छटा !
भौतिक सुख दुख से ऊपर जो उठ सका नही,
जीवन-रहस्य वह नहीं जानता सही-सही
हम सभी एक ही परमचेतना से निकले
बस एक दीप से प्राण प्रदीप अनन्य जले !
हे भरत ! चित्त-दर्पण मे देखो विश्व-चित्र
सागर-तरंग-ही तो कुटुम्ब-जन-शत्रु-मित्र
एकात्मा का अस्तित्व मानना होगा ही
इसके अभाव मे ही तो मानव-मन मोही !
सबका समान अधिकार तत्वत भूतल पर
बल-बल-छल के कारण ही दीख रहा अन्तर
आलोकित होगा जिस दिन विश्व विवेक कभी,
आएगा महामनुजता का ऋतुराज तभी !
प्रभु-इच्छा से ही मनुज-बुद्धि मे निर्मल गति
है जिसका शुद्ध हृदय, उसकी ही पावन मति
है प्रेम नहीं जिसमे, उसमे है त्याग कहाँ !
जिसमे न ज्ञान, उसमे उत्पन्न विराग कहाँ !
हे रामानुज ! तुम राम-कार्य स्वीकार करो
जीवन-अभाव मे अब तुम पूरक भाव भरो
निज भक्ति-ज्ञान का करो समन्वय कर्मो मे
है प्रेम बहुत ऊँचा जग के सब धर्मों मे !
मिथिला से मै ममतावश यहाँ नही आया
दारुण घटनाओ मे भी चित्त न अकुलाया
घटना-दुर्घटना तो होती ही रहती है
उज्ज्वल गगा चट्टानो पर भी बहती है !

मैं तो आया इसलिए कि प्रेम प्रदीप बने,—
मन की मानवता स्वयम् अकाम महीप बने
घेरे न निराना कभी सुमंगल आशा को
उलझा मत ले भावुकता भोगी भाषा को!
हे भरत! भक्ति का भाव-योग निष्क्रिय न कभी
आलसी पुरुष-नारी ईश्वर के प्रिय न कभी
कर्त्तव्यहीन मानव का कोई धर्म नहीं
अज्ञानी ही जानता कर्म का मर्म नहीं!
मेरी सीता ने वल्कल वसन किया धारण
मैं दुखी नहीं हूँ किंचित् भी इसके कारण
मैं देख रहा हूँ केवल काल-प्रवाह एक
है वही जनक दुख मे अमलिन जिसका विवेक!
दुख-सुख से जो ऊपर है भरत! विदेह वही
हे तात! तुम्हे बतलाता हूँ यह बात सही
उत्तम योगी में विश्व-प्रेम का योग व्याप्त
संसार-चक्र का ज्ञान उसीको सदा प्राप्त!
जलता है योग-भोग-संगम पर प्रेम-दीप
स्वीकार रहा है यही तथ्य मेरा महीप
अन्यथा नृपति बनना भी है अपराध घोर
हे भरत! भोग का कहीं नहीं है ओर-छोर!
शासक जितना ही अनासक्त, सुविधा उतनी
शासक जितना ही भोग-भ्रान्त, दुविधा उतनी
भीतर-बाहर का सत्य एक ही होता है
दोनो प्रकार का भार सत्पुरुष ढोता है!
जो लोग दुरंगी कर्मनीति अपनाते हैं,
वे निश्चय ही पछताते हैं, अकुलाते हैं
भीतर-बाहर का ऐक्य दिव्यता से सम्भव
होता है प्रेम-योग से समता का अनुभव
ममता की महिमा बड़ी किन्तु समता उत्तम
इनके अभाव में कोई कर्म नहीं निर्भ्रम
कर्मों के आगे-पीछे जिसका धर्म नहीं
हे भरत! समझता वह मनुष्यता-मर्म नहीं!

सत्-शिव-सुन्दर के बिना धर्म-आदर्श नहीं
उद्देश्यहीन उत्तम कोई संघर्ष नहीं
एकात्म-दृष्टि के बिना अपूर्ण साधना भी
सत्य के बिना असुन्दर रुचिर भावना भी !
अन्तर पवित्र हो इसीलिए प्रार्थना मधुर
जो सदाचार से हीन, वही तो मनुज असुर
देवत्व सिद्धि से श्रेष्ठ तुम्हारे बन्धु राम
हे भरत ! तुम्हें भी तो करना है राम-काम
वे कौन ? कहाँ जा रहे ? इसीका करो ध्यान
नव योग-दृष्टि से देखो नव घटना महान
देखो निज प्रेम-शिखर पर चढ़ कि कहाँ हैं वे
देखो, वे इधर, उधर, उस ओर, यहाँ हैं वे !
अग्रज को तुमने जाना, इनको पहचानो
उनको तुमने माना तो अब इनको मानो
प्रेमात्मा ही परमात्मा को पहचानेगी
दिव्यास्था ही उनके स्वरूप को जानेगी
हे भरत ! राम ही पुरुषोत्तम, यह स्मरण रखो
उनके निर्वासन से तुम कभी अधीर न हो
करने दो लीला उन्हें विपिन-रण में अनेक
हैं सर्व शक्ति से पूर्ण मात्र राम ही एक !
उनकी इच्छा ही बाण तिमिर-संहार-हेतु
उनकी करुणा ही कृपा सजग संसार-हेतु
बाँधो न विश्वपति को लघुता के बन्धन में
तुम इस रहस्य को रखो मात्र अपने मन में
तोड़ा जिसने शिव का पिनाक, वह महाविष्णु
वह वाल्पुरुष सब विधि सुशील, सब विधि सहिष्णु
उज्ज्वल चरित्र का मापदण्ड श्रीराम स्वयम्
भोगते अभय वनवास-दण्ड श्रीराम स्वयम् !'

राजर्षि जनक की योग-दृष्टि में खुले नयन
खुल गया प्रेममय उर का मृदुल मोह-बन्धन

आयोजित चित्रकूट में सभा विशाल एक
फिर कही राम ने मर्मभरी बातें अनेक
इस बार राम की वाणी से पीयूष झरा
शब्दों का पुष्प-समूह हृदय पर ही बिखरा
इस बार राम ने सबके मन को मोह लिया—
निज सरस तर्क से सबके उर को तृप्त किया
समधी राजर्षि-निकट कैकेयी आ न सकी,—
कुछ कहती भी तो उस क्षण उसे सुना न सकी
गुरु से आदेश माँग कर भरत उठे केवल
इस बार हृदय—इस बार प्रेम अविकल-अविकल ।
इस बार प्रार्थना में आस्था की अरुणाई
आँसू-विहीन इस बार भरत की तरुणाई
इस बार राम को देख आत्म-गभीर प्राण
इस बार भक्ति के निकट भाव से भरा ज्ञान
'प्रभु हे ! अब आज कहूँ क्या ?'—वे बोले सविनय,—
'अर्पित है हे भाई ! चरणों पर अनुज-हृदय
जैसी आज्ञा हो नाथ ! उसीको ग्रहण करूँ
अपने आँसू में आज आपकी किरण भरूँ ।
मिल गया मुझे सबकुछ, अब ऐसा लगता है
संतोष उसीको जो कि रहस्य समझता है
चौदह वर्षों की अवधि बहुत लम्बी है प्रभु !
यह विरह-शिखा तो सचमुच नभ-चुम्बी है प्रभु !
कैसे कट पाएँगे दिन केवल आशा में
धीरज कबतक टिक पाएगा अभिलाषा में
हे दीनबन्धु ! हे दीनबन्धु ! हे दीनबन्धु !
कैसे हम पार करेंगे पथ, हे कृपासिन्धु !
लगता कि गगन का सूर्य गगन से दूर हुआ
लगता कि स्वयं मन ही अब तन से दूर हुआ
प्राणों को स्वयं सम्हालें हे करुणानिधान !
राम के बिना बच पाएँगे क्या भरत-प्राण ?
पर, प्राणों का क्या मोह ? सभी को मिले स्नेह
जिसमें न प्रेम का वास, निरर्थक वही देह

विनती मेरी बस यही कि प्रीति नहीं छूटे
टूटे माटी का तन, विश्वास नहीं टूटे !
सबकुछ छूटे पर, मेरे राम नहीं छूटें
मरन की बला उनका नाम नहीं छूटे
हे भाई ! मेरी भूलों को अब बिसरा दें
अब अपनी किरणों को उर-पथ पर बिखरा दें
दें शक्ति कि आज्ञा का पालन कर सके भरत
दें भक्ति कि कर पाऊँ चुपचाप विरह-स्वागत
चरणानुरक्ति दें ताकि मिलन की आस रहे
पावन विरक्ति दें ताकि समीप प्रकाश रहे !"

सुन भरत-प्रार्थना, नमित राम का मुखमण्डल
नयनों के भीतर-भीतर ही नयनों का जल
लोचन-उत्पलदल दो क्षण तक खुल सके नहीं
पूछते अश्रुकण—'दृग हे ! तुम घुल सके नहीं ?'
इस अवसर पर मिथिलापति मौन रहे केवल
देखा बस एक उन्होंने ही आँखों का जल
सरसग नहीं यह, सभा अपूर्व विदाई की
है दर्शनीय प्रिय मुद्रा राम गुसाईं की !
सचमुच चौदह वर्षों की अवधि नहीं थोडी
वास्तव में क्रूर नियति ने की है बरजोरी
—माण्डवी देखती बार-बार उर्मिला-नयन
आएगा निश्चय ही इन आँखों में सावन !
बोले श्रीराम : 'भरत हे ! तुम कर्तव्य-सजग
टेढामेढा होता ही है जीवन का मग
पुरुषार्थ धर्म को करना है स्वीकार तुम्हें
श्रद्धापूर्वक सुननी है आत्म-पुकार तुम्हें
कल्याण इसी में है कि पितृ-आज्ञा मानो
उनकी आज्ञा को ही मेरी आज्ञा जानो
कल्याण इसी में है कि सम्हालो राज-काज
छोडो हे भाई ! उचित कर्म-हित लोक-लाज

एक ही बात कहता है तुमसे आज राम :
है नाम तुम्हारा जैसा, वैसा करो काम
शोभित हो सिंहासन समता के सूरज-सा
ममता-विकास हो शरद्-सुगन्धित पंकज-सा !
इस मूल मंत्र से हो मानवता का विकास
इस दृष्टि-सत्य से ही फैले भू पर प्रकाश
समदर्शी शासन में ही संभव पूर्ण न्याय
करना है तुम्हें प्रेम से ही सक्षम उपाय ।'

सुन रामाज्ञा, प्रिय भरत नमित पर, मुदित नहीं
उर के अम्बर में सूर्य उदित, शशि उदित नहीं :
'सिंहासन पर मैं बैठूँ, यह कैसे सम्भव ?
सोचना पड़ेगा अब उपाय कोई अभिनव
आज्ञानुसार ही होगा शासन-संचालन
समता-सुनीति से होगा राज्य-प्रजा-पालन
सब कुछ होगा पर होऊँगा भूपाल नहीं
बैठेगा भरत राम-आसन पर भला कहीं !
होगा, होगा, सबकुछ होगा, सब होगा ही
बैठेगा भरत राम-आसन पर भला कभी ?
मैं रामराज्य का सेवक ही हो सकता हूँ
है जितनी मुझमें शक्ति, भार ढो सकता हूँ
योग्यता नहीं मुझमें, पर आज्ञा सिरोधार्य
पालन न करूँ तो सोचेंगे क्या आज आर्य
करना ही है उनके सिंहासन का पूजन
करना ही है जनता-हित समता-आराधन
पर, नृप-शासन में समता-सूर्योदय कैसे ?
मिल पाएगी सबको सम-शक्ति-विजय कैसे ?
फिर भी, चेष्टा करनी ही है, करनी ही है
रामाभा यथाशक्ति जग में भरनी ही है
लगता कि राम ही हैं समता के पुरुषोत्तम
इस विश्व-कार्य के लिए राम ही हैं सक्षम

पर, करना है सबको सक्रिय उनका विचार
तज दिया उन्होंने इसी हेतु राज्याधिकार ?
करना है राजा-रहित राज्य का सचालन
करना है उनकी आज्ञा का विधिवत् पालन
चौदह वर्षों तक होगा भरत-प्रयोग एक
फैलेगा अगजग मे उनका शासन-विवेक
राम की चरणपादुका रहेगी गद्दी पर
फूटेगा उससे दिव्य प्रेरणा का निर्झर
माँगूँ मैं उनसे चरणपीठ इच्छानुसार
निश्चय ही राम सुनेंगे मेरी यह पुकार !

इच्छानुसार प्रभु ने दे दी पादुका आज
हर्षित वसिष्ठ, मिथिलेश, मन्त्रिगण, प्रिय-समाज
सबके सब हर्षित, कैकेयी केवल उदास
उसका निर्मल मन एक राम के आसपास !
हर्षित आँसू से सजल विदाई की घड़ियाँ
है टूट रही अब मोह-पुष्प की हथकड़ियाँ
सहृदय सीता की इच्छा से उर्मिला सुदिन
उसके समक्ष श्रीराम-कुटी मे चन्द्र उदित !
केवल दो बातें हुई कि दोनों हुए मौन
दोनों प्रदीप की मिलन-कथाएँ कहे कौन !
सीता की सहृदयता से विरह-प्रसून खिले
मिल कर जो मिल न सके, वैसे दो प्राण मिले !
हर्षित आँसू से सजल विदाई की वेला
अब लगा उजड़ने चित्रकूट का प्रिय मेला
ऐसा सयोग नहीं मिलता है बार-बार
इस प्रेम-युद्ध मे नहीं किसीकी जीत-हार !
सब साथ-साथ ही चले किन्तु रह गए राम
रह गई जानकी, रुके रहे लक्ष्मण ललाम
वे ही रह गए यहाँ जो रहने आए थे
वे ही बादल रुक गए यहाँ, जो छाए थे !

सुधि की लहरें इनके मन में, उनके मन में
संकल्प-दीप जलते हैं सवल-चवल तन मे
उस सूनेपन मे हुआ राम-वाल्मीकि-मिलन
खिले उठे मौन सीतापति के राजीवनयन !

●

अरण्यकाण्ड

फिर चित्रकूट मे पहले जैसी शान्ति व्याप्त
कोलाहलहीन प्रकृति म आत्मिक कान्ति व्याप्त
फिर गिरिनिकुञ्ज मे सीता के संग राम-भ्रमण
दैनिक सेवा म लीन धनुर्धर प्रिय लक्ष्मण
निर्झर के निकट बैठ कर फिर वार्ता विमर्श
फिर हिरन मोर को देख, नयन म हर्षित हर्ष
खिलते सरोज को देख, पुन उर आनन्दित
झरनो के गीतो को सुनकर मन भी झङ्कृत ।
फिर हवन-कर्म के बाद साधु-सत्सग नित्य
फिर कोल-किरात-भील म प्रेम-तरग नित्य
निज कर से सुन्दर फूल चयन कर एक बार,—
गूँथा रघुवर ने स्फटिक शिला पर सुमनहार
पहनाया सीता को प्रभु ने पुष्पाभूषण
सात्विक शृगार देखकर अपलक अमल नयन ।
लगता कि राजपद्मिनी अलङ्कृत हुई आज
लगता कि शांति-सुन्दरता झङ्कृत हुई आज ।
अत्यन्त दिव्य सौन्दर्य-भाव मे रस ही रस
वनवासी-जीवन का मधुमय यह प्रथम दिवस
बस, रस ही रस, बस रस ही रस, बस रस ही रस
निर्मलता के कारण न कहीं भी असमजस
लगता कि ब्रह्म ने माया का अभिषेक किया
लगता कि रूप को ही अरूप न अमृत दिया
इस महाप्रीति की पावनता मे रस अशेष
आ रहा स्मरण कैलास-कुञ्ज का उमावेश ।

शृंगार देख, उस कौए का मन ललचाया
सहसा सुदूर से उड़ता-उड़ता वह आया
जानकी-चरण में चोट मार कर भागा वह
कहते हैं, इन्द्रपुत्र था बड़ा अभागा वह
उसके दृग में लग गया राम का दृष्टि-बाण
बच गए कृपा के कारण दुष्ट जयन्त-प्राण
जानकी-संग कुछ देर वहाँ पर राम रहे
दोनों ने एक दूसरे को प्रिय वचन कहे
अन्त में कहा प्रभु ने कि 'दिव्य यह गिरिप्रदेश,
पर, करनी है आगे की अब यात्रा विशेष
दण्डकारण्य की ओर हमें अब जाना है
वचनानुसार अपना कर्तव्य निभाना है
प्रिय चित्रकूट में हमें सभी पहचान गए
ऋषि-मुनि ही नहीं, विपिनवासी भी जान गए
सबके प्रति मुझमें श्रद्धा, प्रेम और आदर
बहते ही रहे यहाँ सुख-भरे स्नेह-निर्झर !
रहते-रहते हो जाता सबको स्थान-मोह
होता है दुखद, प्रीति के कारण ही बिछोह
पर, हम तो तापस पथिक, प्रात ही चल देंगे,—
अपनी प्रिय पर्णकुटी से देवि ! विदा लेंगे
तेरी सुन्दर वाटिका यहीं रह जाएगी
तरु-लतिका तेरे बिना कभी अकुलाएगी
पाकर न तुझे, अकुला सकते हैं मृग-मयूर
उड़ कर आ सकते हैं कपोत भी दूर-दूर !'

लेकर मुनि-जन से विदा, बढ़े तीनों पथ पर
नयनों में दृश्यों के झांके सुन्दर-सुन्दर
सतरंगी विहग-पंक्तियों की चंचल उड़ान
इस ओर कभी, उस ओर कभी जा रहा ध्यान
दौड़ते हुए बारहसिंगे जा रहे उधर
वह हरिण-झुण्ड आ रहा इधर—आ रहा इधर

उस एक वृक्ष पर केवल सुग्गे ही सुग्गे—
कुछ तो पीले, कुछ लाल और कुछ हरे-हरे !
आए सब अत्रि महामुनि के आश्रम में जब,
सुन राम-आगमन, रहे न वे कुटिया में अब,—
निकले बाहर, आए आगे, बढ़ चले चरण
मिल गया देखने ही दोनों का अन्तर्मन
स्नेहालिंगन, सत्कार और फिर प्रभु-पूजन
सानन्द प्रार्थना-बेला में नयनों में घन
आह्लादित अन्तर में अदृश्य की दृश्य-मूर्त्ति
दिव्यास्था से होती अतृप्ति की तृप्ति-पूर्त्ति !
रस-मग्न अत्रि की चितवन में चन्द्रमा-कान्ति
आत्मिक आनन्द-ज्वार पर अमृत-प्रसन्न शान्ति
जैसी मन की भावना, प्राप्ति भी वैसी ही
जैसी उनकी इच्छा वैसी ही इनकी भी !
मुनि-मन-पट पर उद्भासित विष्णु-स्वरूप रुचिर
निर्गुण-नयनों में सगुण-प्रकाश आज ही स्थिर
साक्षात् विष्णु-लक्ष्मी श्रीराम-जानकी-छवि
दशरथनन्दन केवल न श्रेष्ठ रघुकुल के रवि !
उस महामनस्वी मुनि ने सबकुछ जान लिया
उनकी आँखों ने उन्हें तुरत पहचान लिया
अर्पित चरणों पर भक्ति-भाव के फूल सभी
मिलता है जनम-जनम पर दर्शन-योग कभी !
"निष्काम राम, तुमको प्रणाम, तुमको प्रणाम
अभिराम श्याम ! तुमको प्रणाम, तुमको प्रणाम
हे ज्योति-सिन्धु ! तुमको प्रणाम, तुमको प्रणाम
हे सूर्य-इन्दु ! तुमको प्रणाम, तुमको प्रणाम
तुमको प्रणाम, तुमको प्रणाम, तुमको प्रणाम,—
हे मर्यादा पुरुषोत्तम, हे अवतरित राम !
अवलोकित ऋषि-मुनि सगुण लोक-लीला ललाम
हे त्रिगुणातीत पुनीत सच्चिदानन्द राम !
हे असुर-विनाशक, सुर-नर-मुनि के उद्धारक,
हे अशुभ शक्ति के संहारक प्रभु शुभकारक !

हो सफल तुम्हारी जय-यात्रा हे जगनायक,
सब विधि हो यह वनवास विश्व-हित सुखदायक
हे महामहिम! असुरों का अब उत्पात असह
दक्षिण दिशि में तो नित्य दानवी दुख दुस्सह
बस, कहीं-कहीं ही इधर नम्र मानव-निवास
हर रहा असुर द्रुत गति से अब सुर का प्रकाश!
असहाय मनुज का रक्त पी रहा है दानव
मानव को खाकर आज जी रहा है दानव
मोटे-मोटे राक्षस के सिर में स्वर्ण-शृंग
असुरों का कामी मन ही चंचल कनक-मृग!
हीरे-मोती-चांदी के उनके दांत सभी
तामसी शक्ति पाकर न उन्हें सन्तोष कभी
उठ रही लोभ की लहर, उठ रही कोप-लपट
मोहान्धकार में लीन असुर में कनक-कपट!
नित नारी का अपहरण नित्य ही कल-बल-छल
निर्भीक विचरता है नर-भक्षी निशिचर-दल
धर विविध रूप, उत्पात मचाता नित राक्षस
उसकी आंखों में मात्र रात ही, नहीं दिवस!
शोणित-मदिरा पी-पीकर उसका फूला तन
हिंसा करते-करते उसका गर्वीला मन
बस, अहंकार ही अहंकार है राक्षस में
उसका तन-मन भी नहीं रहा उसके वश में!
कृषि-कर्म न करता असुर, लूटता वह पशु-धन
तृष्णा ही उसकी तृप्ति, भोग उसका साधन
भौतिक विलास ही असुर-लक्ष्य, कुछ नहीं और
तम-भ्रान्त निरंकुश इच्छा करती भागदौड़!
सुनता हूँ, सागर के उस पार कनक-नगरी
उठती है वहां निरन्तर मदिरा की लहरी
दानव की अतुलित शक्ति-केन्द्र है वहीं एक
है वहां बुद्धि ही प्रखर, नहीं जीवित विवेक
हे राम! आपकी यात्रा होगी व्यर्थ नहीं
प्रभु-चरणों से होगी पवित्र, सन्त्रस्त मही

लेता है असुर-रूप में जन्म क्रूर नर ही
पापी मानव बनता पृथ्वी पर निशिचर ही !
जो जितना रक्त चूसता, वह उतना दानव
शोषण करने वाले को कौन कहे मानव ?
धन-संचय ही आजीवन जिसका लक्ष्य एक,
उसके प्राणों से बनते हैं राक्षस अनेक !
जो बहुत अधिक लेकर बैठा, वह मनुज असुर
निष्क्रिय भोगी जो तिन ऐंठा, वह मनुज असुर
जो जितना अनुचित करता, वह उतना पापी
जीवित राक्षस ने ही सोना-चाँदी चाँपी !
यन्त्रों के बल पर करता जो षड्यन्त्र सदा —
क्या वह भी मानव कहलाने के योग्य भला ?
हे राम ! यहाँ नर कहे असुर की करुण-कथा
उत्तम जन-मन में व्याप्त युगों से घोर व्यथा
समदर्शी भाव विलुप्त, व्यक्तिगत वित्त-होड़
है पकड़ रही हर ओर असुरता आज जोर
पूछता कौन किसको ? इस ओर सभी चिन्तित
ऋषि-मुनि आलोक-प्रतीक्षित, सज्जन जन विचलित
असुरों के चंगुल में विद्या-विज्ञान-कला
यत्न-कानन में शुभ्र चेतना भी अबला
सच बात सुनाने से जिह्वा काटी जाती
कंचन-प्रधान भूतल पर आत्मा अकुलाती !
आसुरी सभ्यता गरज रही है राम ! आज
सोने की बिजली लरज रही है राम ! आज
मदिरा की काली घटा उमड़ती इधर-उधर
होता अधर्म-आभास, दौड़ती दृष्टि जिधर
दानव भी करते यज्ञ दानवी सिद्धि-हेतु
चाहते बनाना अब वे नूतन स्वर्ग-सेतु
पीते हैं खून किन्तु करते वे भी पूजन,—
सुनते हैं वे भी तंत्र-मंत्र का उच्चारण
कहते हैं कुछ, करते हैं कुछ, सुनते हैं कुछ,
तोड़ते यहाँ कुछ किन्तु यहाँ चुनते हैं कुछ

टेढीमेढी होती है चाल निशाचर की
बाहर की बात न बनी, जैसी भीतर की !
हे राम ! हमें भी वेदविदों का तनिक ज्ञान
सम्पूर्ण सृष्टि में ज्योति और तम का वितान
है ज्ञात वृत्र की शक्ति इन्द्र की क्षमता भी,—
दिति-अदिति-शक्तियों की समभेद-सुगमता भी
हम भी समुद्र-मंथन का अर्थ समझ लेते
भू-अन्तरिक्ष-ब्रह्माण्ड हमें भी द्युति देते
देवासुर की संग्राम-चलना हमें ज्ञात
हम जान रहे कि सूर्य-गति से ही दिवस-रात
अवगत हैं अग्नि-रहस्य रुद्र का ताण्डव भी
सचित मानस में ब्रह्म-विष्णु का अनुभव भी
एक ही नियम से संचालित हैं निखिल सृष्टि
एक ही सत्य पर टिकी हुई विश्वास-दृष्टि
हे राम ! कार्य-कारण सब ही द्युति-योग नहीं
ब्रह्माण्ड स्वतः ही रचना का संयोग नहीं
प्रभु-इच्छा पर ही आधारित निस्सीम जगत
नित परम शक्ति की स्मृति में ऋषि-मुनि-मस्तक नत !
वसुधावासी हम, नभ की अधिक न बात करें,—
प्रभु के कानों में युग का करुणा-मंत्र भरें
आभासित चारों ओर समर की फिर अशान्ति
हे राम ! आपके दर्शन से मिट गई भ्रान्ति
कर रहे प्रतीक्षा दक्षिण में अब सुर-वानर
हैं बाट जोहते कब से उधर ऋक्ष-किन्नर
पशु-पक्षी में भी दिव्य शक्ति का समावेश
कालानुसार ही हैं हरि ! हरें असह्य क्लेश
करते हैं कपिदल नोक-झोंक दानव-दल से
तुलना करते अपने बल की उनके बल से
पर, राक्षस का पलड़ा भारी है बहुत राम,
वह आँख मूँद कर करता है अब घृणित काम
निर्भीक वानरों ने असुरों को छेड़ा है—
उन लोगों ने वन-पथ पर उनको घेरा है

पेड़ों पर चढ़ कर, चखा के मुँह पर थप्पड़
भागे हैं दुर्बल दनुज उधर खाकर ठोकर
दुर्भाग्य कि असुर-राज्य में उतने नर न अभी
पर, दीख पड़ेंगे वे भी पथ पर कभी-कभी
हड्डियाँ दिखाई देंगी उनकी,—मुनिगण की
आ जाती उन्हें देख कर याद मृत्यु-क्षण की।
प्रेतात्मा की आवाज सुनाई देगी ही
परमाणुमयी आकृतियाँ दीख पड़ेंगी ही
तैरेंगे आतुर प्राण प्रकाश-लहर पर भी
दौड़ेगी चेतन छाया विपिन-डगर पर भी।
हे राम! वानरों में अगणित नर भी हैं
असुरों में अधिक पतन-मदान्ध अमर भी हैं
पर, कहाँ दनुज विकराल, कहाँ वे निश्छल जन
राक्षस के पास अपरिमित माया के साधन
अपराध मनुज का ही कि दनुज इतना सशक्त
संघटन-साधना में मानव अब तक विरक्त
समुचित कर्मों के कारण ही नर-पतन हुआ
हिमगिरि पर भी तो असुरों का आक्रमण हुआ!
जब-जब स्वधर्म का पतन, दनुज-उत्थान तभी
जब-जब अधर्म की वृद्धि, व्याप्त अभिमान तभी
जब-जब मानव दुर्बल, दानव की शक्ति बढ़ी
कायरता के कारण कर्तव्य-विरक्ति बढ़ी
राक्षस-विनाश के लिए हुआ रामावतार
सुन ली हे प्रभु! आपने तपस्वी की पुकार
सर्वज्ञ पुरुष! दुर्दशा आपसे छिपी नहीं
अन्तर्दृग से जो आप जानते, वही सही!
हे देश-काल से परे विश्व-पूजित अनन्त!
भर दें अरण्य में आप मनुजता का वसन्त
हो प्राप्त विश्व को पुरुषोत्तम-लीला-प्रसाद
मिट जाए मन से घोर निराशा का विषाद
वन-तपसी-सा गृह-तपसी निष्क्रिय बने नहीं
आलस्य-वितान कभी प्राणों पर तने नहीं

उलझे विलासिता में न कभी उन्नत मानव
भौतिक समृद्धि के कारण नर न बने दानव
सतुलित भोगमय योग विश्व-आदर्श बने
सत्कर्म सदा ही सामाजिक उत्कर्ष बने
हे राम ! आपके चरणो में मन लगा रहे
चेतन मानव-जीवन हर स्थिति में जगा रहे !"

सुन अत्रि-वचन, श्री राम अधिक गभीर आज
असुरो की चर्चा सुन कर मन में पीर आज
छिप कर भी छिप न रहा उनका आलोकवदन
बिखराते अमृत-प्रशान्त प्रसन्न पद्मलोचन !
अनभिज्ञ नहीं, ऋषियो से दिव्य अलौकिकता
दृढ आस्था से ही दृष्टि-सुलभ आलोक-लता
निर्गुण का सगुण-स्वरूप आज अज्ञात नहीं
ज्योतित जल से विहीन जीवन-जलजात नहीं !
आत्मा के मन्दिर में ही तो परमात्म-झलक
बाहर-भीतर दोनो में उसकी चमक-दमक
विश्वास-सुधा पीकर ही होती चित्त-शुद्धि,—
सतुलित नही होती विवेक के बिना बुद्धि !
इस समय राम ही अत्रि-मग, लक्ष्मण न अभी
मिलता ऐसा एकान्त ज्योतिमय कभी कभी
निज पर्णकुटी में मुनि ने मन की कही बात
है भक्ति-भरी उज्ज्वल आँखो मे नही रात !
बोले प्रभु—'हे मुनिवर ! मैं तो दशरथनन्दन
चौदह वर्षो तक करना मुझे अरण्य-भ्रमण
असुरो से अपनी रक्षा तो करनी ही है
उसमे भी मेरे सग अनुज, वैदेही हैं !
देखें, प्रवास मे कितना क्या कर पाता हूँ
देखें, मैं जहाँ-जहाँ दक्षिण मे जाता हूँ
निर्धारित मेरे हित तो दण्डकवन ही है
वनवास-धर्म का सबल पितृवचन ही है !

तापस के धर्म-ध्येय पर आधृत धनुष-बाण
दूँगा प्रवास में कैसे मैं शक्तिम-प्रमाण !
पर, ऋषि-मुनि की रक्षा करना कर्त्तव्य परम
धर्मतः विश्व-सेवा ही तो उद्देश्य चरम
समुचित अवसर पर निश्चय ही कुछ सोचूँगा
खलने पर ही अपने खल को उत्तर दूँगा
दें आशीर्वाद यही कि धर्म-निर्वाह करूँ
अति संकट में ही धनु पर लक्षित तीर धरूँ !
कौशिक मुनि की आज्ञा से धनुष उठाया था,—
असुरों पर मैंने लोहित बाण चढ़ाया था
पर, जहाँ असुर ही असुर वहाँ हम दो भाई !
दानव-चर्चा सुनकर मन में चिन्ता छाई
मेरी वन्दना आपने की है मुनि महान !
उल्टी गंगा को देख, झुके हैं धर्म-प्राण
ऋषियों का सेवक राम स्वयं, हे महाराज !
सच कहता हूँ, शब्दों को सुनकर लगी लाज'

इस ओर राम का विनयशील सहृदय उत्तर,
मुनि-पत्नी अनुसूया उस ओर सहर्ष मुखर
कुटिया में उसने सीता का शृंगार किया,—
माता-समान ही वैदेही को प्यार किया !
पहनाया दिव्य वसन-आभूषण स्नेह-सहित
पुत्री-जैसी ही जनकनन्दिनी आज मुदित
उसके मृगलोचन की पलकें मुँद-मुँद जातीं
बचपन के प्यार-दुलारों की प्रिय सुधि आती !
अनुसूया आज सुनयना-सी रस में विभोर
माता की ममता फूट चली है सभी ओर
बिखरे केशों को ठीकठाक कर रही अभी
वह तैल-सिक्त सिर में सेन्दुर भर रही अभी !
ले आई भर कर तुरत कठौती में पानी
मुख देख रही जलदर्पण में अब वन-रानी

दृग मे आनन्द-अश्रु, अधरो पर टिकी हँसी
श्रृंगारमयी आकृति पलको के बीच बसी !
र्हाषित अनुसूया बोली—'राजकुमारी हे !
हे जनकदुलारी ! रामचन्द्र की प्यारी हे !
हे सीते ! तू तो पूजनीय अतुलित नारी
चाँदनी-समान कीर्ति की तेरी उजियारी !
नर के समान नारी भी एक समान नही
नारी-समता का मिलना ठोस प्रमाण नही
उत्तम नारी ही पति की सेवा करती है,—
सुख को सम्हालती है, गृह-दुख को हरती है !
उत्तम नारी की बोली भी उत्तम होती
अपनी मिठास मे वह मर्यादा को ढोती
चुप रहती है वह अधिक, बहुत बोलती नही
परनिन्दा की गठरी को वह खोलती नही
उत्तम नारी करती है उत्तम कर्म सदा
पालन करती वह सदाचार का धर्म सदा
लडती न किसीसे और न कभी झगडती है
उत्तम नारी ही आत्म-क्रोध से डरती है !
वह नही आलसी, वह न अधिक विश्राममयी
वह शील-सुशोभित सदा प्रसन्न, सदा विनयी -
प्रिय पतिव्रता गृह-तपस्विनी प्रतिपल उदार,
उत्तम नारी ही पाती पति से सदा प्यार !
ऐसी ही अर्द्धाङ्गिनी आत्म-सुख पाती है,—
मरने पर स्वर्ग-लोक मे पूजी जाती है !
उत्तम नारी ही गृह को स्वर्ग बना देती—
सत्कर्मो से निज सुज्जनता बिखरा देती !
सब विधि से धर्म बचा लेती उत्तम नारी
अपनी सुगन्ध फैला देती उत्तम नारी
उत्तम नारी से देश-प्रतिष्ठा बढती है
गौरव-गिरि पर संयमित सभ्यता चढती है !
होती है कुछ वाचाल अधिक, मध्यम नारी
वह अधिक सीचती है अपनी ही फुलवारी

होती वह मृदुभाषिणी चतुरता के कारण
अपने में लगा हुआ रहता है अपना मन।
सजती अपने को अधिक, काम भी करती है
बिजली सी कभी-कभी वह बहुत चिमकती है
करती व्यतीत वह अधिक समय गप करने में
उतनी वह निपुण न होती गृह-दुख हरने में।
पति में भी करती नोक-झोंक मध्यम नारी
कोनी बातें भूलती तुरत वह बेचारी
होती तुरन्त ठंढी, तुरन्त गरमाती है
वह तुरत तमतमाती, तुरन्त सकुचाती है।
आग भी लगाती है पर, उसे बुझाती है
हँसती है अधिक, अधिक आँसू गिराती है
रोती आँखों को देख, दया भी आती है
रगड़ा-झगड़ा करके भी गले लगाती है।
वह स्वयं अधिक खाती भी, खूब खिलाती भी
रोती ही केवल नहीं, महर्ष रंगाती भी
आगे ही रहती वह त्योहार मनाने में
पीछे न कभी वह सहानुभूति दिखाने में।
वह भेद बढ़ा कर स्वयं विभेद मिटाती है
बरसाती शब्द-पुष्प जब सम्मुख आती है
वह बहुत अधिक कोलाहल से घबराती है
यह तीर छोड़ कर कभी-कभी छिप जाती है।
कटुता पसन्द करती न अधिक मध्यम नारी
बनती सहिष्णु, आती है जब उसकी बारी
नीरस गृह-नाटक को वह सरस बनाती है
वह बार-बार मर कर भू पर ही आती है।
साधारण नारी सहनशील होती न कभी
बस, अभी तुरत मैत्री, तुरन्त शत्रुता अभी
उसकी बातें, इसके कानों तक पहुँचाती
चुपके-चुपके वह कपट-काव्य-रस बरसाती!
किंचित् दुख में भी बहुत जोर से चिल्लाती
छाती को पीट-पीट कर वह दुखड़ा गाती

अपनी कुरूपता आजीवन न समझ पाती
वह कांय-कांय करती आती—करती जाती !
कृत्रिम क्रन्दन-कोलाहल में लगता है मन
क्रोधावस्था में करती वह गर्जन-तर्जन
प्रतिकूल बात से तुरत फनफना उठती वह
अनुकूल लाभ से तुरत झनझना उठती वह !
पर-दुख से मन-ही-मन प्रसन्न होती रहती
पर-सुख की ईर्ष्या से आंखें रोती रहती
मिल-मिल कर स्वयं बिछुड़ती साधारण नारी
नित स्वतः टूट कर जुड़ती साधारण नारी
सेवा के बदले स्वार्थ-भाव उसके मन में
जो प्रेमहीन, माधुर्य न उसके जीवन में
जैसे-तैसे वह अपनी नैया खेती है—
पति को वह सुख से अधिक दुख ही देती है !
उसके कारण ही होती गृह की शान्ति भंग,—
उठती रहती है नित्य कुटिलता की तरंग
उसमें कुबुद्धि ही अधिक, सुबुद्धि नहीं उतनी
रहती है वह सर्वदा क्रोध से तनी-तनी
भूकती-भूकती शय्या पर सो जाती वह
अपने ओछे विचार में ही खो जाती वह
ऐसी नारी दानवी रूप धारण करती
उसकी दुश्चिन्ता भीतर ही भीतर सड़ती !
दुख ही दुख पहुँचाती है सदा अधम नारी
उसके कारण पतझर बन जाती, फुलवारी
उसके आते ही उथल-पुथल मच जाता है
उसका मन अपने तन से भी टकराता है
दिनरात लड़ाई-झगड़ा ही वह करती है
वह क्रूर सिंहिनी नहीं किसी से डरती है
वह शीलहीन, कर्कशा काग-सी टकती है
जाती है वह जिस जगह, वहीं कुछ बकती है
उसके डर से कांपा करती घर की धरती
उसके दर्शन करने से भी आंखें डरती

अवगुण ही अवगुण जिसमें, वही अधम नारी
साक्षात् राक्षसी त्रिया-रूप में बेचारी !
हँसती तो हिलने लगता है घर का छप्पर
रोती तो श्रोता का अन्तर करता थर-थर
वह आँधी-सी आती, झंझा-सी जाती है
सज्जनता ऐसी शोभा से घबराती है !
ऐसी उग्रा को नमस्कार सब करते हैं
ऐसी देवी से ऋषि-मुनिगण भी डरते हैं
पंचम प्रकार की नारी अधमाधम होती
वह एक साथ मुसकाती, हँसती औ' रोती
वह जहाँ-जहाँ जाती है, आग लगाती है,—
अनुपम लीला से विष की लहर उठाती है
अपनी इच्छा से नरक लिए वह आती है
सबको दुख देने में ही वह सुख पाती है !
ऐसी विकराल वधू से पति सकुचाता है—
वह जीवन भर अकुलाता है, पछताता है
ऐसी नारी सौ बार राक्षसी बनती है,—
सौ बार सर्प-बिच्छू-सी यहाँ जनमती है !
सीते ! तू सर्वोत्तम नारी सब विधि सुन्दर
तू पति-विपत्ति में साथ-साथ ज्यों सिन्धु-लहर
दृष्टान्त अनूठ तू अपनी धर्म-परीक्षा का
तू अमिट ज्योति-आदर्श विश्व-हित शिक्षा का
हे देवि ! तुझे जाना है अब भीषण वन में
नारी-स्वभाव की कथा याद रखना मन में
यात्रा में विविध नारियाँ तुझे मिलेंगी ही
मिलने वाली आँखें तुझको कुछ देंगी ही !
नारी-वर्णन सुन, तीन बार तू मुसकाई
तेरी पावन निश्छलता स्वयं छलक आई
वधु सत्य-कथन में कोई भी अत्युक्ति नहीं
अपशब्दों में मेरी किंचित् अनुरक्ति नहीं
तात्पर्य कथन का यही कि दृष्टि सतर्क रहे
तेरी मुग्धांगना वचनों का भी कष्ट सहे

नारी ही नारी को सदैव अपनाती है
अच्छी नारी अच्छी ही दान बनाती है
दुर्गुण अनेक रहने पर भी नारी सहृदय
सहृदयता के कारण ही उनमें स्नेह-विनय
पाषाणों पर भी हरित दूब उग आती है
सत्संग-प्रभा सात्विक किरण बिखराती है
हो जाती उग्र नारी कभी परिस्थितिवश
गृहकलह-कष्ट में भी भूलना हृदय का रस
सद्नारी जब वाणी का बाण चलाती है,
उसकी गुण-गरिमा स्वयं मलिन हो जाती है।
सुन्दर गुण, उज्ज्वल चरित्र, कीर्तिमय आभूषण
श्रीहीन नहीं गुणवती नारियों का जीवन
अपनी महानता के कारण पूजित नारी
अपनी सुगन्ध से ही होती सुरभित नारी।
नर से नारी का, नारी से नर का महत्त्व
है भिन्न नहीं दोनों का मिश्रित प्रेम-तत्त्व।
नारी में सुता-वधू-माता—तीनों स्वरूप
गतिशील नारियाँ नहीं कभी भी अन्ध कूप
हे राम-रमा! हे भू-सुता! हे दिव्य कान्ति
तेरे दर्शन से अनुसूया को मिली शान्ति
अध्यात्म पद्मिनी! बारम्बार प्रणाम तुझे
वनवास-काल में हृदय-पुष्प दें राम तुझे
तेरी अनुपम शोभा से विश्व विभासित हो
तेरे चरित्र से नारी-जगत सुवासित हो
हे महाशक्ति! तुझसे विनष्ट हो तम-माया
प्रेरणा प्रदान करे जग को तेरी छाया!'

सुन तपस्विनी अनुसूया का संकेत-वचन,
मर्यादा से बाहर न हुआ सीता का मन
इतना ही कहा कि 'हे माँ! तेरा नग्न स्नेह
कुछ बातों को सुन, देह हुई तत्क्षण विदेह!'

उस ओर अत्रि की भक्ति देखकर राम मुदित
सुन कर असुरों की चर्चाएँ, वे हुए चकित
श्रद्धा से सबको कर प्रणाम, चल पड़े सभी
मैथिली राम-लक्ष्मण के बीच प्रसन्न अभी
दुर्गम वन-पर्वत-घाटी को कर पार-पार
इच्छित पड़ाव पर रुक-रुक कर प्रभु बार-बार,—
आगे बढ़ते ही गए दृश्य को देख-देख
सीता निहारती रही राम की चरण-रेख!
चलते-चलते बीहड़ दण्डकवन में प्रवेश
अब जहाँ-तहाँ ऋषि-दशा देख कर आत्म-क्लेश
मुनियों के आश्रम-अतिथि बने तीनों प्राणी
सुन कर प्रमुदित श्रीराम, तपस्वी की वाणी
अब और भयानक जगल, और भयानक पथ
सिंहों के गर्जन से वनवासी का स्वागत
गज का भीषण चिग्घार, व्याघ्र-हुंकार कभी
निर्जन अरण्य मे झंझा बारम्बार कभी।
सरसरा रहे हैं रंग-बिरंगे सर्प उधर
सोए हैं भीमकाय अजगर निश्चिन्त इधर
जा रहा उधर दौड़ता हुआ वाराह झुण्ड
बिखरे हैं जहाँ-तहाँ भूतल पर मनुज-मुण्ड!
भय से सीता राम के बदन मे सट जाती,—
अनुकूल दृश्य को देख पुन कुछ हट जाती
उठती-गिरती लहरों-सी कोमल मन की गति
जैसी सीता, वैसी ही उसकी कोमल मति!
आरण्यक अन्धकार मे सहसा कोलाहल
दौड़ती हुई क्रोधित आँधी-सी नव हलचल
काँपते हुए पेड़ों की टूट रही डाली
देखने-देखते छाई अतिशय अँधियाली।
पर्वताकार राक्षस सम्मुख हो गया खड़ा
बादल-सा विद्युत-धार बिखरा कर वह गरजा
भयभीत जानकी काँपी पत्तों के समान
यह देख, राम ने लिया हाथ मे धनुष-बाण

पूछा राक्षस ने लक्ष्मण से—'रे ऋषिकुमार!
निष्फल हो जाएगा निश्चय ही शर-प्रहार
ये दोनो तेरे कौन ? कहाँ से आया तू ?
इस रमणी को इस वन मे कैसे लाया तू ?
मैं हूँ विराध राक्षस, तुम सबको खा लूँगा,—
दो ही क्षण मे यमपुरी तुम्हें पहुँचा दूँगा।'
—इतना कह कर वह क्रूर असुर लपका तत्क्षण
बोले भ्राता से साहसपूर्वक प्रिय लक्ष्मण
'हे वीर बन्धु! छोडिए वाण—छोडिए वाण
दीजिए असुर को तुरत वीरता का प्रमाण
यह दुष्ट अकारण ही हम सबको छेड रहा—
अपनी माया से हमे अकारण घेर रहा।'
फैलाया अब विराध ने अपना हाथ एक
वह एक हाथ हो गया अचानक अब अनेक
दो-तीन वृक्ष को उसने तुरत उखाड लिया
राम ने असुर-इच्छा को सत्वर ताड लिया
बस, एक वाण से ही उडने लग गए प्राण
गूँजा उसकी चिल्लाहट से अब आसमान
बोला विराध—'हे देव! पाप-परिणाम मिला
मेरे जघन्य जीवन को आज विराम मिला!
मानव था पहले मैं, परन्तु था क्रूर कृपण
करता था अनुचित विधि से सचय केवल धन
लूटता रहा जनगण को शत व्यापारो से
ठगता था सबको मैं मिथ्या उद्गारो से
कुछ सामाजिक नेताओ से थी साँठगाँठ
हम सभी असुर बन गए भूमि पर साथ-साथ
नेताओ ने मुझसे भी अधिक कुकर्म किया,—
निज लाभ-लोभ के कारण सदा अधर्म किया।
धोखा ही धोखा दिया उन्होने शासन को,—
छल-बल से प्राप्त किया मदमय पद-आसन को
रच कर सुरत्व का स्वाँग, असुरता फैलाई
अत्याचारो के कारण दुख-बदली छाई।

निर्धन बन गए और निर्जन, कुछ ही दिन मे
धनवानो को बस, धन ही धन, कुछ ही दिन मे
छा गया एक दिन ऊँच-नीच का भेद-भाव
धनहीन और धनवानो का फैला दुराव
हे देव ! स्वार्थ का फैल गया जब जटिल जाल,
अतिशय अधर्म से झुका धर्म का न्याय-भाल
नर-दानव ने ही किया विषमता का प्रचार
हो गई शिथिल नैतिकता की सास्कृतिक धार !
दोषी ने दुर्गुण को ही सद्गुण मान लिया
झूठ को सत्य कह कर सबने सम्मान किया
बगुले बढते ही गए हस घट गए हाय,
अत्यन्त कष्टकर उनके घडियाली उपाय
विद्या कलकिनी हुई, बुद्धि भी हुई मलिन
देखते-देखते व्याप्त धरातल पर दुर्दिन
पडित मूरख बन गया और मूरख पडित
सब विधि से होने लगे निरपराधी दण्डित !
बनते है पाप तिमिर से ही आसुरी प्राण
पापो के कारण हो जाता है मलिन ज्ञान
शोषण के कारण होता सदा विवेक-पतन
हैं साक्षी अत्याचारो के, अनगिन निर्धन !
आखेट खेलते धनी सदा निर्धनता का,—
शोषक पीता है स्वर्ण-रक्त नित जनता का
ऐसे धनवान बहुत ही कम जो दयावान
ऐसे कितने जन जो कि करें सम-सुख प्रदान ?
हे देव ! तुम्हारे शर से मेरी मृत्यु निकट
दण्डकारण्य मे रहते राक्षस विकट-विकट
अनगिन दनुजो मे मनुजो-सी मोहक माया
क्षण मे प्रकाश, क्षण मे छितरा जाती छाया !
लगता कि शरो मे नही, शक्ति तुममे ही है
प्रभु ! ज्योति-स्वरूप तुम्हारा, मात्र न देही है !
मेरे इस मरणशील मन मे नव परिवर्तन
है अभी असुर ही पर, मुझमे चिन्मय चिन्तन

मारोगे सारे राक्षस को हे राम ! तुम्ही
जो नही किसी ने किया, करोगे काम तुम्ही
मुनियो ने अन्तिम घडी राम का नाम लिया
उनकी पुकार पर ही तुमने अभियान किया ?
पर, राक्षस बडे चतुर, चचल, तम-शक्ति-सबल
असुरो मे सबसे अधिक आज वैज्ञानिक बल
वे सुरा, सुन्दरी और स्वर्ण के अतुल धनी
उनकी माया की छटा मेघ-सी घनी-घनी
स्थल मे भी वे, जल मे भी वे, नभ मे भी वे
हे राम ! आज तो वे ही वे—हैं वे ही वे !
वे यन्त्र तन्त्र, भौतिक मन्त्रो के अधिकारी
उनके अधीन सागर, पर्वत, जगल-झाडी
वे जल को अनल, अनल को सलिल बना सकते
वे अम्बर से भी आयुध को बरसा सकते
वे करते रहते कभी-कभी विस्फोट घोर
उनके अन्तर्गत विश्व-समर-साधन अछोर
उनके प्रधान सेनापति उनका अहकार
सुनता है अन्तरिक्ष भी अब उनकी पुकार
ग्रह-नक्षत्रों पर भी उनका एकाधिकार
उनकी हलचल से हिलती धरती बार-बार
वे कभी सूक्ष्म, वे कभी स्थूल, वे बहुत विषम
देखकर उन्हे, हो सकता है मानव का भ्रम
हे राम ! सम्हल कर तुम्हे असुर से लडना है
वन मे सतर्क होकर ही तुम्हे विचरना है !
हैं काम-क्रोध औ' लोभ-मोह की सेनाएँ
हैं कपट-अस्त्र-शस्त्रो मे कर्म-कुटिलताएँ
वासनाचक्र का व्यूह बडा ही बुद्धि-जटिल
अत्यधिक भोग-भावना प्रमत्त कनक-पकिल
हे राम ! तुम्हारी यात्रा केवल स्थल नही
सात्विक विचरण वैदिकता के प्रतिकूल नही
है तथ्यपूर्ण ऊपर से अब नीचे आना
सुर-असुर-रहस्यो को ऋषियो ने ही जाना